तन्त्र-विमर्श

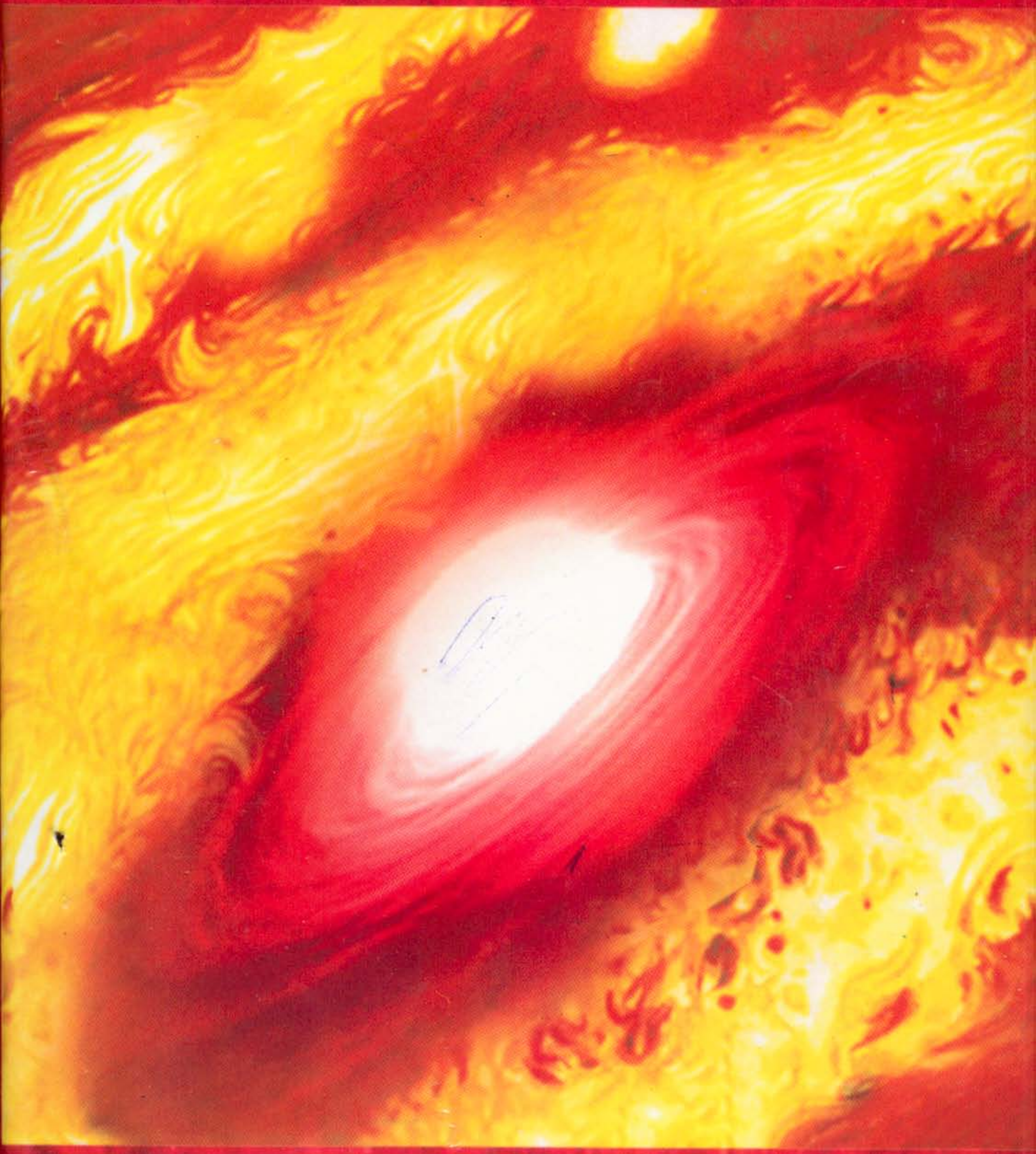

सूर्यप्रकाश व्यास

प्रति.

श्रद्धेय पं० ब्रजवल्लभ द्विवेदी

स्तु. प्र. व्यास
25.11.2005

आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी ग्रन्थमाला : पुष्प - १३

तन्त्र-विमर्श

(प्रथम खण्ड)

सम्पादन
डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास
अध्यक्ष
जैन-बौद्ध दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सहसम्पादन

•

डॉ. अनामिका सिंह
रिसर्च फ़ैलो
भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली

•

डॉ. विनीता पाण्डेय
व्याख्याता-संस्कृत
वाराणसी गर्ल्स डिग्री कॉलेज
सिकरौल, वाराणसी

प्रकाशक
आर्यभाषा संस्थान, वाराणसी

तन्त्र-विमर्श (प्रथम खण्ड)
TANTRA VIMARSH (First Part)

संस्करण प्रथम : 2005

प्रकाशक
आर्यभाषा संस्थान
बी २/१४३ ए, भदैनी
वाराणसी– २२१ ००१

ISBN : 81-87978-17-1

©
इस ग्रन्थ के सर्वाधिकार
सम्पादक के अधीन हैं।

मूल्य : 400.00 रुपये

कम्पोज़िंग :
आयुशी कम्प्यूटर्स, वाराणसी

मुद्रक :
महावीर प्रेस, वाराणसी

सम्पादकीय

गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

भारतीय साहित्य, संस्कृति और जीवन को गहराई से प्रभावित करने वाली एक सशक्त विचारधारा तन्त्र/आगम की रही है। एक मत ऐसा भी है जो इसे वेद के समानान्तर ही नहीं, पूर्ववर्तिनी मानता है। यह विचारधारा पूर्ववर्तिनी हो, समानान्तर हो, परवर्तिनी हो अथवा वैदिक विचारधारा से भिन्न या अभिन्न हो किन्तु व्यापकता और प्रभाव की दृष्टि से इसका महत्त्व वेद की अपेक्षा कम नहीं है। इसके साथ ही यह भी कटु सत्य है कि इस शास्त्र की हर दृष्टि से उपेक्षा भी पर्याप्त हुई है। उच्च शिक्षा-संस्थानों में इसके शिक्षण-अनुसन्धान को अपेक्षित स्थान और अवसर नहीं मिला है। विदेशों में इस विद्या के प्रति गहन आकर्षण रहा है जिसके प्रमाण हैं वहाँ के प्रकाशन और जिज्ञासु शोधार्थियों का भारत-प्रवास।

तन्त्रशास्त्र के अध्ययन-अनुसन्धान व प्रचार-प्रसार में शिथिलता या उदासीनता के कुछ आन्तरिक कारण भी हैं जैसे इसको रहस्यशास्त्र मानना, व्याख्यान-अध्ययन-अनुसन्धान का नहीं, केवल साधना का विषय मानना, अदीक्षित के समक्ष इसके मर्म का उद्घाटन न करना आदि।

ऐसे ही कारणों का लाभ उठाकर तथाकथित तान्त्रिक, समाज में भ्रान्तियाँ फैलाने में सफल होते रहे हैं। बाज़ारों-गलियों, गांवों-चौबारों, अप्रमाणिक मठों-आश्रमों-मन्दिरों में तन्त्र के नाम पर जो प्रवञ्चना, शोषण और भ्रम फैलाया जाता है उसका वास्तविक और शास्त्रीय तन्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। तब यह जिज्ञासा होती है कि वास्तविक तन्त्र क्या है? उसका स्वरूप और प्रयोजन क्या है तथा आज भी वित्त और विज्ञान के परिवेश में यह किस प्रकार उपयोगी और प्रासङ्गिक है? यही नहीं, आगे की गम्भीर समस्या यह भी है कि इस वास्तविक तन्त्र को कैसे समाज के साधारण जन तक सफलतापूर्वक पहुँचाया जाए और कैसे यह लोकहित के लक्ष्य को हासिल करे?

तन्त्र एक है किन्तु इसके सम्प्रदाय, शास्त्रीय विधि-विधान तथा मान्यताएँ विविध और अनेक हैं। उनमें भी परस्पर संवाद और सामञ्जस्य एक कठिन और गम्भीर चुनौती है। थोड़ा विस्तार में जाकर देखें तो न केवल शैव-शाक्त अपितु वैष्णव, बौद्ध, जैन आदि के अपने तन्त्र-सम्प्रदाय हैं और उनके अवान्तर भेद भी हैं। इन सबमें एकता का निर्विवाद सूत्र खोजना दुर्लभ नहीं तो अति कठिन अवश्य है।

एक अन्य विचारणीय पक्ष भी है। आज तन्त्र के अनेक प्रामाणिक और गम्भीर साधक अपने उटजों अथवा साधना-स्थलों में एकान्त साधनारत हैं, उनकी समाज से विमुखता आध्यात्मिक दृष्टि से उचित होते हुए भी सामाजिक दृष्टि से कल्याणकारिणी नहीं है। दूसरी ओर उच्च शिक्षा-संस्थानों के अधिकारी, शिक्षक, अनुसन्धाता और लेखक अपने ही बनाए हुए प्रभा-मण्डल में सन्तुष्ट हैं। इनके पास ज्ञान है किन्तु कुटीरों में बैठे साधकों की साधना का बल नहीं। ऐसी स्थिति में स्वयं तन्त्र और समाज के कल्याण की दृष्टि से यह आवश्यक है कि तन्त्र के विविध सम्प्रदायों के आचार्य एक मञ्च पर आकर आपस में लोकहितार्थ संवाद स्थापित करें तथा दूसरी ओर ज्ञान-प्रधान ये आचार्य गूढ़ और व्यावहारिक विषयों पर साधकों से संवाद स्थापित करें। निश्चय ही इसके लिए सभी पक्षों को अपनी-अपनी देहरी से बाहर निकलना होगा। **आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी भारतीयविद्यापीठ** ने अपने सहयोगी संस्थानों के साथ मिलकर इसी आवश्यकता की पूर्ति का विनयपूर्वक प्रारम्भिक प्रयास किया।

पीठ

श्रद्धेय गुरुप्रवर **आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी** (१५ जून, १९३५-२७ सितम्बर, १९९३) की पावन स्मृति में २० अक्टूबर, १९९६ को एक संस्थान की स्थापना की गई। इसका नाम **आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी भारतीय विद्यापीठ** रखा गया। **आचार्य द्विवेदी** के व्यक्तित्व, विद्याक्षेत्र, रुचि, स्वप्न आदि की पृष्ठभूमि में विद्वत्सम्मान, स्मृतिव्याख्यानमाला, तन्त्रगोष्ठी, कवि-गोष्ठी, प्रतियोगिताएँ, ग्रन्थ-प्रकाशन आदि विविध गतिविधियों को प्रारम्भ किया गया। कविगोष्ठियों और प्रतियोगिताओं का क्रम कुछ डग आगे बढ़कर रुक गया। प्रगुरु **म.म. पं. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते** के भव्य अभिनन्दन-कार्यक्रम **प्रणति** का आयोजन १४ मई, १९९८ को **प्रो. वि. वेंकटाचलम्** और **प्रो. मण्डन मिश्र** के सान्निध्य में सम्पन्न हुआ। **प्रो. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, प्रो. विद्यानिवास मिश्र और आचार्य दत्तात्रेयानन्दनाथ, कविराज** ने जयपुर में स्मृति-व्याख्यान दिये। स्मृति-ग्रन्थमाला के अन्तर्गत अद्यावधि १२ पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है। दिनाङ्क २ नवम्बर, १९९६ से २२ जनवरी, २००१ तक लगभग ३० तन्त्र-गोष्ठियों का आयोजन सम्भव हो सका है। इस प्रकार शनैः शनैः और मन्द मन्द ही सही किन्तु आधुनिक संस्कृत-जगत् की एक लोकप्रिय विभूति की स्मृति को चिरस्थाई बनाए रखने के लिए एक श्रद्धा-दीप प्रज्वलित है।

काशी में तन्त्र

शिव-नगरी काशी विद्या की राजधानी कही जाती है। यह अन्य विद्याओं के साथ तन्त्र का भी प्रधान केन्द्र रही है। इस भैरव भूमि में शिव-शक्ति के नानारूपों

के अनेक मन्दिर और साधना-स्थल हैं। तन्त्र के अनेक आचार्य, सिद्ध, साधक और ग्रन्थकार हुए हैं। **म.म. पं. गोपीनाथ कविराज** ने अपने ग्रन्थ **काशी की सारस्वत परम्परा** में बारहवीं से अठारहवीं शती तक के इतिहास को समेटा है और **पं. बलदेव उपाध्याय** ने **काशी की पाण्डित्य-परम्परा** में १८वीं शती के बाद का विवरण संग्रहीत किया है। वर्तमान शती के प्रधान तन्त्राचार्यों का पुण्यस्मरण करने पर अनेक नाम स्मृति में उभरते हैं- **पं. गोपीनाथ कविराज, स्वामी करपात्री जी, पं. रामेश्वर झा, पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, ठाकुर जयदेव सिंह, पं. ताराचरण साहित्याचार्य, पं. विभूतिभूषण भट्टाचार्य** (न्यायाचार्य), **पं. नारायण शास्त्री खिस्ते, पं. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते, पं. कमला प्रसाद स्मृति भूषण** (कौलिक आचार में परिनिष्ठित) **पं. कालिका प्रसाद अवधूत** आदि।

वर्तमान में **काशी हिन्दू विश्वविद्यालय** का धर्मागम विभाग शैव तन्त्र पर राष्ट्रिय-अन्ताराष्ट्रिय गोष्ठियों, विशिष्ट व्याख्यानों और स्वाध्याय-सत्रों के आयोजन में संलग्न है। इसी विश्वविद्यालय का भारत कला-भवन तान्त्रिक चित्रों, मूर्तियों व प्रतीकों की प्रदर्शनी आयोजित कर इस शास्त्र को दृश्य बनाने में अपना ऐतिहासिक योगदान करता रहा है। **म.म. पण्डित गोपीनाथ कविराज स्मृतिव्याख्यानमाला** का आयोजन भी इस विश्वविद्यालय की प्रशस्त और गम्भीर गतिविधि है। इसी प्रकार **सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय** में भी आगम-तन्त्र का स्वतन्त्र विभाग शिक्षण, अनुसन्धान, व्याख्यान आदि में अपने ढंग से सक्रिय है तथा इस विश्वविद्यालय का प्रकाशन विभाग तो तन्त्र-ग्रन्थों के प्रकाशन में अपना स्वर्णिम स्थान बनाए हुए है।

जंगमबाड़ी मठ शिवरात्रि पर आयोजित होने वाले नियमित और व्यापक कार्यक्रमों और प्रकाशनों के माध्यम से अपना अमूल्य योगदान करने में तत्पर हैं। **केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षण संस्थान,** सारनाथ भी यथावसर अपने कार्यक्रमों में तन्त्र-परिचर्चा को महत्त्व देता रहा है। इसी क्रम में **ज्ञानप्रवाह** नामक नवोदित सांस्कृतिक व शैक्षिक संस्थान का उल्लेख अपरिहार्य है जो अन्य बहुविध कार्यक्रमों के साथ तन्त्र-चर्चा को भी एक आयाम बनाने के लिए संकल्पबद्ध है।

उपर्युक्त संस्थाओं और उनकी विविध व प्रशस्त गतिविधियों के फलस्वरूप काशी में तन्त्र एक जीवन्त शास्त्र के रूप प्रतिष्ठित हुआ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि देश के अन्यान्य क्षेत्रों में भी तन्त्र के आचार्य और साधक विद्यमान हैं और वहाँ भी इस शास्त्र से सम्बद्ध कार्यक्रम होते हैं किन्तु इस न्यारी काशी की बात ही कुछ और है। यहाँ न केवल तन्त्र की विविध शाखाओं के सिद्ध-साधक-आचार्य-लेखकों की प्रशस्त परम्परा विद्यमान रही है और उनकी एकत्र सुलभता रही है अपितु अन्य सभी शास्त्रों के आचार्यों की उपस्थिति से तन्त्र-चिन्तन

में व्यापकता और प्राणवत्ता के सञ्चार का भी अपना इतिहास रहा है। इन संस्थाओं के तन्त्र-विषयक आयोजनों की ऐतिहासिक महत्ता और विशेषता है किन्तु साथ ही इनकी अपनी सीमाएँ भी हैं।

इस पृष्ठभूमि में **पीठ** ने अपनी दृष्टि से तन्त्र-गोष्ठियों के आयोजन का एक स्वरूप तय किया। निश्चय किया गया कि प्रधानरूप से तन्त्र पर केन्द्रित ये गोष्ठियाँ यथासंभव प्रतिमास हों, विभिन्न स्थानों पर हों, औपचारिकताओं से मुक्त हों, सभी तान्त्रिक सम्प्रदायों के सिद्ध-साधक, आचार्य-लेखक और अनुयायी एक मञ्च पर आकर परस्पर संवाद स्थापित करें, वक्ता को अपने विचार और अनुभव रखने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो, प्रश्नोत्तर, शङ्का-समाधान, टिप्पणियों आदि के लिए समुचित समय सुलभ हो, व्याख्यान यथासम्भव ग्रन्थ-आधारित हों ताकि वक्तव्यों की प्रामाणिकता बनी रहे, तर्क-प्रमाण-अनुभव-साधना से ग्रन्थ-वचन की पुष्टि हो और अन्य शास्त्रों से तन्त्र के सम्बन्ध को यथावसर चर्चा में लाने का प्रयत्न हो। इस संवाद को मुख्यतः विशेषज्ञों के मध्य सीमित रखने की नीति अपनाई गई किन्तु सामान्य श्रोताओं की जिज्ञासाओं का समाधान भी परमावश्यक माना गया क्योंकि इन गोष्ठियों का एक प्रयोजन समाज में विद्यमान भ्रान्तियों का निवारण भी है। इन सबके साथ एक शिवसङ्कल्प यह रहा कि इन परिचर्चाओं को पुस्तकरूप में प्रकाशित कराया जाए। इसी संकल्प की पूर्ति का साकाररूप यह पुस्तक है।

तन्त्र-विमर्श

तन्त्र-विमर्श के इस प्रथम खण्ड में व्याख्यानों को २७ आह्निकों के रूप में संकलित एवं सम्पादित कर प्रस्तुत किया जा रहा है। द्वितीय खण्ड का कार्य भी प्रगति पर है।

दो अपवादों को छोड़कर इस पुस्तक के सभी आह्निक व्याख्यानों पर आधारित हैं। **पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी** के सौजन्य से जम्मू-निवासी काश्मीर शैवागम के प्रख्यात **आचार्य पं. बलजिन्नाथ** का **तन्त्रालोक** पर परिचयात्मक लेख प्राप्त हुआ था जिसे उपयोगी मानकर प्रसङ्गानुसार प्रकाशित किया गया है।

सत्ताइसवाँ आह्निक **पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती** से संवाद के रूप में जोड़ा गया है। पुस्तक के विषय, व्याख्यानों के विवरण और सामान्य जिज्ञासा को ध्यान में रखते हुए कुछ ऐसे प्रश्न उभर रहे थे जो पूर्व आह्निकों में नहीं आ सके थे तथा जिन पर विशेषज्ञ से सरल, संक्षिप्त और स्पष्ट उत्तर की अपेक्षा थी। इस कार्य के लिए **पं. चक्रवर्ती** उपयुक्त और सुलभ प्रतीत हुए। उनके उत्तर अन्य विशेषज्ञों की दृष्टि से विवादास्पद हो सकते हैं किन्तु फिर भी इस बात का सन्तोष है कि कुछ प्रासङ्गिक प्रश्नों के प्रति एक साधक, विद्वान् और शिक्षक के अनुभवों को यहाँ प्रस्तुत करने का अवसर प्राप्त हुआ।

*पुस्तक के अन्तिम भाग में तीन परिशिष्ट दिये गए हैं। कतिपय व्याख्यान **तन्त्रालोक** पर आधारित हैं। इसलिए **आचार्य अभिनवगुप्त** के इस बृहद् ग्रन्थ के संस्करणों, अनुवादों एवम् अध्ययनों के विषय में प्राप्त सूचनाओं को **प्रथम परिशिष्ट** में संग्रहीत किया गया है। **द्वितीय परिशिष्ट** में गोष्ठियों के प्रधान व्याख्यानकर्ताओं का संक्षिप्त परिचय संकलित किया गया है। **कविवर डॉ. शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी** ने **तन्त्रविमर्श** की पाण्डुलिपि को रुचिपूर्वक पढ़ा और गोष्ठियों के प्राथमिक विवरण को मौखिकरूप में सुना। इससे उनका कविमन स्वत: उल्लसित होकर कविता में ढल गया। मैं उनके मानसोद्‌गारों को पुस्तकारम्भ में संजोना चाहता था किन्तु कविता में मेरे प्रति उनके प्रेम की अभिव्यक्ति देख मैं धर्मसंकट में पड़ गया। न मैं उनकी भावपूर्ण काव्यमय अभिव्यक्ति की उपेक्षा कर सकता था और न ही इसे प्रारम्भ में देने का दुःस्साहस कर सकता था। अत: उनके **तन्त्रागमोल्लासः** को तृतीय परिशिष्ट के रूप में देकर मध्यम मार्ग निकाला गया। अस्तु। मैं इन दो विशिष्ट आयामों के लिए **पं. चक्रवर्ती** और **डॉ. चतुर्वेदी** के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।*

अन्य तथ्य

- *प्रायोगिक दृष्टि से और परिस्थितिवश कुछ गोष्ठियाँ अध्यक्ष-विहीन भी आयोजित हुईं।*
- *गोष्ठियों में व्याख्यानों का विषय-क्रम वक्ताओं की सुलभता व सुविधा के अनुसार रहा किन्तु पुस्तक में इनके क्रम में औचित्य के अनुसार अपेक्षित परिवर्तन किया गया है।*
- *पूर्वपीठिकाओं, वक्तव्यों, प्रश्नोत्तरों, टिप्पणियों, अध्यक्षीय सम्बोधनों और आभार-वचनों में से प्रकाशनोपयोगी अंशों को ही चयनित-सम्पादित करके यहाँ प्रस्तुत किया गया है। प्रधान वक्ताओं के वक्तव्यों को सम्पादित करने में विशेषरूप से यह सावधानी रखी गई है कि उनकी व्याख्यान-शैली की मौलिकता सुरक्षित रहे।*

प्रधान वक्ता

वक्ता गोष्ठियों का प्राण है। उसके वक्तृत्व का वैभव ही गोष्ठी और उसके विषय के स्तर को शिखर की गरिमा प्रदान करता है। इन गोष्ठियों का यह सौभाग्य रहा कि इन्हें विषय के अधिकारी और सहृदय वक्ता मिले। इन्हीं की तप:पूत प्रतिभा और वाणी ने जिज्ञासुओं को आकर्षित किया, उनके आगमन के नैरन्तर्य का निर्वाह किया, उनकी रुचि का संवर्द्धन किया, शङ्काओं का समाधान किया, भ्रान्तियों का निवारण किया और आयोजकों को नैतिक बल व प्रोत्साहन

दिया। इसलिए गोष्ठियों की सफलता के समस्त श्रेय के वास्तविक अधिकारी ये महान् साधक और आचार्य हैं। इन्हें शत शत नमन।

इन तन्त्र-गोष्ठियों के विशिष्ट वक्ता रहे हैं (स्व.) **पं. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते**, (स्व.) **पं. विद्यानिवास मिश्र**, (स्व.) **प्रो. प्रेमलता शर्मा**, (स्व.) **प्रो. लल्लन जी गोपाल**, (स्व.) **प्रो. केदारनाथ मिश्र, पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी, पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती, पं. परमहंस मिश्र, प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी, प्रो. कमलाकर मिश्र** व **डॉ. मार्क डॉइकॉस्की**।

सक्रिय सहभागिता

मङ्गलाचरण, अध्यक्षीय सम्बोधन, सञ्चालन, टिप्पणी, प्रश्नोत्तर एवं कृतज्ञता-ज्ञापन के माध्यम से इन गोष्ठियों को गरिमा प्रदान करने वालों में कुछ उल्लेखनीय नाम हैं-

(स्व.) पं. वासुदेव द्विवेदी, प्रो. रमेश चन्द्र शर्मा, (स्व.) प्रो. महेश तिवारी, (स्व.) पं. कपिलदेव पाण्डेय, प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रो. रघुनाथ गिरि, प्रो. बेटिना बॉमर, प्रो. विश्वनाथ भट्टाचार्य, प्रो. रामजी उपाध्याय, प्रो. सुधांशु शेखर शास्त्री, प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय, प्रो. व्यास मिश्र, प्रो. कृष्णाकान्त शर्मा, डॉ. हृदयरञ्जन शर्मा, डॉ. कमलेश कुमार जैन, डॉ. प्रकाश द्विवेदी, डॉ. सुकुमार चट्टोपाध्याय, डॉ. नृसिंह चरण पण्डा, डॉ. श्वेता खन्ना, डॉ. शीतला प्रसाद उपाध्याय, डॉ. सदानन्द दास, डॉ. उर्मिला शर्मा, डॉ. राधेश्याम चतुर्वेदी, डॉ. रमा घोष, पं. जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, कु. लोरिनी बर्नेकी, कु. जेफ्री लिड्की, कु. मॉनिक मारचेलियो, Laxis prado, Catherine Karritis, Katherine, Leisj, Yichali Ijakrloss आदि।

सहसंस्थान एवम् आयोजन-स्थल

प्रारम्भिक कतिपय गोष्ठियों का आयोजन मेरे आवास पर किया गया किन्तु कालान्तर में आवश्यकतानुसार आयोजन-स्थल में परिवर्तन किये गए। कुछ गोष्ठियाँ **पं. व्रजवल्लभ द्विवेदीजी** की प्रेरणा एवं **पीठाधीश्वर डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य जी** के उदार सहयोग से **जंगमबाड़ी मठ** के संयुक्त तत्त्वावधान में हुईं। कुछ **प्रो. विद्यानिवास मिश्र जी** की प्रेरणा और केन्द्र निदेशक **प्रो. रमेशचन्द्र शर्मा** व वहाँ के अन्य कर्मियों (**डॉ. सुकुमार चट्टोपाध्याय, डॉ. नृसिंह पण्डा** आदि) के स्नेहपूर्ण सहयोग से **इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय कला केन्द्र** के संयुक्त तत्त्वावधान में इसी केन्द्र के सभागार में सम्पन्न हुईं। एक-एक गोष्ठी **ज्ञान-प्रवाह** और **आर्यभाषा संस्थान** के सहयोग से आयोजत हुई। कुछ गोष्ठियों को अत्यन्त आत्मीय भाव से तन्त्र-विदुषियों के आवासों पर आयोजित करने का अवसर मिला।

इसके लिए स्मरणीय हैं (स्व.) प्रो. प्रेमलता शर्मा, डॉ. रमा घोष और डॉ. बेटिना बॉमर। **रामाचारी संस्कृत महाविद्यालय** एवं **क्षेत्रीय सांस्कृतिक केन्द्र** ने भी एक-एक गोष्ठी के लिए स्थान सुलभ कराया।

योजनाएँ

पीठ की अपनी सामर्थ्य सीमित थी किन्तु उसकी योजनाएँ और आकांक्षाएँ व्यापक और असीमित थीं। महत्त्वाकांक्षाओं के सागर को डोंगी से पार करने का यह दुस्साहसिक स्वप्न था। आयोजित तन्त्र-गोष्ठियों के सागर की कुछ बूँदों को ही इस पुस्तक में समेटा जा सका है। फिर भी प्रसङ्गत; अभिलाष यह है कि उन योजनाओं का यहाँ संक्षेप में स्मरण किया जाए। ऐसा इसलिए आवश्यक है कि देश-काल अनन्त हैं, समर्थ संस्थान और उत्साही आयोजक अनन्त हैं। अत: कल शिवकृपा से उपकृत कोई अग्रणी बनेगा, ऐसा विश्वास है। कवि-वाणी भी यही सम्बल देती है-

...उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा।
कालो ह्ययं निरवधिः विपुला च पृथ्वी।।

योजना का भाव यह है कि **आचार्य अभिनवगुप्तप्रणीत तन्त्रालोक** को तन्त्र शास्त्र का विश्वकोश मानते हुए, इसे केन्द्र में रखकर भारतीय तन्त्रशास्त्र के इतिहास, साहित्य, दर्शन, साधना, कला आदि की महायात्रा हो। शैव-शाक्त के अतिरिक्त वैष्णव, बौद्ध, जैन आदि तन्त्रों के सिद्धान्तों-साधनापद्धितों का तुलनात्मक समीक्षण हो। जीवन्त परिचर्चाओं के माध्यम से तन्त्र का ऐसा आलोक समाज में फैले जिससे इसकी लोकोपकारिता और प्रासङ्गिकता पर छाए हुए भ्रमान्धकार का निवारण हो।

तात्कालिकरूप से जिन बिन्दुओं का चयन किया गया वे हैं-

आगम/तन्त्र एवं निगम : स्वरूप एवं सम्बन्ध, **तन्त्रालोक** और आगम-साहित्य (**तन्त्रालोक** की आगमिक पृष्ठभूमि), तान्त्रिक योगसाधना और पातञ्जल योग, **तन्त्रालोक** में दर्शन, **तन्त्रालोक** और अन्य दर्शन, **तन्त्रालोक** में मुक्ति की अवधारणा, वाम तन्त्र, कौल तन्त्र, षडध्व-विवेचन, चक्रोदय एवं वर्णोदय, कर्मसाम्य एवं शक्तिपात, मण्डल-निर्माण एवं दीक्षा-विधि, मन्त्र एवं मुद्रा, **तन्त्रालोक** और **जयरथ**, **तन्त्रालोक** का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव, **अभिनवगुप्त** और **जयरथ**, आगम और आज का जीवन, आगम और अनुष्ठान, आगम और शिल्पकला, आगम और साहित्य, आगम और साधना, आगम और पूजा, आगम व गीत, संगीत और नृत्य, आगम और व्याकरण, आगम और सृष्टि-चिन्तन, आगमों/तन्त्रों में दीक्षा, गुरु-शिष्य, दर्शन, कुल-शुद्धि, द्रव्य-शुद्धि, पात्र-साधन,

आसन, यागमन्दिर, यन्त्रनिर्माण, पूजा के द्रव्य, होम के द्रव्य, योगक्रम, शान्तिपाठ, भैरव, गणपति, शिव, चतुर्व्यूह बीज, तिलक, भक्ति, वाहन, आयुध, वरियाग, अन्तर्याग, प्राण, कुण्डलिनी, देवतातत्त्व, ऋषितत्त्व, छन्द, विग्रह, सपर्या, वरीवस्या, उपासना आदि, जैनतन्त्र, बौद्धतन्त्र आदि का स्वरूप एवं तुलनात्मक विचार, शैवागम के विभिन्न सम्प्रदायानुसार याग, देवतातत्त्व आदि पर विचार, काशी में प्रचलित तन्त्र-साधना-स्थानों एवं साधकों का सर्वेक्षण आदि।

__तन्त्रालोक__ सहित अन्य शैव ग्रन्थों में वैदिक और अवैदिक दर्शन-सम्प्रदायों के सिद्धान्तों के युक्तिपूर्वक खण्डन के प्रचुर सन्दर्भ हैं। इसलिये यह योजना बनाई गई कि शैवाचार्य या शैव विद्वान् __तन्त्रालोक__ के उन सन्दर्भों के आधार पर दर्शन विशेष का पूर्वपक्ष रखते हुए उसकी खण्डनात्मक युक्तियों को गोष्ठी में प्रस्तुत करें और तत्तत् दर्शन-सम्प्रदाय के अधिकारी विद्वान् उस विवरण पर अपने दर्शन के पक्ष से टिप्पणी करें, उन सन्दर्भों की समीक्षा करें और इस मंथन के माध्यम से तन्त्र-दर्शन का भारतीय दर्शन में स्थान एवं योगदान निर्धारित हो।

ऐसे सभी कार्यों का एकमात्र प्रामाणिक स्थान काशी ही हो सकता है। यह सामर्थ्य केवल इस विद्या-नगरी में ही है। यह कार्य भी यथाशीघ्र हो तो और भी सार्थक है क्योंकि सौभाग्य से अभी यहाँ इस शास्त्र के गम्भीर अध्येताओं और साधकों की सरणि सुलभ है।

आयोजन के कतिपय अनुभव

किसी भी संस्था, संस्थान अथवा इसके बैनरतले आयोजित किये जाने वाले कार्यक्रमों की प्राथमिक आवश्यकता समान विचारधारावाले सहयोगियों का संग्रह और उनकी सहभागिता प्राप्त करना है। इसके बाद समूह में काम करने की चेतना, परस्पर सामञ्जस्य के भाव और कार्यशैली के विकास का दूसरा चरण प्रारम्भ होता है जिस पर गतिविधियों का भविष्य निर्भर करता है।... __पीठ__ के सचिव और संयोजक के नाते मेरे स्वयम् अपने बारे में अनुभव कुछ अच्छे नहीं रहे। व्यावहारिक कारण कुछ भी रहे हों फिर भी मैं यह स्वीकार करता हूँ कि जिस उत्साह और दृढ़ संकल्प से इसकी विविध गतिविधियों का शुभारम्भ किया गया उसको स्वयं मैं ही सुरक्षित नहीं रख पाया।

मेरी पहली असफलता तो यह है कि मैं समान विचारधारावाले सहयोगियों का अपेक्षित संग्रह नहीं कर पाया और जो कतिपय सहयोगी जुटे उनके भाव और सहयोग को स्थिर नहीं रख पाया। गतिविधियों का विस्तार किया किन्तु उनके सातत्य की जैसी रक्षा करनी चाहिये थी, न कर सका। मैं अन्तर्बाह्य दोनों स्तरों पर आत्मीय जनों को अपने लक्ष्य, भाव, कार्य, कार्यविधि आदि के महत्त्व और

वैशिष्ट्य को नहीं समझा सका। इन समस्त असफलताओं के लिए मैं सहयोगियों की मनोवृत्ति को नहीं, निःसंकोच स्वयं को ही दोषी मानता हूँ। ...अन्य कार्यक्रमों की बात छोड़ें तो इन तन्त्र-गोष्ठियों का दीपक जितनी भी अवधि तक प्रज्वलित रहा उसमें सद्गुरु की शक्ति और कुछ विशिष्ट विभूतियों के तपश्चरण और प्रोत्साहन का स्नेह प्रधान कारण है। मेरी माटी का आधार तो इस स्नेह को आगे धारण करने में स्वयं दुर्बल हो गया, इसलिए प्रज्वलन और प्रकाशन को तो मन्द होना ही था...

किन्तु गुरु-स्मृति में एक शिवसङ्कल्प था। संभवतया इसीलिए मन्द प्रज्वलन की इसी राख के ढेर से मुझे कार्य के सार्थकरूप में समापन की एक धधकती चिंगारी मिली। चुनौती के रूप में यह चिंनारी थी गोष्ठियों के वक्तव्यों के प्रकाशन की। यद्यपि मैंने कैसेटों से लिखने-लिखवाने का कार्य पहले भी कई बार प्रारम्भ किया था और कुछ छात्रों ने सहयोग दिया भी था किन्तु वह नियमित न चल सका था। यन्त्रस्थ यह दुर्लभ वाणी शनैः शनैः क्षीण होती जा रही थी। मैं यदा-कदा अपनी इस असफलता और पीड़ा को छात्र-छात्राओं के समक्ष अभिव्यक्त करता रहता था। इसी का शुभ परिणाम यह निकला कि दो वरिष्ठ शोधच्छात्राओं ने मेरी वेदना का अनुभव किया। इन्होंने संकल्प पूरा होने तक हर हाल में और हर प्रकार से सक्रिय सहयोग का वचन दिया और तब कैसेटों से व्यवस्थित लेखन, सम्पादन आदि का कार्य प्रारम्भ हुआ। उनके इस स्वेदशोषक श्रम और लगन का परिणाम है कि गोष्ठियों के रत्नकण पुस्तकरूप में आपके समक्ष प्रस्तुत हैं। इस प्रसङ्ग में मैं पुस्तक की सहसम्पादिकाएँ ***डॉ. अनामिका सिंह*** *और* ***डॉ. विनीता पाण्डेय*** *के स्वस्थ, सुखद और विद्यामय उज्ज्वल भविष्य की शुभकामना ही कर सकता हूँ।*

अन्त में मैं उन सभी व्याख्यानकर्ता-विद्वानों, सह-संस्थानों, उनके वरिष्ठ-कनिष्ठ अधिकारियों-कर्मचारियों, प्रतिभागियों, श्रोताओं आदि के प्रति नतमस्तक हूँ जिनके सक्रिय एवं सौहार्द्रपूर्ण सहयोग से गोष्ठियों का आयोजन संभव हो सका और इसी आयोजन की नींव पर पुस्तक का लघु प्रासाद खड़ा हो सका।

प्रिय सहयोगी श्री नवीन कुमार श्रीवास्तव के कम्प्यूटर-कौशल ने पाण्डुलिपि तैयार करने में अपनी सहृदयता और धीरता का परिचय दिया, एतदर्थ उनको सप्रेम धन्यवाद।

तन्त्रशास्त्र के गम्भीर जिज्ञासुओं को समर्पित यह कण्ठहार उनके चित्त को आह्लादित कर उनकी रुचि का संवर्द्धन करने में सहायक होगा- ऐसा विश्वास है।

शुभमस्तु सर्वजगतां परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषाः प्रयान्तु शान्तिं सर्वत्र सुखीभवन्तु लोकाः।।

सूर्यप्रकाश व्यास

समर्पण

यह ग्रन्थ उन दिवङ्गत विभूतियों की
पावन स्मृति को समर्पित है जो सङ्गोष्ठियों के
प्रशस्त स्तम्भ एवं व्याख्यानकर्ता रहे हैं-

❋

पं. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

❋

पं. वासुदेव द्विवेदी

❋

पं. विद्यानिवास मिश्र

❋

प्रो. प्रेमलता शर्मा

❋

प्रो. लल्लनजी गोपाल

❋

प्रो. केदारनाथ मिश्र

क्रम

		पृष्ठ
सम्पादकीय		i-ix
आह्निक		
१.	आगम/तन्त्रशास्त्र की पृष्ठभूमि पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	१
२.	आगम/तन्त्र के अध्ययन-अनुसन्धान का वर्तमान स्वरूप एवं भावी दिशाएँ पं. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते, पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी, पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती, पं. परमहंस मिश्र, पं. कमलेशदत्त त्रिपाठी, प्रो. सुधांशुशेखर शास्त्री, प्रो. कमलाकर मिश्र, डॉ. बेटिना बॉमर, डॉ. मार्क डाइकॉस्की, डॉ. शीतलाप्रसाद उपाध्याय	१६
३.	आगम-निगम : स्वरूप एवं सम्बन्ध पं. विद्यानिवास मिश्र	२६
४.	तन्त्रशास्त्र में अर्द्धनारीश्वर की अवधारणा पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती	३७
५.	तन्त्र में स्पन्द की अवधारणा प्रो. कमलाकर मिश्र	४२
६.	श्री अभिनवगुप्तप्रणीत श्रीतन्त्रालोक पं. परमहंस मिश्र	४७
७.	तन्त्रालोक का संक्षिप्त परिचय पं. बलजिन्नाथ	६२
८.	आचार्य अभिनवगुप्तप्रणीत तन्त्रसार का संक्षिप्त आलोचन पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती	७३
९.	तन्त्रालोक में प्रतिपादित ज्ञान का स्वरूप पं. परमहंस मिश्र	७९
१०.	तन्त्रालोक में प्रतिपादित ज्ञान और उसके स्रोत पं. परमहंस मिश्र	८६
११.	तन्त्रालोक का षष्ठ आह्निक (कालविषयक विचार) पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती	९९
१२.	तन्त्रालोक में प्रतिपादित आणवोपाय प्रो. कमलाकर मिश्र	१०४
१३.	आणवोपाय एवं शाक्तोपाय के सन्दर्भ में उच्चार का स्वरूप पं. परमहंस मिश्र	१०८

१४. **आणवसमावेश में करण, ध्यान, वर्ण एवं स्थानप्रकल्पन** ११७
पं. परमहंस मिश्र
१५. **तन्त्रालोक में प्रतिपादित शाक्तोपाय** १२९
पं. परमहंस मिश्र
१६. **तन्त्रालोक में प्रतिपादित क्रमदर्शन के अन्तर्गत शाक्तोपाय** १४०
पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती
१७. **शाक्त समावेश के अन्तःसन्दर्भ** १५१
पं. परमहंस मिश्र
१८. **तन्त्रालोक में प्रतिपादित शाम्भवोपाय** १६०
पं. परमहंस मिश्र
१९. **त्रिविध उपायों में अन्तःसम्बन्ध** १६६
प्रो. कमलाकर मिश्र
२०. **अनुपाय-स्वरूप-विमर्शः** १७९
डॉ. कमलेश झा
२१. **अनुपाय-विज्ञान** १८८
पं. परमहंस मिश्र
२२. **तन्त्र का आत्मविश्रान्तियोग** १९४
प्रो. कमलाकर मिश्र
२३. **अभिनवगुप्त के सङ्गीत दर्शन की रूपरेखा** १९७
प्रो. प्रेमलता शर्मा
२४. **कुब्जिकातन्त्र- एक उपोद्‌घात** २०८
डॉ. मार्क एस.जी. डॉइकॉस्की
२५. **काठमाण्डूघाटी में शैव शाक्त धर्म का इतिहास** २१६
डॉ. मार्क एस.जी. डॉइकॉस्की
२६. **म.म. पण्डित गोपीनाथ कविराज-स्मृति** २२०
डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य, डॉ. श्रीपति राम त्रिपाठी,
पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी, डॉ. राधेश्यामधर द्विवेदी,
डॉ. अनामिका सिंह
२७. **संवाद– पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती से** २२५
सूर्यप्रकाश व्यास

परिशिष्ट

१. **तन्त्रालोक के संस्करण, अनुवाद और अध्ययन** २३१
२. **व्याख्यानकर्ताओं का संक्षिप्त परिचय** २३२
३. **तन्त्रागमोल्लासः -डॉ. शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी** २४४

❖❖

आह्निक - १
आगम/तन्त्रशास्त्र की पृष्ठभूमि

अध्यक्ष - प्रो. लल्लनजी गोपाल

पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी (प्रधान वक्ता)

(प्रधान वक्ता **पं. द्विवेदीजी** ने गोष्ठी में अपना लिखित व्याख्यान प्रस्तुत किया था जो बाद में उनकी पुस्तक (भारतीय संस्कृति के नये आयाम, प्रकाशक, श्रीलाल-बहादुरशास्त्री राष्ट्रीय संस्कृतविद्यापीठ, नई दिल्ली, १९९७) में प्रस्तावना के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ। अत: यहाँ उनके व्याख्यान के प्रधान अंश ही प्रस्तुत हैं-सम्पादक)

हमारे संविधान ने ऐसा कोई आधार तैयार नहीं किया कि हम अपने आपको भारतीय समझें। इसलिए भारतीयकरण के तात्पर्य को सही परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। भारतीय संस्कृति की अविरल धारा के जो आधारभूत मूल्य रहे हैं वे मूल्य वर्तमान में अपना आधार खोते जा रहे हैं। त्याग आदि भावनाएँ लुप्त होती जा रही हैं, समन्वय को हम भारतीय संस्कृति का मूल मानते हैं किन्तु वर्तमान परिवेश में समन्वय और भावनात्मक एकता के लिए कोई गम्भीर प्रयास नहीं दिखाई देता है।

भारतीय संस्कृति विश्व-संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है और सहिष्णुता और समन्वय इसके सबसे बड़े गुण हैं। **गीता** ने सांख्य, योग आदि सबका समन्वय किया जबकि वेदान्त ने स्वयं के अतिरिक्त सबका खण्डन किया।

वेद और तन्त्र में भी समन्वय आवश्यक है किन्तु इस दृष्टि से भी पर्याप्त विकास नहीं हो पाया। संस्कृति में समन्वय के गुण के विकास में एक खतरा अपने धर्म के विलोप का है। आगम/तन्त्र का भारतीय संस्कृति पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा।

सर्वधर्म-समभाव के लिए आवश्यक है कि धर्मान्तरणों पर प्रतिबन्ध लगाया जाए।

महर्षि अरविन्द और **पं. गोपीनाथ कविराज** ने तन्त्रशास्त्र के अवदान को विस्तार से प्रस्तुत किया है। अब आवश्यकता यह है कि **अभिनवगुप्त** साहित्य के आलोक में भारतीय संस्कृति का विवेचन किया जाए।

धर्म का अर्थ है- सम्प्रदाय। प्रत्येक सम्प्रदाय अपना एक घरौंदा बनाता है जबकि संस्कृति उन सबको लेकर आगे बढ़ती है। संस्कृति का एक पर्याय सनातन धर्म है। यह सनातन धर्म ही भारतीय संस्कृति का मूल है। यहाँ विरोधी मतों की भी सत्ता मानी गई है। यहाँ विरोधियों को समाप्त नहीं किया गया बल्कि उनके साथ शास्त्रार्थ किया गया। इसका लाभदायक परिणाम यह निकला कि विचारों का निरन्तर विकास हुआ।

तत्त्व के विषय में भारतीय संस्कृति में दो दृष्टियाँ रही हैं। एक के अनुसार तत्त्व स्थिर है और दूसरी के अनुसार वह परिवर्तनशील है। **आचार्य अभिनवगुप्त** ने अपने साहित्य और विचारों के माध्यम से तीन महत्त्वपूर्ण कार्य किए- आगमों के द्वैतवाद को अद्वैतवाद में बदलना, बौद्धों के क्षणभङ्गवाद को नित्यतावाद में बदलना तथा वेदान्त के मायावाद को शक्तिवाद में बदलना।

इसलिए अब आवश्यक है कि हम वेद के विचारों से आरम्भ करके आज तक के विचारों से जुड़ें। हमें **अभिनवगुप्त** से आगे प्रारम्भ करना चाहिये। ब्राह्मणवाद और मनुवाद को लेकर आज जो बहस चल रही है, मैं उसे व्यर्थ मानता हूँ। त्याग आदि गुणों की जो परम्परा विच्छिन्न हो गई है उसे पुनः जीवित करने की आवश्यकता है- ऐसा मैं मानता हूँ।

प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय (प्रश्न)

मैं तो अभी यही नहीं समझ पा रहा हूँ कि भारतीय संस्कृति का नाम लेकर हम किसको सम्बोधित कर रहे हैं। दूसरा यह कि सर्वधर्म समभाव और भारतीय संस्कृति इन दोनों को क्या साथ-साथ भी चलाया जा सकता है? सर्वधर्म-समभाव से एक अलग सम्प्रदाय प्रारम्भ हुआ और संस्कृति को लेकर एक अलग सम्प्रदाय चल रहा है। इन दोनों को एक साथ जोड़ कर कोई एक निष्कर्ष निकालना या किसी एक मार्ग पर चल पाना क्या सम्भव होगा? यह विचार किया जाना चाहिए।

प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी (टिप्पणी)

संस्कृति नाम की कोई वस्तु मानने की आवश्यकता नहीं है। मुख्य बात है धर्म। मेरे मत में **पातञ्जलयोगसूत्र** धर्म की यम और नियम के रूप में सर्वथा उचित व्याख्या करता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम हैं। तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान नियम हैं। यम अनिवार्य है और नियम वैकल्पिक भी हो सकते हैं। ईश्वर-प्रणिधान नियम के अन्तर्गत है इसलिए वैकल्पिक है। आज का समाज ईश्वरप्रणिधान की प्रक्रियाओं को भ्रम मानता है।

यम और नियम के आचार का नाम धर्म है। छापा, तिलक, चोटी और यज्ञोपवीत को धर्म का प्रतीक मानना अनुचित है। ऐसी मान्यताओं से ही विकृतियों का प्रारम्भ हुआ। **योगसूत्र** में प्रतिपादित धर्म बौद्धों से आया और **तत्त्वार्थसूत्र** जैसे ग्रंथों ने उसे उसी रूप में प्रस्तुत किया। मनुष्य-मनुष्य है चाहे वह ईसाई हो या मुसलमान। यम, नियम की बातें सब धर्मों में विद्यमान हैं। इसलिए यह धर्म सार्वभौम है। धर्म की परिभाषा पर गहन विचार के बाद संस्कृति की परिभाषा अपने आप स्पष्ट हो जाती है अथवा उसकी आवश्यकता ही नहीं रहती।

आधुनिक विद्वान् अपनी विचारप्रक्रिया में मूल भारतीय धुरी को छोड़ देते हैं। यह दु:खद है।

प्रो. रामजी उपाध्याय (टिप्पणी)

- संस्कृति का स्वरूप उपनिषदों में भिन्न है और पुराणों में भिन्न है।
- भारतीय संस्कृति में मोक्ष, धर्म और काम की प्रधानता है।
- यह अन्तर्राष्ट्रिय शक्ति से आच्छन्न है।

डॉ. हृदयरञ्जन शर्मा (टिप्पणी)

वेद साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता की बात करते हैं। धर्मसूत्र और स्मृतियों में ४८ संस्कारों का उल्लेख है। इन्हीं से सम्पन्न पुरुष पूर्ण पुरुष है। धर्म के माध्यम से अर्थ और काम का व्यवहार भारतीय संस्कृति का सन्देश है।

प्रो. कमलाकर मिश्र (टिप्पणी)

भारतीय संस्कृति में आत्मालोचन पर बल है। दोषों के विश्लेषण की परम्परा इसमें रही है। तन्त्र शास्त्र ने इन दोषों को जानकर इनके समाधान के उपाय किये हैं।

प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी (टिप्पणी)

- संस्कृति का व्यापक स्वरूप क्या है और कैसा है इस पर विचार के बाद ही विश्व-संस्कृति के प्रति उसके योगदान पर विचार करना उचित होगा।
- भारतीय संस्कृति के वर्तमान स्वरूप के समक्ष एकेश्वरवाद और जड़वाद की चुनौतियाँ हैं।
- केवल इतिहास-दृष्टि से भारतीय संस्कृति को नहीं समझा जा सकता। यह विधि पाश्चात्य दृष्टि से आई है। भारतीय विधि तत्त्व-चिन्तन की है।

भारतीय संस्कृति में जो विविधता है उसे स्वीकार करना आवश्यक है। इसके साथ ही इस विविधता में जो तात्त्विक एकता है उसके भी अनुसन्धान की आवश्यकता है।

प्रो. केदारनाथ मिश्र (टिप्पणी)

भारतीय संस्कृति के विषय में कहने के लिए बहुत कुछ है। किन्तु यहाँ जो प्रसङ्ग चल रहा है उसको सुनने से जो समस्याएँ पैदा होती हैं और जो ऐसे प्रसङ्गों में मुझे कठिनाइयाँ प्रतीत होती हैं, मैं केवल उनकी ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ।

साहित्य और व्यवहार में हम बहुत सारे नये शब्द अनुवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं। किन्तु कठिनाई यह है कि उन पूर्ववर्ती शब्दों की एक सुदीर्घ अर्थ-परम्परा है। वह अर्थ की यात्रा भी है। कालक्रम से शब्द अपना अर्थ बदलता चलता है। इसलिए जब उसे अनुवाद के रूप में ग्रहण करते हैं तो यह हो सकता है कि हम किसी स्थिति के किसी एक अर्थ को ग्रहण कर रहे हैं अथवा जो अनेक अर्थ हैं उनमें से किसी एक को ग्रहण कर रहे हैं। हमारी परम्परा शब्दों को स्पष्टतया लक्षित करके और परिभाषित करके समझ लेने की है। किन्तु यही परम्परा नए शब्दों के अनुवाद के प्रसङ्ग में हमारे लिए कठिनाई पैदा करती है। अपनी परम्परा से हटकर वैदेशिक शब्दों को उनकी अर्थयात्रा के सहित समझने के लिए हम तत्पर नहीं हो पाते।

मेरी एक समस्या Culture या संस्कृति शब्द के अनुवाद को लेकर है। दूसरी बात यह कि जब हम संस्कृति शब्द का प्रयोग करते हैं और भारतीय संस्कृति, चीनी संस्कृति, इस्लामी संस्कृति, पाश्चात्य संस्कृति आदि, तब यह आवश्यक है कि संस्कृति शब्द का कुछ ऐसा अर्थ भी होना चाहिए जो इन सभी संस्कृतियों में समानरूप से उपलब्ध हो। ऐसी स्थिति में श्रौत-परम्परा, व्याकरण-शैली या मीमांसा-शैली का प्रयोग संस्कृति शब्द के अर्थ को जानने के लिए करेंगे तब यह समझना होगा कि हम संस्कृति सामान्य की व्याख्या नहीं कर रहे हैं क्योंकि यहाँ ऐसे अर्थ की अपेक्षा है जो सार्वजनिक और सार्वभौम हो।

इसके साथ ही एक अन्य प्रश्न भी उठता है कि हम जिसका Classic वर्गीकरण या विभाजन कर रहे हैं वैसी सामान्य संस्कृति कोई है भी या नहीं और यदि है तो क्या उसके विभाजन का आधार देश होना चाहिए? ऐसा होने पर ही हम भारत की संस्कृति या चीन की संस्कृति कह सकते हैं। यह विचारणीय है कि क्या किसी देश का भूभाग संस्कृतियों का निर्धारक होता है? पश्चिमी संस्कृति कहने से यह प्रश्न उठता है कि क्या संस्कृति भूखण्ड से नियन्त्रित होती है अथवा यह धर्म की आयातित कल्पना है?

वक्ता ने धर्म की हमारी परिकल्पना को एक यात्रा माना है। यह अच्छी बात है। सामान्य आदमी धर्म का अर्थ इस्लाम धर्म या ईसाई धर्म आदि समझता है। इस धर्म में एक ईश्वर, एक पुस्तक और एक Prophet या पैगम्बर का होना अनिवार्य है। इन तीनों के बिना धर्म धर्म नहीं है जबकि भारतवर्ष में धर्म की जो परिकल्पना की गयी है उसमें स्पष्ट है कि इन तीनों के बिना भी धर्म हो सकता है। इसलिए जब हम यह कहते हैं कि धर्म के आधार पर संस्कृति नियन्त्रित रही है या संस्कृति का विभाजन धर्म के आधार पर किया जायेगा तो यह कैसे सम्भव है? क्योंकि धर्म की स्वयं की कोई निश्चित परिभाषा ही जब नहीं रही तो उसके आधार पर संस्कृति के स्वरूप का निश्चय कैसे होगा?

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यदि धर्म के आधार पर संस्कृतियाँ नियंत्रित और विभाजित की जाएँगी तो इस्लामिक संस्कृति के साथ हिन्दू संस्कृति (जैसा कि आज कुछ लोग कहते हैं) कहना पड़ेगा और भारतीय संस्कृति जैसे शब्दों का प्रयोग कैसे होगा? इसी प्रकार सनातन धर्म के आधार पर क्या सनातन संस्कृति कहा जायेगा? इस पृष्ठभूमि में यह बताना आवश्यक होगा कि हमारी भारतीय संस्कृति की परिकल्पना क्या है और हम कैसे उसके साथ स्वयं को जोड़ते हैं अथवा उससे तादात्म्य रखते हैं। इसका यह अर्थ भी होगा कि ऐसा कहने पर उत्तराधिकार में प्राचीन भारतीय गौरव की समग्र पृष्ठभूमि है। जो कुछ भी प्राचीन भारतीय चिन्तन है वह उत्तराधिकार में प्राप्त है। हमारा उसके साथ सम्बन्ध है। हम उसके साथ अपनी आत्मीयता की स्थापना करते हैं।

हम कहते हैं कि हमारी दृष्टि समन्वयवादी रही है और सभी प्रकार के विचारों का उसमें सामञ्जस्य रहा है, उन विचारों में एकता रही है तो मुझे यह बात मानने में कई कठिनाइयाँ खड़ी होती हैं। **बुद्ध** को अवतार मानकर विरोध का परिहार करते हुए सामञ्जस्य का प्रयत्न किया गया। मुझे नहीं लगता कि इससे समस्या का कोई समाधान हुआ। धर्म को जब लोगों ने राज्याश्रय से जोड़ा और इनमें साध्य-साधन का अथवा हितकारी का सम्बन्ध स्थापित किया तो निश्चय ही वहाँ परस्पर द्वेष और विरोध आना स्वाभाविक था। भारतीय इतिहास में ऐसी घटनाओं का अभाव नहीं है जहाँ एक सम्प्रदाय का दूसरे सम्प्रदाय से विरोध न रहा हो। साम्प्रदायिक विरोध का सबसे बड़ा उदाहरण तो बौद्ध हैं। **भगवान् बुद्ध** को अवतार बताकर गाया गया-

केशवधृतबुद्धशरीरे जय जगदीश हरे

किन्तु मुझे नहीं लगता कि भारतवर्ष में हिन्दुओं ने कभी **बुद्ध** की उपासना की है। क्या हिन्दू ग्रन्थों में **बुद्ध** की पूजा का विधान है? क्या किसी बौद्ध ग्रन्थ

में **बुद्ध** को अवतार मानने की चर्चा है? अवतार यदि ईश्वर का ही होता है तो क्या कोई ईश्वर है जिसका अवतार **बुद्ध** के रूप में हुआ और ऐसे ईश्वर को बौद्ध स्वीकार करेंगे क्या?

एक अन्य पक्ष भी है। क्या भारतीय वाङ्मय निरन्तर **बुद्ध**-निन्दा के अनेक प्रकरणों से परिपूर्ण नहीं है? **वाल्मीकि रामायण** में कहा गया है **यथा हि चौरस्तथा हि बुद्धः। तथागतं नास्तिकमत्र विद्धेः तस्माद् यः शाक्यतमः प्रजानां स नास्तिकः। नाभिमुखः बुधः स्यात्।**

यह उदाहरण विवादास्पद हो सकता है। इसलिए मैं दूसरा उदाहरण देता हूँ जो निर्विवाद है। **शांकरभाष्य** (२.२.३२) में कहा गया है-

... बाह्यार्थ-विज्ञान-शून्यवादत्रयमितरेतरविरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्धप्रलापित्वं प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थ-प्रतिपत्त्या विमुह्येयुरिमाः प्रजा इति। सर्वथाप्यनादरणीयोऽयं सुगतसमयः श्रेयस्कामैरित्यभिप्रायः।

शङ्कर का ऐसा कहना क्या यथार्थ और उचित है?

बौद्ध **बुद्ध** को करुणावतार कहते हैं और वे कहते हैं **बुद्ध** के हृदय में प्रजा के प्रति विद्वेष था। मेरा तात्पर्य इतना ही है कि ऐसे भी मत समाज में रहे हैं। पुराणों से तो अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। हम कुछ अंशों को प्रक्षिप्त मान सकते हैं। किन्तु यह भी तो सच है कि जो इसे प्रक्षिप्त कर रहे थे उनका तो यह मत था। जिन लोगों ने इन श्लोकों को प्रक्षिप्त किया या जो अर्थ आप कर रहे हैं और वह अर्थ जो दूसरे नहीं कर पा रहे हैं तथा इसके स्थान पर दूसरा अर्थ कर रहे हैं या करते आ रहे हैं उन लोगों का तो ऐसा मत था- यह मानना पड़ेगा। इसके साथ ही यह मानना चाहिये **ये ये हि बौद्धाः...** ऐसा कहकर महायानिक बौद्ध का मायावाद द्वारा खण्डन जहाँ आया है वहाँ सर्वत्र यही प्रवृत्ति रही है।

मैं कहना यह चाहता हूँ कि प्रारम्भ से अन्त तक बौद्धों के चरित्र में बहुत कुछ ऐसा था जिसका विरोध यहाँ हुआ और लगातार होता रहा। इतना ही नहीं, पर्वत की भाँति बौद्ध धर्म के खड़े हो जाने की स्थिति में **विष्णुपुराण** में जो बौद्ध शब्द की व्युत्पत्ति की कल्पना की गई है वह इतनी विडम्बनापूर्ण है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। कहा गया कि दो बाल उसने ज़मीन पर फेंके और उसमें से महामोह पैदा हुआ। वह जाकर पूछता है कि क्यों तुम तपस्या कर रहे हो? उत्तर मिलता है कि हम आत्मोद्धार के लिए तपस्या कर रहे हैं।

उसने जिसे **बुद्ध्यस्व बुद्ध्यस्व** कहा वह बौद्ध हो गया और जिसे **अर्हत अर्हत** कहा वह आर्हत हो गया।

मेरा तात्पर्य केवल यह है कि परम्परा के इतना प्रतिष्ठित होने के बावजूद हम उनकी नए ढंग से व्युत्पत्ति की परिकल्पना करते रहे हैं। यह स्वेच्छाचारी व्याख्या है जो इतिहास की ओर से आँख मूँद लेती है। इसलिए जब तक इस ओर ध्यान नहीं दिया जाएगा कि ऐसा क्यों हुआ तथा सब कुछ प्रक्षिप्त ही मानते रहेंगे और कहेंगे कि विरोध हुआ ही नहीं तो यह तथ्य के विपरीत होगा। यदि ऐसा नहीं है तो **रामानुज** जैसे आचार्य की आँख निकालने की नौबत क्यों आई और अन्ततः कुरेश की आँख निकाली गई।

शैवों और वैष्णवों में युद्ध होता रहा है। **यः शिरः दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि**।

अथवा यह परिकल्पना कि-

आसेतोराहिमाद्रेश्च बौद्धानां वृद्धबालकान् यो न हन्ति स हन्तव्यः धृत्याः निष्कासितव्यः...।

शङ्करचरितम् में ऐसा लिखा है। इसका अर्थ है कि ऐसी परम्परा रही है। इस परम्परा का कोई कारण होना चाहिये। यदि आप इस घटना को ही नहीं मानते तो घटना के कारण की मीमांसा व्यर्थ है। किन्तु मेरे विचार में इस घटना का कारण था। एक ऐसी परम्परा थी जिसके अनुयायी जो कुछ कहते और करते थे उसे अपने अतीत के साथ सम्बद्ध करके चलते थे। इस्लामी और ईसाई परम्पराएँ आईं और उनके साथ सामञ्जस्य की समस्या जैसे बढ़ी वैसी ही समस्या बौद्धों के साथ भी, मेरी समझ से, रही है। समस्या यह थी कि जैसे ईसाई हो जाने पर आदमी का इतिहास ईसामसीह से और मुसलमान हो जाने पर मोहम्मद से शुरु होता है और व्यक्ति तुरन्त ही यह कहने की धूर्तता और मक्कारी करता है कि आज से हम बौद्ध हो गए और आज से **राम** और **कृष्ण** हमारे पूर्वज नहीं रहे।... चन्दौली की एक सभा में कुछ लोगों ने हाथ उठाकर शपथ ली थी कि आज से हम बौद्ध हो गए और राम-कृष्ण अब हमारे पूर्वज नहीं रहे। तो ऐसे लोग भी हैं जो अपने पूर्वजों को बदल देने की सामर्थ्य रखते हैं। ऐसे ही कारणों के फलस्वरूप बौद्ध धर्म का समाज में निषेध हुआ।

बुद्ध के विरोधी **बुद्ध** के समय भी थे। लेकिन मेरी मान्यता है कि हम अपनी सारी प्रतिभा की उष्मा को आपाततः प्रतीयमान ही नहीं, वस्तुतः परिदृश्यमान

विरोधी की सलवटें मिटाने में करते हैं। वैविध्य की जो वास्तविकताएँ संहिताओं से प्रारम्भ होती हैं, हमने उनके एक अङ्ग से तादात्म्य स्थापित करके और उसी को सम्पूर्ण परम्परा मानकर शेष की ऐसी उपेक्षा प्रारम्भ कर दी मानो परम्पराओं की वह विविधता थी ही नहीं। जबकि वह परम्परा उतनी ही प्रबल थी। जैसे असत् और सत् की परम्परा। हमने उपनिषद् की वह परम्परा पकड़ी जो सत् की थी। असत् की परम्परा की थोड़े समय उपेक्षा हुई किन्तु बाद में उससे द्वेष हो गया- **देवानां पूर्वयुगे असतः सत् जायते**। ऋषियों ने जो कहा था कि असत् से सत् की उत्पत्ति हुई उसको उपनिषद्कार केवल अतीत की वस्तु बताकर उल्लिखित करते हैं। उससे अपना वैमत्य प्रकट करते हैं। दूसरी ओर **सदेव सौम्य...** कहकर उपनिषद् की परम्परा चल गई। अब यदि हम कहें कि वह परम्परा थी ही नहीं तो फिर लोक-ऋषि के पुत्र **बृहस्पति** का जो बार्हस्पत्य दर्शन आया (**आङ्गिरस** नहीं), उसमें असत् की व्याख्या करके सूर्योदय तक संकल्प आता है।

मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे देश में, इसके प्राचीन इतिहास में विविधताएँ रही हैं और इसे हम जो एक रूप देने का प्रयत्न करते हैं वह परवर्ती है। वस्तुत: (विविधता के) इस रूप को ग्रहण करने में अनेक ऋषियों ने बहुत अधिक परिश्रम किया है। किन्तु हम यह मानकर चलते हैं कि यह पूरा वटवृक्ष ही बीज में निहित है। बीज हो भी सकता है किन्तु फिर भी विकास की प्रक्रिया को कैसे झुठलाया जा सकता है?

जैन-बौद्ध परम्परा को लेकर श्रमण शब्द और इसके अतिरिक्त ब्राह्मण शब्द भी प्रचलन में रहे हैं। लेकिन आज की यह चिन्ता हमें कष्ट नहीं दे सकी है कि हम श्रमण-ब्राह्मण के अवच्छेदकों को निर्धारित करें। यह इसलिए आवश्यक है कि श्रमणों में भी गृहस्थ होते थे और ब्राह्मण-परम्परा में भी त्यागी थे। परम्परा की अच्छी बातों को मानने वाले और आचरण में न उतारने वाले सर्वत्र रहे हैं और हमेशा रहे हैं।

गोष्ठी में बैठकर हम भले ही यह कह लें, मान लें कि भारतवर्ष में कभी विविधता नहीं रही, न कभी आन्तरिक विरोध रहा, न कभी वैमत्य रहा किन्तु हम यह बात संसार को समझा सकें, यह कठिन है। यदि हम कहें कि विरोध-विविधता पहले थी ही नहीं और हमने उसका समाहार करके विकास नहीं किया तो आज विविधता को पचाने में अधिक कठिनाई होगी। हमने पहले विविधता का कैसे सामना किया इसका इतिहास यदि देखेंगे तो संभव है आज की विविधता का सामना करने में हमें मार्गदर्शन मिले। मेरे कथन का तात्पर्य यही है।

सर्वधर्म समभाव की धारणा, मेरे मत में पश्चिम की है और यह आयातित लगती है। यह तो **रामकृष्ण परमहंस** से लेकर **विवेकानन्द** तक ने जो थाली शिकागो में परोसी उसका भोजन गांधीजी कर रहे हैं। सच पूछो तो पश्चिम में सर्वधर्मसमभाव की कल्पना ही नहीं है। वहाँ उनका अपना धर्म ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है और दूसरे धर्म में वह बात आ नहीं सकती चाहे वह ईसाइयत हो या इस्लाम। ऐसा कहना कि सर्वधर्मसमभाव की बात तभी होनी चाहिये जब धर्मान्तरण बन्द हो। किन्तु यहाँ इस प्रसङ्ग में एक सशक्त हेतु उपन्यस्त किया जा सकता है कि सर्वधर्मसद्भाव स्थापित होने पर धर्मान्तरण में बुराई क्या है? इसलिए सर्वधर्मसमभाव की अवधारणा में समभाव नहीं है। बिना दो की स्थिति के समभाव नहीं हो सकता।

जलालुद्दीन ने बड़ी सरलता से कह दिया कि- सर्वधर्मसमभाव की बात कम्यूनिस्ट कर सकता है जिसके लिए सभी धर्म समानरूप से **अपील्ड** हैं अथवा जिसकी दृष्टि से सभी धर्म समानरूप से मिथ्या हैं अथवा जिसकी दृष्टि से सभी धर्म समानरूप से सत्य हैं। यदि सभी धर्मों को मिथ्या मानते हैं तो मिथ्या की कोटि में वे सभी आचार्य भी होंगे जिन्होंने इनकी स्थापना की। किन्तु जहाँ वस्तुस्थिति की कोटि होगी वहाँ अद्वैत कोटि होगी। इसलिए **विवेकानन्द, गांधी** आदि जिन्होंने भी सर्वधर्मसमभाव की बात कही उसके तत्काल बाद उन्हें यह भी कहना पड़ा कि सभी धर्म अपूर्ण हैं और पूर्णता की यात्रा में हैं। यही उनकी समानता है। दार्शनिक **रोनी** कहता है कि जो लोग सभी को सत्य मानते हैं वे बुद्धू हैं। जो सभी को झूठ कहते हैं वे नालायक हैं। इसलिए सब सच नहीं है और सब झूठ भी नहीं है- ऐसा उसका अपना कहना है। यही मान्यता हमारी नियति है।

मैं ऐसा मानता हूँ कि जो यह कहता है कि सभी सच है उसको अपने और दूसरे के धर्म को समझने के बाद ही ऐसा कहना चाहिये, अन्यथा नहीं कहना चाहिये। किन्तु कठिनाई यह भी होगी कि बिना किसी निश्चित नियामक के कैसे दोनों को सत्य कहा जाएगा? यदि धर्म की उदात्तता का कोई ऐसा नियामक है जो सभी धर्मों में समानरूप से लागू हो सकता है तभी सर्वधर्मसमभाव की बात कहना सार्थक है। जो व्यक्ति अहिंसा को परमधर्म मानता है वह अकारण हिंसा करने वाले धर्म को हिंसा का निषेध करने वाले धर्म के समान कैसे मानेगा?

इसलिए सर्वधर्म समभाव की बात करने के लिए भले ही की जाए किन्तु इससे पूर्व पहली आवश्यकता सर्वधर्म अज्ञान की है। क्योंकि तब हम कह

सकते हैं कि हमारे लिए सभी धर्म अज्ञान हैं। अथवा यह मानें, जैसा कि **रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, गांधीजी** आदि ने कहा कि हम सब पूर्णता की ओर बढ़ रहे हैं और मार्ग में है। अतः सर्वधर्म सद्भाव सम्भव है, समभाव नहीं। धर्म को जब लोगों ने राज्याश्रय से जोड़ा और इन दोनों में परस्पर साध्य-साधन का सम्बन्ध स्थापित हो गया तो निश्चय ही द्वेष और विरोध के अंकुर फूटने लगे।

संस्कृति रही है इतना कहना पर्याप्त नहीं है जब तक उस संस्कृति का निर्विवाद स्वरूप तय न कर लिया जाए।

प्रो. लल्लनजी गोपाल (अध्यक्षीय)

मुख्य वक्ता **पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी** ने भारतीय संस्कृति के स्वरूप, आधार और वर्तमान विश्व के स्तर पर उसका क्या महत्त्व होना चाहिये इसकी चर्चा इतिहास की दृष्टि से की। यह दृष्टि किसी बात को समझने का प्रथम चरण है। बिना अतीत को जाने वर्तमान को नहीं समझा जा सकता। वर्तमान की समस्याओं का समाधान करने का यह उचित उपाय है।

हम संस्कृति को वर्तमान काल में, पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षा की परिपाटी के परिप्रेक्ष्य में ही देख रहे हैं। संस्कृति अथवा Culture शब्द को ही उदाहरण के लिए देखें। मार्क्सवादी चिन्तक संस्कृति को सभ्यता के रूप में लेने की बात करते हैं। कभी-कभी पुरातत्त्व का विद्यार्थी सिन्धुघाटी सभ्यता के प्रसंग में ठीकरे और भाण्ड को ही संस्कृति मान लेता है। हड़प्पा संस्कृति, मालवा संस्कृति आदि ऐसी ही अवधारणाएँ है। जब वे संस्कृति और सभ्यता के भेद को मिटाने की बात करते हैं तो कभी-कभी ईमानदारी में भौतिक संस्कृति शब्द का प्रयोग करते हैं, जबकि वास्तव में संस्कृति तो किसी समुदाय आदि इकाई की आत्मा होती है। यह आत्मा जीवन-दृष्टि है। इसका स्थान समाज में वही है जो शरीर में प्राण का है। प्राण आपको अनुप्राणित करता है। दूसरे शब्दों में, पुष्प की सुगन्धि संस्कृति है। पुष्प की अभिव्यक्ति को चाहें तो सभ्यता कह लें। हम कहेंगे कि वह संस्कृति की अभिव्यक्ति है। संस्कृति विचार, आदर्श, प्राण, उद्देश्य है। वह एक मूल्य है। सभ्यता स्थूल है। स्थूल में दरवाजे आदि आयेंगे तथा सूक्ष्म में साहित्य, दर्शन आदि।

सनातन धर्म की व्याख्या उदार है और सातत्य लिए हुए है। यह गुण उसने आगम-तन्त्र की परम्परा से लिया है। आज हम जिसे सनातन-परम्परा के नाम से गौरव के साथ कहते हैं उसमें आगम-तन्त्र की पूरी सहभागिता है।

भारतीय संस्कृति की व्याख्या एक समस्या है। यदि भारतीय दृष्टिकोण से भारतीय संस्कृति की व्याख्या करनी है तो उसमें जो धर्म है वह उसकी अभिव्यक्ति है- जैसे वैशेषिक में निःश्रेयस्।

भारतीय संस्कृति की दो विशेषताएँ हैं। ये विशेषताएँ विश्व की संस्कृति में दुर्लभ हैं। वहाँ कुछ इधर-उधर से लेकर जोड़ा गया है। लेकिन उसमें सामञ्जस्य नहीं है। पहली विशेषता यह है कि विचार और आदर्श के आधार पर जीवन की व्यवस्था अर्थात् हमने पहले जीवन के आदर्श, मूल्य और आधार बनाये तथा उसी के आधार पर वर्णाश्रम व्यवस्था, संस्कार आदि के नियम बनाये। दूसरी विशेषता है- पुरुषार्थ चतुष्टय की कल्पना। पुरुषार्थ चतुष्टय को यदि सही अर्थ में समझें तो ये जीवन को एक ऊँची दृष्टि देते हैं। ऐसी दृष्टि दुनिया में कहीं नहीं मिलती। यह संतुलन की दृष्टि है। यह गौरव की बात है कि संस्कृति की इस विशेषता ने जीवन के मूल्यों में संतुलन के आदर्श को निभाया, जीवन के हर अङ्ग में इसे घटित किया। दर्शनशास्त्र हो या सौन्दर्यशास्त्र सभी शास्त्रों के चिन्तकों ने इसका निर्वाह किया।

सामञ्जस्य स्थापित करके आगे बढ़ना हमारा गुण रहा है। वैदिक काल में भी इसके लक्षण ओर सङ्केत मिलते हैं। **ऋग्वेद** में भी ऐसे सामञ्जस्य के उदाहरण हैं। इतिहास की दृष्टि सीमित हो सकती है किन्तु तात्त्विक दृष्टि में भी भ्रान्ति होने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। वैदिक काल से सामञ्जस्य की प्रवृत्ति का जो प्रयास आरम्भ हुआ वह बाद में भी जारी रहा, अन्तर्प्रवाहित होकर बढ़ता रहा तथा इतिहास के विशिष्ट चरणों में भी निभाया गया। **महाभारत** में भी यह प्रयास दिखाई देता है। हम तो **बुद्ध** के भी प्रयास को इसी दृष्टि से देखते हैं। हम एक ओर **बुद्ध** की आलोचना भी करते हैं परन्तु उसमें जो अच्छा है, उसको अपनी संस्कृति में समाहित भी करते हैं। भले ही अवतार ही सही, परन्तु हमने **बुद्ध** को माना तो।

हम देवी की पूजा करते हैं, **विष्णु** और **शिव** की पूजा भी करते हैं। साधारण जन आज भी ऐसा ही करते हैं। प्राचीन काल में भी सबकी पूजा होती थी। अभी नेपाल में यह परम्परा चल रही है। यह परम्परा आगे क्यों नहीं बढ़ी यह विचारणीय है। हम अपने यहाँ के दार्शनिक मतभेदों को भूल जाएँ। हमारी पाचनशक्ति बहुत बड़ी थी। हमने शक और हूण ही नहीं पचाये, जो ग्रीक और समकक्ष थे उनको भी हमने पचाया। क्या आज आप कह सकते हैं कि **जुपिटर**

की सन्तान कौन और **मिनान्दर** की सन्तान कौन है? उनकी विचारधारा भी हमने ले ली। हमारे यहाँ **अमीर खुसरो** से लेकर संगीतशास्त्र, शिल्प-शैली आदि के सारे प्रभाव आये लेकिन जीवन की मूल भारतीय शैली बनी रही। सामाजिक जीवन-शैली और कला पक्ष में प्रभाव आया। लेकिन जो प्रभाव आया वह ऊपर ही ऊपर रहा। इन प्रभावों के फलस्वरूप हमने **रसखान** को पाया, **दाराशिकोह** को पाया जिसने सारे उपनिषदों का अनुवाद कर डाला। **श्रीमद्भागवत्** का अनुवाद हुआ। सिवाय **अल्लोपनिषद्** के अनुवाद को छोड़कर जिसकी मौलिकता भारत में कुछ भी नहीं है। हमने **कुरान** को समझने का प्रयास नहीं किया। हमने उसको दूर ही रखा। क्या हमने उससे तालमेल रखने की कभी कोशिश की? उन्होंने प्रयास किया, हमने नहीं किया। इसके कुछ अपवाद मिल जाएँगे, किन्तु हिन्दुओं में इस तालमेल के लिए कोई आन्दोलन नहीं हुआ। यह हमारा उत्तरदायित्व था कि ऐसा आन्दोलन चलाते। पुरानी पीढ़ी और हम क्यों नहीं कर पाये यह? हम इतनी शताब्दियों के बाद भी नहीं समझ पाये। हमारे यहाँ दार्शनिक दृष्टि से अनेकान्तवाद भी है और उसके बाद धर्म का सत्य छिपा हुआ है, ये सारी बातें कह डालेंगे, लेकिन जब वैचारिक स्तर पर आये तो क्या हमने इसका निर्वाह इस्लामी संस्कृति के साथ किया? क्यों नहीं किया? इस्लाम ७१२ में पहली बार सिन्धु में आया। इसके बाद १००० ई. में **मोहम्मद ग़ज़नवी** आता है। १२०६ के बाद उनका राज्य शुरु होता है। हम इस मामले में कितने सङ्कीर्ण थे! हमारी दुर्विशेषता आज भी वही है। उसकी ओर सबसे पहले किसने सङ्केत किया? किसी भारतीय ने नहीं किया बल्कि **अल्बरुनी** नामक एक विद्वान् ने किया जो संस्कृत का बड़ा भारी विद्वान् था। वह अरब से यहाँ आया और उसकी ईमानदारी देखिये। ब्राह्मण पण्डितों के पास बैठकर वह सांख्य पढ़ता है, योग पढ़ता है और ज्योतिष के सारे ग्रन्थ पढ़ता है और कोशिश करता है सामञ्जस्य स्थापित करने की। इनके यहाँ ज्योतिष की कल्पना यह है; रूस में यह है, अरब में यह है, ग्रीक में यह है और वह स्वीकार करता है कि ये श्रेष्ठ हैं। हमारी दृष्टि कमजोर है। साथ ही शुरु में वह भूमिका लिखता है। भारतीय मानसिकता के गुण-दोष भी बताता है। हम कहते हैं कि वह बात आज भी चरितार्थ होती है। और बड़ा अच्छा हो कि **अल्बरुनी** के इस वक्तव्य का अनुवाद करके पूरे हिन्दुस्तान में बाँट दिया जाय। खासतौर से जो इस्लामेतर समाज है वो समझे। वो कहता है कि भारत की एक बड़ी विशेषता है कि वे सोचते हैं कि दुनिया में केवल वे ही आदमी हैं और वही देश है, वही धर्म है और अपने से बाहर न तो किसी देश को

समझते हैं, न किसी धर्म को समझते हैं, न किसी व्यक्ति को समझते हैं। उनकी बात नहीं सुनना चाहते; उनसे सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहते। और तब वह कहता है अगर कोई इनके धर्म को समझना चाहे तो समझाना नहीं चाहते। अगर शुद्ध मन से उनके धर्म को स्वीकार करना चाहे तो ये उसको प्रोत्साहन और सहयोग नहीं देते। यह हमारी सबसे बड़ी कमजोरी थी। हम अपनी ग़लती खुद नहीं समझते। दूसरा यदि तटस्थ दृष्टि से कहता है तो भी हम नहीं मानते और क्षमा कीजिए यह विशेषता आज भी वैसी ही है। क्या हमने प्रयास किया उनको अपने में मिलाने का, जैसा कि पहले किया गया? समन्वय की यह परम्परा केवल आगम-तन्त्र की विशेषता नहीं है बल्कि पूरी भारतीय संस्कृति की विशेषता है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि आगम-तन्त्र में यह परम्परा अधिक मुखरित हुई है। हम वैदिक, शैव, वैष्णव, वाम, दक्षिण सबको लेते हुए और सबमें सामञ्जस्य स्थापित करते हुए आगे बढ़ें। सभी का औचित्य और महत्त्व मानते हुए उन्हें एक चरण में बाँध दिया गया। **शङ्कराचार्य** ने ऐसा ही सफल प्रयास किया; किन्तु दुर्भाग्य से यह परम्परा अवरुद्ध हो गई, जबकि परम्परा के अनुसार हमें यह सिद्ध करने का प्रयास करना चाहिए था कि जो कुछ **कुरान** और इस्लाम में है वही हमारे यहाँ भी है। हमने अपने एकेश्वरवाद के संदर्भ में इस्लाम पर क्यों नहीं विचार किया। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका कारण हमारा अहम् है।

मध्यकालीन भारतीय समाज एवं व्यवस्था की बात यदि करें तो यह उल्लेखनीय है कि इतना बड़ा सत्य भारतीय समाज में उपस्थित था। उनके साथ सम्बन्ध की स्थापना, सम्बंध से कुछ पाना और सम्बन्ध में उनको समाहित करने का भाव जो हमसे बिछुड़ते चले जा रहे थे, हमने उनकी चिन्ता नहीं की और यह मान लिया कि एक बार उनका कुछ खा लिया, उनका पानी पी लिया तो हमारा अपना सब कुछ ख्त्म हो जाएगा। **अलूबरुनी** कहता है कि मुसलमानों का जल और उनकी आग तुमने छू ली तो मुसलमान हो गए। कितनी विचित्र बात है? दुनिया में सांसारिक आदमी के लिए जल और आग के सिवाय कुछ नहीं है। ये लोग इतनी मूर्खता की बात करते हैं।

देवलस्मृति ने लगभग ७३० में इस दिशा में ऐतिहासिक प्रयास किया। देवल के नाम पर बनी यह स्मृति १००० ई. तक तो चली है फिर उसके बाद जब आर्य समाज ने शुद्धि आन्दोलन किया तब हमें **देवलस्मृति** का ख्याल आया और यह सोचा गया कि ऐसी स्मृति भी यहाँ है। यह कितनी सफल हुई और कितनी नहीं, यह अलग बात है। फिर भी बाद में आने वाले निबन्ध-ग्रन्थों की

बात करें तो यह साफ लगता है कि वही सन्दर्भ, वही प्रश्न उनके भी बने रहे जो पहले थे।

श्राद्ध, शुद्धि, प्रायश्चित्त, दान और तिथि अर्थात् काल-निर्णय का विचार, इसी पर हम लाखों पुस्तकें लिखते चले गए किन्तु किसी भी निबन्धकार ने जायज तरीके से इस प्रश्न को क्यों नहीं उठाया कि मुसलमानों के साथ संसर्ग होने पर हम क्या करें? और यदि मुसलमान हो ही गए तो हम क्या करें? **देवलस्मृति** को भी लोग भूल गए। हम तो अपने समाज पर बहुत बड़ा लांछन लगाएँगे कि सन् १२०० से १९वीं शती के अन्त तक अर्थात् सात सौ वर्षों तक हम क्यों सोये रहे? बाद में हमें आर्य समाजियों ने जगाया।

हम मानते हैं कि हमारे यहाँ सांस्कृतिक एकता है, उसकी नींव है जो बड़ी शाश्वत और स्थिर है। उसके ऊपर हमें भवन बनाना था। उस नींव पर हम नए भारत की शुरुआत कर सकते थे, किन्तु वह मौका हमने खो दिया। हमको करना यह था कि जो हमारे सांस्कृतिक मूल्य थे, जो सनातन उद्देश्य और आदर्श थे उनके साथ समझौता किए बिना हमें यह विचार करना चाहिए था कि नई परिस्थितियों और सन्दर्भों में उन मूल्यों की अभिव्यक्ति कैसी होनी चाहिए। यह कार्य नया नहीं था। पहले से होता रहा था और हमारे धर्मशास्त्र इसके प्रमाण हैं।

जो हमारे मूल्य हैं, जो उद्देश्य हैं समय के अनुसार उनकी अभिव्यक्ति बदलती चली गयी- चाहे वह वर्णाश्रम-व्यवस्था हो। आप जानते हैं वर्णाश्रम-व्यवस्था में क्या-क्या परिवर्तन किया गया, विस्तार किया गया? उसमें अपवाद भी आये। आपद् धर्म इत्यादि सब कुछ किया गया। वैसा प्रयास हमने क्यों नहीं किया? वह करके हमने कुछ किया होता। यानी हमारा मतलब है क्या एक नई स्मृति की रचना नहीं हो सकती थी जो कि १२०० से लेकर आगे के हिन्दुस्तान के लिए मौजूद होती? क्यों नहीं हमारे समाज के लोगों ने ईमानदारी दिखाई कि एक नया धर्मशास्त्र देते? जहाँ जड़ता आयी, जहाँ स्थिरता आयी तो जीवन समाप्त हो गया। जीवन तो इसी में है कि हम अपने मूल्यों के अनुसार अपनी बाह्य वृत्ति बदलें। आज हम सिन्धु घाटी की सभ्यता के अनुसार जीवन-यापन नहीं कर सकते लेकिन उनके मूल्य तो हमारे हैं। मूल्यों के अनुसार हम बदले हैं। वैदिक काल से हमारी जो यात्रा चली है वो हमेशा परिवर्तनशील रही है। हमारा समाज जड़ हो गया है और अब जड़ता से आगे जाने की आवश्यकता है। आज का संकट पहले से बड़ा है। भौतिकवादी दृष्टि, टी.वी.-संस्कृति, भद्दापन हमारी जीवन-शैली पर छा रहे हैं। हम उनसे कैसे निपटें? सांस्कृतिक मूल्यों का सातत्य

बनाये रखने के लिए हमारे पास जो अनौपचारिक शिक्षा-विधि थी, वह समाप्त हो रही है। पारिवारिक स्तर पर दादी, नानी जैसे वृद्धों से और उनकी साक्षी में होने वाले अनेक अनुष्ठानों से जो हमें शिक्षा और संस्कार प्राप्त होते थे वे समाप्त होते जा रहे हैं।

कुम्भ के मेले से केरल का व्यक्ति भी प्राचीन मूल्यों से नई चेतना ग्रहण कर लौटता है। इस ज्ञान के लिए टेलीफ़ोन जैसी सुविधा की आवश्यकता नहीं है। अब जो माध्यम प्रचलित हैं उनके साथ दुर्भाग्य यह है कि उन पर हमारा अधिकार नहीं है और जिनका अधिकार है वे भौतिकवादी संस्कृति और उपभोक्तावाद के चलते उस प्राचीन परम्परा को समाप्त करना चाहते हैं।

भौतिकवादी हमारे विदेशी प्रशासक जिस चीज को पचास साल पहले छोड़ चुके हम उसे पचास साल बाद अपनाना चाहते हैं। इसमें दोष हमारा भी है क्योंकि हमें डॉलर चाहिए।

आज बुद्धिजीवी वर्ग पूर्णतया निष्क्रिय हो गया है। यथार्थ से उसका सम्बन्ध समाप्त हो गया है। वह जो बात गोष्ठी में कहेगा वह बाहर नहीं कहेगा। हम यह नहीं कहते कि झण्डा लेकर चलें किन्तु एक वातावरण बनाने का प्रयास हो ही सकता है। अभी भी अवसर है कि हम अपनी सही दिशा को पकड़ें। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से पहले वहाँ एक बौद्धिक क्रान्ति हुई थी। हमारे देश को भी इसी प्रकार एक बौद्धिक क्रान्ति की आवश्यकता है। एक बार पाक़िस्तान बन गया उसके बाद हम समाज का और सांस्कृतिक आदर्शों का कितना विघटन फिर करना चाहते हैं? यदि हम विघटन नहीं चाहते तो भारतीय संस्कृति के शाश्वत मूल्यों की परिधि में हमें दूसरों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास करना चाहिए। इतिहास से पहले की ग़लतियों से और अनुभवों से शिक्षा लेकर नई व्यवस्था देने का प्रयास करना चाहिए, तभी शायद हमारा इतिहास और समस्त चिन्तन वर्तमान में उपयोगी सिद्ध हो सकेगा।

❖ ❖

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च।।
षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद् विदुर्बुधाः।।

वाराहीतन्त्रम्

आह्निक - २

आगम/तन्त्र के अध्ययन-अनुसन्धान का वर्तमान स्वरूप एवं भावी दिशाएँ

अध्यक्ष - १. पं. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते
- २. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी

पं. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते (अध्यक्षीय)

आगम और तन्त्र यद्यपि समानार्थ प्रयोग किये जाते हैं परन्तु साक्षात् उपदिष्ट सूत्रबद्ध ग्रन्थ आगम हैं और आगमानुसार जो क्रियाकलाप हैं उन्हें तन्त्र कहा जाता है। परन्तु यही सर्वथा लक्षण नहीं हो सकता। क्योंकि बहुत से आगमों को भी तन्त्र कहा गया है जिनके आधार पर पद्धतियाँ बनाई जाती हैं। हमारे सिद्धान्त के अनुसार सभी आगमों के मूल प्रवर्तक भगवान् **शिव** हैं- वेदों की दृष्टि से और आगमों की दृष्टि से भी, विभिन्न प्रकार से, यह स्पष्ट होता है। इसमें व्याख्याकारों, भाष्यकारों और आचार्यों की स्थूलरूप से दो शैलियाँ हैं। वेदमूलक या वेदानुसारी का प्रामाण्य मानना या केवल स्वतन्त्र आगमों का ही प्रामाण्य मानना। आगम-प्रधान सम्प्रदाय वेदों का भी आगम में ही संग्रह करते हैं। जैसा कि **त्रिपुरारहस्य** का वचन है **वेदो हि ह्यागमभागः स्यात् शब्दराशिस्तथागमः।** इस विषय में बहुत पहले लिखा पूज्य **श्रीगोपीनाथ कविराज** का लेख **वेदानां वास्तविकं स्वरूपम्** (**अमरभारती** पत्रिका में) अवलोकनीय है।

वस्तुतः हमारे यहाँ शास्त्रकारों की एक समन्वयात्मक दृष्टि है। आपाततः परस्पर विरोधी दिखाई पड़ने वाले आगमों का भी समन्वय होता है- जैसे बौद्ध, जैन आगम भी शैवागमों के साथ मिल गये हैं क्योंकि आगम एक महान् समन्वयात्मक शास्त्र है और इसमें परम्परा का प्राधान्य है जिसे सम्प्रदाय कहते हैं। सम्प्रदाय का बहुत ज्यादा महत्त्व है- **सम्यक् प्रदीयते शिष्येभ्यः इति सम्प्रदायः**। मूल ग्रन्थों में न होने पर भी कई ऐसी बातें चली आती हैं जो गुरुमुख से सुनी जाती हैं और उनको माना जाता है, उनका प्रामाण्य सम्प्रदाय से होता है। इसीलिये श्री **भास्कराचार्यजी** ने तन्त्र-ग्रन्थों पर टीका करते हुए लिखा है-

श्रुतिस्मृतिन्यायपुराणतन्त्र- सूत्रागम-श्रीगुरुसम्प्रदायान्।
निर्मथ्य निश्चित्य कृतापि टीका, शोध्यैव सद्भिः मयि हार्दविद्भिः।।

वैदिक परम्परा में **ईशानः सर्वविद्यानाम् ईश्वरः सर्वभूतानाम्** इत्यादि मन्त्र **शिव** की प्रधानता सूचित करते हैं। यहाँ **शिव** का प्रकाशात्मक ज्ञान ही गुरु का स्वरूप है। मानव कलेवर में इसकी सूक्ष्मरूप से, विशेषरूप से स्थिति मानी गई है। इन सब दृष्टियों से आगमशास्त्र की महनीयता, सूक्ष्मरूपता, सम्प्रदायवेद्यता का पूर्ण अनुगमन कर अवगाहन करने पर ही कुछ ज्ञानरत्न उपलब्ध हो सकते हैं।

तन्त्रशास्त्र गूढ़ विद्या है। इसके अध्ययन और इसकी साधना का अधिकार सबको नहीं है। यह ऐसा रहस्यशास्त्र है जिसके बारे में साधारण समाज को ही नहीं, विद्वानों को भी भ्रान्तियाँ हो जाती हैं। उदाहरण के लिए एक ही प्रणव मन्त्र और बीज अनेक स्थानों पर आता है किन्तु प्रत्येक स्थान पर उसका अभिप्राय और उसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न है। अतः सन्दर्भ और गुरु के मार्गदर्शन के बिना तन्त्र के रहस्यों को समझना सम्भव नहीं है।

तन्त्रशास्त्र पर विद्वानों के द्वारा परस्पर विचार-विमर्श और परिचर्चाओं का आयोजन समय की आवश्यकता है और इससे अनेक भ्रान्तियों का निवारण होगा, अनेक गूढ़ विषयों का स्पष्टीकरण होगा तथा इस सबके द्वारा अन्त में लोककल्याण होगा- ऐसा मेरा विश्वास है और आशीर्वाद भी है।

पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी (अध्यक्षीय)

वेद, आगम, बौद्ध, जैन आदि समस्त साहित्य और सूफ़ी सन्तों की रचनाएँ भारतीय हैं। इन सभी का ज्ञान भारतीय साहित्य की पूर्णता के लिए आवश्यक है। हमारे देश की परम्परा जाति को नहीं, चरित्र को महत्त्व देती है। ज्ञान, धर्म और मोक्ष का अधिकार मानवमात्र को है।

मन्त्र, मण्डल, चक्र, मुद्रा आदि के निर्माण की विधि आदि के लिए प्रशिक्षण आवश्यक है। मंत्रोद्धार विकट प्रश्न है।

मानवमात्र को दीक्षा का अधिकार है। अतः आगम और तन्त्र स्त्री, शूद्र आदि के सहित सभी के लिए है। मुख्य बात ज्ञान और चरित्र की श्रेष्ठता की है।

विविधता भारत की विशेषता है। यहाँ साधना और उपासना के अनेक सम्प्रदाय विकसित हुए। इसमें सभी संतों का योगदान रहा है। सभी प्रकार के विचारों को आश्रय और प्रश्रय देना भारत की विशेषता है। विचारों की उदारता और स्वतन्त्रता तथा विविधता में एकता ऐसे गुण हैं जो विश्व में भारत की अलग पहिचान बनाते हैं। आज चारों ओर जो अशान्ति और तनाव दिखाई देता है उसका कारण उदारता की उपेक्षा है। अत: वेद से लेकर सभी संतों और **महात्मा गाँधी** तक के महापुरुषों के जो श्रेष्ठ और कल्याणकारी विचार हैं, उनका संग्रह और समन्वय आवश्यक है।

पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती (संक्षिप्त व्याख्यान)

मेरे मत में आगम और तन्त्र भिन्न-भिन्न धाराएँ हैं। यद्यपि इन दोनों का स्रोत एक है फिर भी ये स्वतन्त्र हैं और इनको एक दूसरे का पर्याय नहीं कहा जा सकता। मान्यता बनी कि तन्त्र सरलता से साधारण जन तक पहुँच गया किन्तु आगम को इसमें बहुत कठिनाई हुई। आगम-ग्रन्थ शैव सिद्धान्त के पक्ष को अधिक महत्त्व देते हैं और उनमें **शिव** की प्रधानता है जबकि तन्त्र आचारप्रधान हैं और उनमें शक्ति की प्रधानता है। काश्मीर शैवदर्शन के **आचार्य सोमानन्द** द्वारा रचित **शिवदृष्टि** नामक ग्रन्थ में आगम और तन्त्र के बीच में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है।

तन्त्र में सभी को प्रवेश का अधिकार नहीं है। मेरे मत में बिना दीक्षा के तन्त्र की पुस्तक छूने का भी अधिकार उचित नहीं है। मेरे पिताश्री ने **तन्त्रसार** को छूने से भी मुझे इसलिए रोक दिया था कि उस समय मेरी दीक्षा नहीं हुई थी।

तन्त्र के रहस्यों को बिना दीक्षा-प्राप्त व्यक्तियों के समक्ष उद्‌घाटित करने की जो बातें कही जाती हैं, मैं उन्हें उचित नहीं मानता। आजकल रहस्य-कथन की जो उन्मुक्त प्रवृत्ति चल पड़ी है और वामाचार तक के बारे में खुली बहस होने लगी है, मैं उससे सहमत नहीं हूँ। केवल जिज्ञासा ही यह अधिकार नहीं दे देती कि आप विषय को पूर्णरूप में जानने की योग्यता रखते हैं। जिज्ञासा योग्यता बनकर आगे बढ़ने के संकल्प में परिणत हो ही जायेगी यह आवश्यक नहीं है। मेरा अनुभव है कि कुछ विदेशी छात्र भारत और वाराणसी आते हैं, मेरे पास भी आते हैं, पढ़ना चाहते हैं, पढ़ते हैं और कुछ शोधपत्र या लघु शोध-निबन्ध लिखने के लिए लिख भी लेते हैं। वे फ्रेंच, इटैलियन में कुछ भी लिख

लेते हैं। उनको तालियाँ और डिग्रियाँ भी हासिल हो जाती हैं। किन्तु बाद में आपके विषय का दुरुपयोग होता है। वे डिग्री पाने के बाद कुछ नहीं कर पाते। इससे विषय का व्यभिचार होता है।

पं. कविराज जी तांत्रिक थे- यह सभी जानते हैं। एक बार एक सज्जन उनके पास स्फटिक निर्मित श्रीयंत्र लेकर आये जिसमें कुछ त्रुटि थी। उन्होंने **कविराज जी** से पूछा। तब उन्होंने स्पष्ट कहा कि मैं इस विषय में कोई उत्तर नहीं दे सकता। जो इस विषय का जानकार है उसी से जाकर पूछना उचित है। श्रीयंत्र का निर्माण मुसलमान करते हैं किन्तु अनुष्ठानमूलक श्रीयंत्र के निर्माण की विशेष विधियाँ हैं, उन्हीं के द्वारा निर्मित श्रीयंत्र साधना के लिए उपयोगी है। इसी प्रकार मण्डल आदि का निर्माण भी विशेष विधि की अपेक्षा करता है। इन सबको जानने वाले अब दुर्लभ होते जा रहे हैं।

कुछ कहते हैं काम-कला का अध्ययन करना चाहिए, योनिमुद्रा का प्रदर्शन करना चाहिए, ऐसा कहा जाता है। किन्तु योनिमुद्रा हाथ से बनती है और ध्यान से भी बनती है। इसी प्रकार लिङ्गमुद्रा, मत्स्यमुद्रा आदि अनेक मुद्राएँ हैं जिनका किसी पारम्परिक और प्रामाणिक व्यक्ति से ज्ञान और निर्देश प्राप्त करके फिर उनका अभ्यास और प्रदर्शन किया जा सकता है।

वामकेश्वरीमतम् नामक पुस्तक पर **जयरथ** की टीका है जिसमें श्रीयंत्र के निर्माण की तीन विधियाँ बताई गई हैं किन्तु केवल संस्कृत का अंश पढ़ने मात्र से वे नहीं समझी जा सकतीं। प्रसङ्गवश प्रयास करने पर दो को मैं समझ पाया और तीसरी को समझने में असफल रहा। इसलिए अधिकारी विद्वानों को चाहिए कि वे स्वयं श्रीयंत्र मुद्रा आदि की विधियों को सीखें। कुछ ग्रन्थों में मुद्राओं का चित्र दिया गया है। किन्तु केवल चित्र देखकर कुछ भी नहीं सीखा जा सकता। वैदिक परम्परा में वेदी और तन्त्र परम्परा में मण्डल आदि का निर्माण कितना कठिन है इसे जानने वाले कुछ ही पण्डित जीवित होंगे, किन्तु उनके अनुयायी तो पूरी तरह कुछ भी नहीं जानते। ग्रन्थों में प्रतिपादित आचारों और क्रियाओं को वास्तव में जानना और करना बहुत कठिन है। अनेक ऐसे पुरोहित हैं जो क्रियाविधि का व्यावहारिक ज्ञान रखते हैं किन्तु वे अधिक संस्कृत नहीं जानते। फिर भी मेरे मत में ऐसे लोगों को बुलाकर उनसे यह व्यावहारिक पक्ष हमें समझना चाहिए। मेरे एक-दो पुराने शिष्य हैं जो सर्वतोभद्र मण्डल बनाना जानते हैं। उनका सहयोग प्राप्त किया जा सकता है।

तन्त्र के ग्रन्थों में कभी-कभी मन्त्र को सांकेतिक भाषा में कह दिया जाता है ताकि अनधिकारी लोगों की समझ से वह दूर रहे।

मंत्र, मण्डल और मुद्रा आदि गम्भीर और क्लिष्ट विषय हैं किन्तु आचार और विधि के ज्ञान के बिना इनका शुद्ध स्वरूप हम नहीं जान सकते और विद्वान् और अधिकारी व्यक्ति यदि इनको ठीक से नहीं जानेंगे तो यह आगे चलकर विलुप्त हो जायेंगे।

भोग और मोक्ष हमारे जीवन के उद्देश्य हैं। इहलौकिक सुख का नाम भोग और पारलौकिक सुख का नाम मोक्ष है। पहले भोग और बाद में मोक्ष वाले जीवन को हम भोगमुखी कहते हैं। इस प्रसङ्ग में मन्त्र, दीक्षा आदि का जो विधान है उनमें गुरु की महत्ता मुख्य है। बहुत अच्छा गाने वाला भी अच्छे गाने को सिखाने की योग्यता भी रखता हो- यह आवश्यक नहीं है। मधुर गाने वाला नहीं जानता कि वह कैसे मधुर गा लेता है।

कविराज की सभा में कुछ लोग नोट करने लगते थे तो वे बहुत डाँटते थे। कहते थे आप लेख तैयार करके अखबार में प्रकाशित करना चाहते हैं तो जाइये। यदि वास्तव में जिज्ञासा है तो बार-बार आइये और पूछिये। मैं बताऊँगा। नोट्स लेने से जिज्ञासा का कोई सम्बन्ध नहीं। तन्त्र या आगम के वास्तविक रहस्य को जानने के लिए थोड़े श्रम और त्याग से काम नहीं चलेगा, जीवन को समर्पित करना पड़ता है। बिना समर्पणभाव के तन्त्रागम को नहीं जाना जा सकता। यही बात वेदान्त दर्शन आदि विषयों पर लागू होती है। केवल धन या तिकड़म के बल पर वेदान्त का आचार्य पद पा लेने से **सर्वं खलु इदं ब्रह्म** के अभ्यासी नहीं बन सकते।

पं. परमहंस मिश्र (संक्षिप्त व्याख्यान)

वैदिक संस्कृति का तो समाज में व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है किन्तु आगम-संस्कृति को वैसी स्वीकृति नहीं मिली- जैसी आवश्यक थी। फिर भी सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर आगम-विचारधारा को भारतीय जीवन-शैली में बहुत गहराई से ओत-प्रोत देखा जा सकता है। सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति पर वैदिक और आगमिक प्रभाव क्या है और उनमें न्यूनाधिक्य के क्या कारण हैं- इनका अध्ययन और अनुसन्धान महती आवश्यकता है।

तन्त्र-दृष्टि सबको **शिव**रूप में स्वीकार करती है। सबको समानरूप से मोक्ष का अधिकारी मानती है। इसलिए इसके अनुसार प्रतिभा किसी वर्ग विशेष

की बपौती नहीं है? गायत्री मन्त्र के ऋषि **विश्वामित्र** ब्राह्मण नहीं, क्षत्रिय थे। इससे भी यही सिद्ध होता है।

आधुनिक विद्याओं का मूल प्राचीन भारतीय शास्त्रों में सुरक्षित है, किन्तु अज्ञान के कारण हम उसको सही रूप में पहिचान नहीं पाते तथा काल-प्रवाह से हमने उनकी उपेक्षा करके उन्हें भुला दिया है। उदाहरण के लिए **एक्यूप्रेशर** विद्या का भारतीय नाम **अम्बिकेश्वर** है, जिसका प्रादुर्भाव कवच से हुआ है।

तन्त्र में अधिकारिभेद का आग्रह उचित प्रतीत नहीं होता है। सभी के हित में इसका व्यापक प्रचार-प्रसार आवश्यक और उचित है।

प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी (संक्षिप्त व्याख्यान)

आगम और तन्त्र को अध्ययन और अनुसन्धान का विषय बनाने वाले विद्वानों के सामने आज अनेक चुनौतियाँ और समस्याएँ हैं। तन्त्र को एक गोपनीय शास्त्र माना गया है और इसके परम्परागत विद्वान् हर किसी के सामने इसके रहस्यों को उद्‌घाटित करना उचित नहीं मानते। फिर सबके लिए इसके रहस्यों को जानना सम्भव भी नहीं है। इस शास्त्र के ग्रन्थों का अन्य भाषाओं में अनुवाद करना, उसका इतिहास लिखना और शोध करना सरल है तथा इस दिशा में अनेक कार्य देश-विदेश में हुए भी हैं परन्तु जहाँ तक उसमें निहित रहस्यों की पूरी जानकारी का प्रश्न है इसके लिए गुरु-परम्परा एवम् साधना अनिवार्य है।

काशी अत्यन्त प्राचीन काल से विद्या और साधना का केन्द्र रही है। अतः यहाँ आगम और तन्त्रशास्त्रों का भी पर्याप्त विकास हुआ। ऐसे शास्त्रों की रचना, अध्ययन और परम्परागत विधि से उनकी साधना-पद्धतियों का अभ्यास यहाँ होता रहा है। आज भी यहाँ उच्च स्तर के साधक विद्यमान हैं और उनके सहयोग से जिज्ञासु तन्त्र के साधनापक्ष को समझ सकते हैं तथा इस मार्ग में आने वाली समस्याओं को हल किया जा सकता है।

प्रो. सुधांशुशेखर शास्त्री (संक्षिप्त व्याख्यान)

आगम और तन्त्र दोनों में भेद नहीं है। दोनों का लक्ष्य जनकल्याण है। सिद्ध, साधक एवं शास्त्र इन तीनों का पर्यवसान परमेश्वर में होता है। इसलिए तीनों ही परमेश्वर की ओर उन्मुख हैं। आगम में भी वेदान्त की तरह गुरु की प्रधानता है। यहाँ परमेश्वर स्वयं गुरु बनकर अभिन्नता का उपदेश देते हैं।

मेरे मत में संसार और ईश्वर दोनों को एक साथ सिद्ध करने का प्रयत्न लाभकारी नहीं हो सकता। तन्त्र में भी वेदान्त की भाँति अधिकारिभेद विद्यमान

है। तान्त्रिक साधना के द्वार सबके लिए समानरूप से खोलना उचित प्रतीत नहीं होता है।

प्रो. कमलाकर मिश्र (टिप्पणी)

तन्त्र निर्विवादरूप से साधना का विषय है किन्तु इसका अध्ययन और अनुसन्धान तथा इसके गूढ़ विषयों पर परिचर्चा और संगोष्ठी परमावश्यक है।

साधना का अभ्यास सबके लिए सम्भव नहीं है किन्तु इसमें जो विश्वकल्याण और मानवकल्याण के तत्त्व निहित हैं उनका प्रकाशन भी सामाजिक दृष्टि से उपादेय है, इसलिए तन्त्रागम के अध्ययन में साधना के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी इसकी भाषावैज्ञानिक और ऐतिहासिक अध्ययन-विधि पर बल दिया जाना चाहिये।

डॉ. बेटिना बॉमर (संक्षिप्त व्याख्यान)

आगम, तन्त्र और दर्शन अत्यन्त गम्भीर विषय हैं। ऐसे विषयों पर वरिष्ठ विद्वानों के समक्ष अपने विचार प्रस्तुत करने की योग्यता न होते हुए भी अवसर के महत्त्व को समझकर मैं संक्षेप में अपनी बात कहने का प्रयास करती हूँ।

मैं भारतीय-विद्या और आगम-तन्त्र की एक विनम्र विद्यार्थिनी हूँ। यद्यपि मुझे बनारस में तीस वर्ष हो चुके हैं किन्तु आज भी मैं प्रतिदिन सीख रही हूँ।

मैं तन्त्र की जिज्ञासु कैसे बनी यह प्रश्न मेरे लिए महत्त्वपूर्ण है। आरम्भ में मैं कभी-कभी तन्त्र पर कुछ पढ़ लेती थी। बाद में रुचि बढ़ने पर काश्मीर शैव दर्शन की पुस्तकें फ्रेन्च अनुवाद के साथ पढ़ती थी। फ्रांस की एक बड़ी विदुषी **Lilan Silburn** का बहुत अच्छा सम्बन्ध **ठाकुर जयदेव सिंह** के साथ था। यह मेरा सौभाग्य था कि **ठाकुर जयदेव सिंह** के अतिरिक्त मैंने **पं. गोपीनाथ कविराजजी** से भी तन्त्र का कुछ ज्ञान प्राप्त किया। बाद में वे बीमार हो गये। इसलिए अधिक नहीं सीख पाई। पुस्तकें भी तन्त्र में मेरी रुचि बढ़ाने में बहुत सहायक हुईं।

सौभाग्यवश श्रीनगर, काश्मीर में काश्मीर शैवदर्शन पर कुछ वर्ष पूर्व एक सेमिनार आयोजित हुआ था। उसमें मैं भी इस भावना से उपस्थित हुई थी कि वहाँ मुख्य शैवाचार्यों के दर्शन का अवसर मिलेगा। वहाँ मैं **स्वामी लक्ष्मण जू** के पास इस जिज्ञासा को लेकर गई थी कि काश्मीर शैव दर्शन का सार्थक अध्ययन क्या बिना दीक्षा के हो सकता है? स्वामी जी के निषेधात्मक उत्तर के

बाद मैंने उनसे ही दीक्षा प्राप्त की और इस दर्शन और तन्त्र के अध्ययन, चिन्तन और अनुसन्धान में विशेषरूप से प्रवृत्त हुई। पीठ द्वारा आयोजित की जाने वाली इन गोष्ठियों का भविष्य क्या है, मैं नहीं जानती किन्तु जो लक्ष्य और प्रयोजन बताए गए हैं उनके अनुसार इनकी महत्ता और उपयोगिता को मैं स्वीकार करती हूँ। जहाँ तक तन्त्र के अध्ययन से सम्बन्धित समस्याओं का प्रश्न है, मेरे विचार में कुछ मुख्य बातें विचारणीय हैं-

१. तान्त्रिक सम्प्रदायों की परम्परा और विधि-विधान की शुद्धता की रक्षा कैसे संभव है? हमारे समय में हमारे देखते-देखते अनेक आचार्य और साधक हमसे दूर चले गये हैं। इसलिए सम्प्रदाय की शुद्धता की रक्षा के लिए प्रामाणिक साधक और मार्गदर्शक दुर्लभ होते जा रहे हैं।

२. मेरे मत में, तन्त्र-आगम और भारतीय विद्याएँ केवल भारत के लिए नहीं हैं, केवल पण्डितों के लिए नहीं हैं, बल्कि सब लोगों के लिए हैं और पूरी दुनिया के लिए हैं। इस मान्यता की सिद्धि और क्रियान्वित कैसे हो सकती है? यह विचारणीय है।

३. तन्त्र की पद्धति को शुद्ध रखना भी आवश्यक है किन्तु इसको इतना सीमित भी नहीं किया जाना चाहिए कि इसका कोई जानकार बाद में बचे ही नहीं और यह विद्या लुप्त हो जाय।

४. तन्त्र का प्रचार आवश्यक है और ऐसा करने में इसकी शुद्धता नष्ट होने का खतरा भी सामने है। विदेशों में और भारत में भी तन्त्र के नाम से बहुत-सी ग़लत बातें और प्रयोग होते हैं। पाँच मिनट में कुण्डलिनी जगा देने का वचन देते हैं। हम जानते हैं कि यह सब उचित नहीं है, किन्तु तन्त्र के प्रामाणिक आचार्यों से हम यह आशा करते हैं कि वे समाज को और हमें तन्त्र की सही और गलत बातों में विवेक करना सिखाएँ।

५. आरम्भ में मुझे कहा गया कि वेदान्त ही भारतीय दर्शन का मूल और अन्त है। किन्तु आज पूरे विश्व में जो आध्यात्मिक और भौतिक परिस्थितियाँ हैं उनमें अनेक प्रश्नों का उत्तर वेदान्त नहीं दे सकता बल्कि तन्त्र दे सकता है। अत: तन्त्र दुनिया की अनेक समस्याओं का समाधान करने में समर्थ है और ऐसे तन्त्र का प्रचार कैसे किया जाय यह एक समस्या है। मैं तन्त्र की शुद्धता की रक्षा और इसके प्रचार की आवश्यकता इन दोनों के बीच में खड़ी हूँ। मैं भारतीय दर्शन और तन्त्र पर जर्मन भाषा में जिन पाठकों के लिए लिखती हूँ उनकी कोई

दार्शनिक पृष्ठभूमि नहीं होती किन्तु मेरे सामने समस्या रहती है उस अधिकार-भेद की बात को उन पाठकों को कैसे समझाऊँ, जिसे भारत में बड़ी सहजता से कह दिया जाता है। विदेश के प्रसङ्ग में तन्त्र की बात करते हुए दो समस्याएँ होती हैं- एक तो उस ग़लत को मिटाना या दूर करना जो तन्त्र के ही तथाकथित लोगों ने उनके मन में भर दिया है तथा फिर सम्प्रदाय के शुद्ध विचारों को बताकर उनका विवेक जागृत करना।

तन्त्र के विद्यार्थी के लिए न केवल अध्ययन और साधना आवश्यक है बल्कि अनुसन्धान भी आवश्यक है। अनुसन्धान भी ऐसा होना चाहिए जिससे सबको लाभ मिले और सबका कल्याण हो। मेरी दृष्टि में भारतीयता की मुख्य पहिचान आध्यात्मिक साधना है। मैं इन गोष्ठियों के आयोजन और अन्य विद्वानों के समक्ष अपने अनुभव और विचार के आधार पर विनम्रतापूर्वक तीन सुझाव देना चाहती हूँ-

१. वाराणसी में वर्तमान में उपलब्ध साधकों और उनकी साधना-विधियों का सर्वेक्षण आवश्यक है।

२. वाराणसी के मन्दिरों में जो पूजा-विधियाँ अपनाई जाती हैं उनका किस सम्प्रदाय और शास्त्र से सम्बन्ध है अथवा उनका शास्त्रीय और साम्प्रदायिक आधार क्या है- इसका विचार होना चाहिये।

३. ऐसा वातावरण बनाया जाना चाहिये जिसमें तन्त्र के अध्येता शास्त्र के प्रत्येक वचन और शब्द का गहन अध्ययन और विश्लेषण कर सकें।

डॉ. मार्क

तन्त्र-विद्या में देश, काल, जाति और लिङ्ग का भेद-भाव नहीं किया जाता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से इसके द्वार सभी के लिए समानरूप से खुले हुए हैं, किन्तु व्यवहार में स्थिति भिन्न है। आज तन्त्रशास्त्र के प्रति विदेशी विद्वानों, साधकों और जिज्ञासुओं की रुचि बढ़ी है, वे पूरी ईमानदारी और आस्था से इसके सिद्धान्त पक्ष और क्रियापक्ष को समझना चाहते हैं, किन्तु उनको यहाँ पर्याप्त मार्गदर्शन और सहयोग नहीं मिलता है। इसलिए इनके समक्ष तन्त्र के अध्ययन में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। अतः इस पक्ष पर विचार करके योग्य जिज्ञासुओं की शंकाओं का समुचित समाधान और साथ ही उनकी आस्था को प्रोत्साहन देना आवश्यक है।

डॉ. शीतला प्रसाद उपाध्याय (टिप्पणी)

आगम और तन्त्रशास्त्र के अध्ययन में अनेक बाधाएँ हैं। केवल दसवीं शताब्दी के ग्रन्थों को प्रमाण मानकर सिद्धान्तों की व्याख्या उचित नहीं है। इससे भी प्राचीन साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। दूसरी समस्या सिद्धान्त और प्रयोग के पक्ष को मिलाने की है। किसी ग्रन्थ में सिद्धान्त पक्ष है और पद्धति नहीं तो दूसरी ओर कुछ ग्रन्थ केवल पद्धति को प्रस्तुत करते हैं। अत: इनमें समन्वय कठिन समस्या है। समन्वय के बाद ही परीक्षण के द्वारा उनकी प्रामाणिकता सिद्ध हो सकती है। तीसरी आवश्यकता नये-पुराने ग्रन्थों के मूल स्रोत के अनुसन्धान की है। बहुत-सा साहित्य नष्ट हो चुका है। फिर भी इस दिशा में कार्य होना चाहिये।

ऐसी परिचर्चाएँ प्रोत्साहन और आत्मबल प्रदान करती हैं।

❖ ❖

तनोति विपुलान् अर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्रानं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते।।

कामिकागम, तन्त्रान्तरपटल

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजामुखे।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते।।

सर्वोल्लासतन्त्र, I.१५.

आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः।

वही, I.७.

समस्तशास्त्रकथितवस्तुवैविक्त्यदायिनः।
शिवागमस्य सर्वेभ्योऽप्यागमेभ्यो विशिष्टता।।

तन्त्रालोक, XXII. ८-९.

इह तावत्समस्तोऽयं व्यवहारः पुरातनः।
प्रसिद्धिमनुसन्धाय सैव चागम उच्यते।।

वही, XXXV. १-२.

वेदागमविरुद्धाय वेदागमविधायिने।
वेदागमसतत्त्वाय गुह्याय स्वामिने नमः।।

शिवस्तोत्रावली, II/७.

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपदैर्वाक्यैः तन्त्रं समवतारयत्।।

द्विवेदी, रामचन्द्र, काश्मीर की शैव परम्परा, पृ. १७ पर उद्धृत

आह्निक - ३
आगम-निगम : स्वरूप एवं सम्बन्ध

अध्यक्ष - पं. दत्तात्रेयानन्दनाथ

प्रो. विद्यानिवास मिश्र (प्रधान वक्ता)

आगम और निगम का परस्पर सम्बन्ध अनेक विवादों के घेरे में है। ये एक दूसरे के पूरक हैं अथवा विरोधी? इनमें कोई सामान्य धर्म है या नहीं? पश्चिम के विद्वानों की धारणा अधिकतर यही रही है और उसका बड़ा गहरा प्रभाव हमारे यहाँ के विद्वानों पर पड़ा है कि तन्त्र की धारा अवैदिक धारा है। वे अवैदिक का अर्थ लेते हैं वेद-विरोधी धारा या वेद-निरपेक्ष धारा और उस भाव में हमारे बहुत सारे विद्वान् तन्त्रज्ञ भी बह जाते हैं। लेकिन जब हम आगम और निगम शब्दों के बारे में **वाक्यपदीयकार** की व्याख्या देखते हैं और वे व्याकरण को एक ओर वेद का अङ्ग बताते हैं तो दूसरी ओर इसे आगम बताते हैं, तब उसी व्याकरण के माध्यम से निगम और आगम को जोड़ते हैं क्योंकि शब्द ब्रह्म ही है जो दोनों को जोड़ता है। **भर्तृहरि** ने मन्त्रराशि को अनुवाद कहा। मन्त्रराशि को अनुवाद कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि यह अनुकरण या नकल है, सृष्टि है या सृष्टि की नकल है, ऐसा नहीं है। इसका अर्थ है एक समानान्तर रचना। सृष्टि एक रचना है और यह मन्त्रराशि दूसरी रचना है। इन रचनाओं का परस्पर सम्बन्ध है और एकमात्र यही रचना है जो रचना-प्रक्रिया को समझने में सहायता देती है। सृष्टि के रहस्य का भेदन करने में सहायता देती है। यही इसका महत्त्व है।

यह निगम किस रूप से आगम से पृथक् है? कौन-सी चीज इसमें ऐसी है जो आगम में नहीं है? किस रूप में सृष्टि-संहार की बात वेद में है? जिस रूप में सृष्टि-पूर्व से स्थिति की बात है, सदसद् से विलक्षण की बात है उसी रूप में आगम है। जिस प्रकार वाक्रूपी बीज की अवधारणा वाक् सूक्त में है

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्
मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु
विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि।

वाक्सूक्तम्, १०.१२५

प्रथम प्रेरिका शक्ति के रूप में है, प्रथम सर्जिका शक्ति के रूप में है, वही तन्त्र में भी है, आगम में भी है। बिना उसके वहाँ भी नहीं चलता। वाक् की चार अवस्थाएँ हैं- परा अवस्था, अव्यक्त अवस्था, व्यक्ताव्यक्त अवस्था है और व्यक्त अवस्था। यह आगम में भी है। वहाँ ये इळामही सरस्वती, पार्वती सरस्वती आदि कई नामों से जानी जाती है। वहाँ तीन स्तर हैं और एक स्तर ऐसा है जो अनिर्वचनीय है। यहाँ मध्यमा, वैखरी, पश्यन्ती और परा है और जो सङ्केत कमल के बारे में वैदिक वाङ्मय में हैं, वे पर्याप्त हैं। सृष्टि के प्रतीक के रूप में कमल को ग्रहण करने के लिए और सृष्टि के रहस्य को समझने के लिए, विभिन्न कमलदलों की अवधारणा आगमों में भी है। इसलिए ऐसा नहीं कह सकते कि आगम और निगम का मुख्य प्रतिपाद्य भिन्न-भिन्न है। हाँ, यह जरूर कह सकते हैं कि उनमें विन्यास अलग-अलग है। यह भी कह सकते हैं कि एक निचोड़ा हुआ ज्ञान है इसलिए निगम है और एक निरन्तर प्रसरणशील ज्ञान है, इसलिए आगम है। निचुड़े हुए ज्ञान का अर्थ यह है कि कैसे समस्त ज्ञान को निचोड़ करके अत्यन्त संहतरूप में प्रकाशित किया गया है कि उसमें कोई परिवर्तन किया ही नहीं जा सकता। इसका अर्थ यही है कि जितना उसका Abstraction किया गया है वह चरम का Abstraction है। लेकिन वह किसी की सहायता से प्रसरणशील होता है। अङ्गोपाङ्गों की चर्चा इसीलिए है। पञ्चम वेद की इसीलिए चर्चा है कि उसकी सम्पूर्णता और स्फुटता को समझने के लिए हम उसको अलग-अलग समझें। उसको समझने के प्रकार अलग-अलग हैं। इसलिए जो मूल सम्पदा है वह ज्यों की त्यों है। उसको समझाने वाले अङ्ग अलग-अलग दीख सकते हैं, अलग-अलग लोगों को अलग-अलग प्रकार से दीख सकते हैं। उससे भी नहीं सन्तोष होता है तो पञ्चम वेद की आवश्यकता होती है- **इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थोपबृंहयेत्।** पञ्चम वेद भी आगम ही है। आगम के अतिरिक्त यह इतिहास, पुराण कुछ नहीं है। इसलिए आवश्यकता प्रसरण की है। इसकी आवश्यकता क्रिया-रूप में, साधनरूप में, प्रकाश के रूप में समझ में नहीं आती है। सभी दृष्टियों से आगम, निगम का पूरक भी लगता है। यह निगम के समानान्तर चलने वाला भी नहीं है। दोनों की प्रमाणवत्ता क्या है? यह बात वैसे तो कही नहीं जाती है। किन्तु लोग मानते हैं कि वेद स्वतः प्रमाण हैं। स्वतः प्रमाण मानने का अर्थ यह है कि प्रमाण की प्रमाणता जिससे जाहिर होती है वह क्या चीज है? हमारे यहाँ अन्तिम प्रमाण वेद है। अन्तिम प्रमाण है साक्षात्कार किया हुआ

ज्ञान। यदि प्रमाण का यह लक्षण है तो आगम में भी जो ज्ञान साधना के द्वारा साक्षात्कृत है, वह प्रमाण है। इसलिए आगम भी प्रमाण है। आगम के ज्ञान की जो प्रक्रिया सिद्ध-परम्परा से चली आ रही है वह भी प्रमाण है। प्रमाण को जाँचने के लिए कोई व्यक्ति उपयुक्त है- ऐसा हम नहीं मानते हैं। आगम और निगम दोनों ही दृष्टियों से हम मानते हैं कि एक शब्दराशि है और उसमें निहित है ज्ञान और क्रिया। दोनों ही दृष्टियों से उस शब्दराशि पर साक्षात् अथवा प्रत्यक्ष की मुहर लग चुकी है। इस प्रत्यक्ष के पीछे ओजस्वी तप भी है। उस तप से साक्षात्कार हुआ है, साधारण तप से नहीं। यह प्रत्यक्ष अत्यन्त विशद और दूरदर्शी आँख से हुआ है। इसकी प्रमाणवत्ता को यदि हम स्वीकार नहीं करते हैं तो हमारे लिए कोई आधार नहीं रहता है। अन्यथा हम चक्कर में पड़ जाते हैं, जबकि हमें कोई आधार चाहिए। आधार है मन्त्रराशि। यहाँ भी लगभग वही स्थिति है। केवल अन्तर यह है कि इसमें केवल एक बार का तप और एक बार की साधना नहीं है। तप की एक परम्परा है, साधना की एक परम्परा है और पुनः-पुनः परीक्षण है। पूर्वोत्तर प्रमाण की चर्चा की जाती है इसलिए कहा जाता है कि **अस्मद् गुरुपर्यन्ताम्...**। यहाँ एक व्यक्ति प्रमाण नहीं है। उस पूरी परम्परा में जिस ज्ञान का संसरण होता रहा है और अनुभव का परिष्कार निरन्तर हुआ है। उसमें ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि यह मेरे लिए गुरु या मेरे परम गुरु का अनुभव है। ऐसा कोई पाठ करके नहीं रखा जा सकता है। इसको कोई निजी अनुभव भी नहीं कह सकता है। समग्रता के कारण अनुभव विशद होता है, प्रामाणिक होता है, श्रद्धेय होता है। अन्तर केवल इतना ही है, अन्य नहीं।

निचोड़रूप ज्ञान निगम है। इसे परम सार के रूप में माना गया। निगम याथातथ्यरूप में निहित है। आगम प्रकाश का गतिरूप है।

वेद स्वतः प्रमाण है, आगम परतः प्रमाण। वेद (साक्षात्कार विद्या के द्वारा) अन्तिम प्रमाण हैं। आगम में तप व साधना की परम्परा है तथा उसके परीक्षण की भी परम्परा है।

वाक्यपदीयकार के अनुसार धर्म की अज्ञेयता है किन्तु इसे क्रमशः तथा समग्ररूप से जाना जा सकता है।... निगम में मन्त्ररूप साधन है। आगम में मन्त्र का चैतन्य होना है। वैदिक याग की इतिकर्तव्यता और आगम की इतिकर्तव्यता में समानता है।

धर्म हमेशा अज्ञेय रहता है। क्या करना चाहिए? क्या नहीं? इसका पता ही नहीं चलता है। इसलिए किसको जानें? कैसे जानें? यह प्रश्न उठते हैं। किन्तु एक उत्तर है पहले अपने को जानो, समग्ररूप में जानो। इस जानने की प्रक्रिया में अपना ज्ञाता-भाव छोड़ दो। तुम ज्ञान के साथ एकाकार हो जाओ। जाने हुए शब्दों को सुनते-सुनते व्यक्ति तद्रूप हो जाता है और ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है। यहाँ भी भोक्ता, भोक्तव्य और भोग का भेद समाप्त हो जाय, तब सिद्धि है। उसका प्रयोजन चरितार्थ हो जाता है। इसलिए आगम-निगम दोनों में कोई भेद नहीं है। दोनों का लक्ष्य प्रारम्भ में यह दिखलाना है कि यह वह अङ्ग है, यह अन्य अङ्ग है इत्यादि। फिर सबको समेटते हुए, अनेकता को समेटते हुए एकता में समाहित करना दोनों का लक्ष्य है। जिसे हम विनाश कहते हैं उसमें नश् धातु का अर्थ नाश होना नहीं, अपितु लोप होना है। विनाश अर्थात् विशेषरूप से ओझल होना है। प्रलय एवं संहार का भी यही अर्थ है। यहाँ अर्थ है खुले हुए को मुकुलित करना, कमल के हजारों दलों को सम्पुटित करना। वस्तु वही रहती है, परन्तु भेद की प्रतीति नहीं रहती है। विभक्ति की प्रतीति नहीं रहती है- **अविभक्तं विभक्तेषु**।

यह ज्ञान दूसरे प्रकार का ज्ञान है। सात्विक ज्ञान वह है जिसमें सर्वभूत हो। भूत के अनेक अर्थ हैं- जैसे प्राणी, महाभूत। और अस् धातु से भी भूत बनता है। इसलिए अस् की पूर्णता ही भूत है। सर्व में जो बहुवचन दिखाई देता है, सत्ता के स्तर पर उनमें जिसके द्वारा एक अद्वयभाव देखा जाता है, एक जैसा होने की आकांक्षा देखी जाती है, जो है उससे अधिक विस्तृत। सरूपतः भिन्न नहीं, लेकिन एक समावेश होने के लिए एक सीमा से मुक्त होने की आकांक्षा रहती है किन्तु वह आकांक्षा कभी चुकती नहीं है। पूर्ण में से पूर्ण निकाल दिया तो पूर्ण ही बचेगा- ऐसा कहा जायेगा तो पूर्ण बचेगा कैसे? पूर्ण की अवस्था का अर्थ है निरन्तर भरना। भरने की यदि सीमा आ जाय तो भरने का कोई अर्थ नहीं। भरने की आकांक्षा कभी घटना नहीं चाहिए।

एक बार की एकाग्रता में उससे तादात्म्य हो जाय तो भी सन्तोष न हो। पुनः नये अनुभव के द्वारा तादात्म्य का प्रयास करें। फिर भी सन्तोष न हो क्योंकि ज्ञान का स्वभाव 'निरन्तर होना' होना चाहिए। एक बार जो मिल जाय वह ज्ञान कैसे है? क्योंकि यहाँ कोई प्राप्ति नहीं है। जिस ज्ञान की बात वेद में कही गयी है वह ज्ञान साधारण ज्ञान से भिन्न है। वेद और आगम में जिस ज्ञान की बात है वह ऐसा ही है और तत्त्वतः एक है। उसकी प्रतीति कराने के

लिए साधनों में अन्तर है, उपायों में अन्तर है। दोनों के साधन मन्त्र-प्रधान हैं। वेद में **मन्त्रात्मकाः देवाः** कहा जाता है। देवताओं का सबसे अधिक विश्वसनीय आकार मन्त्र है। मन्त्र का उच्चारण करने मात्र से देवता हैं। उच्चारण अर्थात् मन्त्र के साथ जब पूर्ण मनोयोग होता है तो देव-शक्ति का उद्भव होता है। आगम की भाषा में कहा जाता है कि मन्त्र का चैतन्य होता है। तो शब्दावली में थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य है। परन्तु उसी मन्त्र के आकार का जो देवता होता है, मन्त्र के जागरण की जो प्रक्रिया है, वही प्रकाश-तत्त्व है। देवता का अर्थ प्रकाश-तत्त्व है। प्रकाशित होने से यह शब्द निकला है तो उस प्रकाशतत्त्व के साथ तादात्म्य होने की प्रक्रिया ही देवता है और उसको देखने की प्रक्रियाएँ ऋषित्व हैं- **ऋषिर्दर्शनात्**। तो अन्तिम क्या हुआ? कुछ नहीं। हम अगर इस प्रकार करोड़ों-करोड़ों बार ध्याये हुए अत्यन्त शक्ति-सम्पन्न शब्दात्मक रूप का ठीक तरह से मनन करते हैं, प्रयोग करते हैं, उच्चारण करते हैं तो उससे अपने आप जो ऊर्जा मिलती है, जो हमारा स्वरूप-परिवर्तन हो जाता है उससे हमारा आकाश विस्तृत हो जाता है। हम घटाकाश में नहीं रहते। वही सबसे अधिक वांछनीय स्थिति होती है। यह एक बात है।

दूसरी बात यह है कि आगम को बहुत हेय दृष्टि से देखने वाले लोग भी हैं। इसमें एक इन्द्रिय-विलास का तत्त्व मौजूद है।

छान्दोग्य उपनिषद् का आख्यान है कि जब भूखा रहता है, प्यासा रहता है; अकेला रहता है। यही उसकी यज्ञ में दीक्षा होती है। अब क्या है? इन सांसारिक ऐन्द्रिय अनुभव की जो अपर्याप्तता है, इसका जब आभास होता है, यहीं से जीवन शुरु होता है। इसमें ही उसका संसार समाप्त हो गया। जो यहाँ से यात्रा करता है कि नहीं यह काशी नहीं है। हमें तुम्हारा रत्न, अश्व, हार नहीं चाहिए। हमें तुम्हारी चीज़ें नहीं चाहिए, यह पर्याप्त है, यह पर्याप्त नहीं है। तो पर्याप्त वस्तु चाहिए तो यहाँ से शुरू होती है दीक्षा। और उसका उपसव्य (?) है शस्त्र। अन्तिम आहुति ही शस्त्र है और सत्कार के साथ जो अन्तिम बार आहुति दी जाती है और उस आहुति में जो **अहं जुहोमि** होता है और परस्मैपद का प्रयोग नहीं होता है- **ये वयं यजामहे इदं षट्**। ये जो हम यज्ञ कर रहे हैं अपने लिए कर रहे हैं, दूसरे के लिए नहीं कर रहे हैं। ऋत्विक् को ऐसा नहीं कहना चाहिए। दूसरे के लिए कर रहा है। **यजामहे** के स्थान पर **यजामह** कहना चाहिए। हम सर्वमय होकरके कह रहे हैं और सर्वात्म के लिए कर रहे हैं, सर्वात्मना कर रहे हैं। सर्वात्मा होकर कर रहे हैं तो बिल्कुल इसमें आत्मनेपदी होगा। कर्तृर्थ

फल इसमें है और जब आहुति देते हैं तो सम्पूर्णता का सम्पूर्णता में समर्पण होता है। वह जो विधान है वह तान्त्रिक योग के विधान से कुछ अलग नहीं है।

अहं ब्रह्मास्मि ब्रह्मास्मि होकर के **... अहं माम् ...स्वाहा** ब्रह्म हो जांय फिर हम स्वाहा करें, छोटी-सी आहुति नहीं, अपने भीतर के सम्पूर्ण की आहुति दे रहें हैं। दोनों में क्या अन्तर है? कोई अन्तर नहीं। इसमें संवादी सूत्रों को देखने का प्रयत्न नहीं हुआ है। सतही बातों को लेकर लोग अड़े हैं। केवल विरोध-विरोध देखा है और यह मान लिया है वैदिक धारा बिल्कुल अलग है, तान्त्रिक धारा अलग है। ऐसा कुछ नहीं है। वहाँ भी **परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः।** यह सिद्धान्त है कि देवता पीछे रहते हैं, प्रत्यक्ष नहीं होना चाहते हैं। देवता परोक्षद्विष होने का अर्थ यह है कि वह ऐन्द्रिक प्रतीति के विषय नहीं हैं। इन्द्रियों से परे हैं। इसका अर्थ है कि इन्द्रियों की सीमा है, संसार की सीमा है, उस सीमा का ज्ञान संसार में रहते हुए हो जाता है, सामग्री तो उन्हीं से प्रतीत होने वाली वस्तुएँ रहती हैं लेकिन प्रत्येक वस्तु की ऐन्द्रियता समाप्त कर दी जाती है। यज्ञ होता है, पूजा होती है तो उसकी ऐन्द्रियता समाप्त कर दी जाती है। है तो इन्द्रिय-गोचर ज़रूर, इन्द्रिय भोग्य भी है किन्तु विषय नहीं रह जाता है। उसमें या तो चिन्मयता आ जाती है या विशेष प्रकार की सजीवता आ जाती है। जैसे मान लीजिए किसी इलेक्ट्रिक से Charge कर लिया उसको। तो वस्तु में सम्भावना होगी तभी रूपान्तर होगा। कहीं दूसरा होने की सम्भावना उसमें है तभी तो रूपान्तर होगा। मिट्टी में घट है तभी तो घट बनेगा। सोने में कटक है तभी तो कटक बनेगा। रूपान्तर की जितनी सम्भावना रहती है, उसी में रहती है। उस रूपान्तर की प्रक्रिया कैसी है? क्रमिक है- इस पर विचार करना चाहिए। मैं मात्र प्रश्न रख रहा हूँ और इसको **प्रपञ्चसारतन्त्र** और **परशुरामकल्पसूत्र** से जोड़कर विचार करना चाहिये। वैदिक में विशेषरूप से **वामदेवसूक्त** है। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। **ऐतरेयब्राह्मण** के बहुत सारे मन्त्र हैं, वाक् सूक्त है, बृहस्पति सूक्त है, नासदीय सूक्त है, हिरण्यगर्भ सूक्त है, सौमनस्य सूक्त है और सबसे महत्त्वपूर्ण सूक्त हैं कामसूक्त और काल सूक्त। इस सबको मिलाएँ और दूसरी ओर तन्त्रसाधना के ग्रन्थों को लें। **परशुरामकल्पसूत्र** (१.१२) में यह बात कैसे प्रतिभासित होती है? **आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च देहे व्यवस्थितम् इन्द्रियाणि शुचः सर्वाणि द्रव्याणि।** यह सारा का सारा रूपक है। उनको यहाँ वहाँ देखें तो मालूम होगा कि देश-काल भेद से सामग्री की सुलभता-असुलभता से ये सारे परिवर्तन होते रहते हैं। याग की प्रक्रिया में ही बहुत सारे परिवर्तन हुए। याग

जितना प्रतीकात्मक था उससे भी अधिक सूक्ष्म प्रतीकात्मक हुआ। यह यात्रा स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती है, सूक्ष्म से सूक्ष्म को समझाने के लिए होती है।

असत् मार्ग से जाकर के फिर सत् की ओर जाते हैं तो शुरुआत में असत् को स्वीकार करना पड़ता है। जिस रेखा को हम रेखागणित में लेकर चलते हैं वो रेखा है ही नहीं क्योंकि उसकी परिभाषानुसार जो रेखा होगी, बनेगी ही नहीं, जिस बिन्दु की बात करते हैं वो बिन्दु बनेगा ही नहीं तो ग़लत बिन्दु, ग़लत रेखा से हम पूरी त्रिकोणमिति, ज्यामिति पढ़ जाते हैं। शुरु करना पड़ता है तो शुरु करने के लिए जो भी संसार है, उसकी हेयता नहीं, उपादेयता है। इस देह की भी उपादेयता है क्योंकि जो ब्रह्म का परमरूप है, उससे उत्कृष्ट रूप है आनन्द। वह इस देह में ही है। वह कैसे लक्षित होगा? आपके अश्रुपात, रोमांच, चेहरे के विकास में लक्षित होगा। कहाँ लक्षित होगा? उसके लक्षित होने का कोई उपाय है ही नहीं। **श्वेताश्वतरोपनिषद्** में योग का लक्षण कहा कि योग कैसे पता चलेगा, कहाँ निर्मलता आएगी? कैसे पता चलेगा? हरेक आदमी कैसे समझेगा? उसका प्रमाण कहाँ मिलेगा? तो प्रमाण उसके आचार में, चेहरे की क्रिया में, उसकी वाणी में इन सब में प्रमाण मिलता है और इनकी एक व्यवस्थिति है और इन्हीं के माध्यम से पता चलता है कि यहाँ आनन्द है। आत्माराम मुनियों की पहिचान ऐसे ही बनती है। तो बनेगी तो शरीर से ही बनेगी। चाहे कितनी ही पहिचान वो अपनी समाप्त कर चुके होंगे किन्तु उनके आनन्द-स्वरूप की पहिचान उनके शरीर से ही होगी। इसलिए यह देह साधन मात्र होने पर भी अत्यन्त महत्त्व रखती है। यह केवल दुर्ग नहीं है, यह कुछ और भी है। यह एक मुक्ति-द्वार भी है, केवल बन्धन नहीं है। इसलिए इन दृष्टियों से जो चीज़े वैदिक वाङ्मय में एक दूसरी भाषा में कही गई हैं और अधिक सन्निहित, सांकेतिक, संक्षिप्त भाषा में कही गई हैं कि एक अर्थ की सौ-सौ अधिक परतें हैं, उनको खोलकर के या खोलते हुए यह चेतावनी दी गई है कि यह विषय बड़ा गोप्य है। अर्थात् कुछ कम ही खोला गया है, वहाँ भी सब कुछ नहीं खोला गया है। सब कुछ नहीं खोलने का अभिप्राय यह नहीं है कि वे ज्ञान को गुप्त रखना चाहते हैं बल्कि उनका प्रयोजन यह है कि करते हुए सीखो और तब बताया जाए। तुम तटस्थ होकर के जानो। तुम तमाशा देखने वाले हो तब नहीं बताया जाए। एक-एक पद, सोपान पर चढ़ो। मैं अपनी बात आज यहीं समाप्त करता हूँ और मैं यह चाहता हूँ कि आज तो केवल मैंने प्रारम्भिक वक्तव्य दिया है। किन्तु यहाँ पर उपस्थित विद्वान् हैं वे विचार करें कि कहाँ सूत्र है दोनों को मिलाने के? मिलाने

से जो उपकार होता है वह यह है कि हमारी आज की समस्त विधि न केवल वैदिक मन्त्रों पर आधृत है और न शुद्ध तान्त्रिक मन्त्रों पर आधृत है। दोनों को एक-दूसरे में ओतप्रोत कर दिया गया है। हाँ, हमारी प्रक्रिया में आज तक यज्ञ भी बना हुआ है और हमारी प्रक्रिया में पूजा भी है, दोनों साथ-साथ चलते हैं। तो आज जो हमारी साम्प्रतिक स्थिति है, साधना की स्थिति है, हमारी विचारधारा की, सोचने, क्रिया, कला, रचनात्मक साहित्य की स्थिति है सबमें वेद और तन्त्र एक दूसरे से घुल-मिल गए हैं। यह **कालिदास** से ही शुरू हो जाता है। **कालिदास** को ध्यान से पढ़ें तो सारे प्रमाण एक व्यक्ति में ही मिल जाते हैं। वेद की सम्पदा भी दिखती है और तन्त्र की सम्पदा भी। विरोध की शान्ति तो पहले से ही दीखती है, आज और दीखना चाहिए, यही इसका फलितार्थ होगा। धन्यवाद!

पं. दत्तात्रेयानन्दनाथ (अध्यक्षीय)

प्रमुख बिन्दु-

- **परशुरामकल्पसूत्र** के रचनाकार **परशुराम** २४ अवतारों में से एक हैं। **दत्तात्रेय, हरिगिरि** आदि अन्य अवतार हैं। **त्रिपुरारहस्य** में इनके अवतार का प्रसङ्ग वर्णित है।
- **दत्तात्रेय** भगवान् के पास **परशुराम** गए और उनसे दीक्षा ली। उन्हें पञ्चदशी मन्त्र का उपदेश मिला। चार अवतारों ने लोककल्याण के लिए श्रीविद्या का उपदेश दिया। किन्तु भेद यह है कि भगवान् **परशुराम** ने इस साधना में सुगमता लाने और शीघ्र लाभ होने के लिए विशेष प्रयत्न किया।
- आज **परशुरामकल्पसूत्र** के आधार पर ही आगम-तन्त्र की उपासनाएँ चलती हैं।
- **भास्कराचार्य** से लेकर आज तक के सभी आचार्य **परशुरामकल्पसूत्र** को प्रमाण मानते हैं।
- **अथाऽतो दीक्षां व्याख्यास्यामः** से **परशुरामकल्पसूत्र** का प्रारम्भ वैसे ही होता है जैसे **अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा** से **ब्रह्मसूत्र** और **अथाऽतो धर्मजिज्ञासा** से **धर्मसूत्र** का प्रारम्भ होता है।
- धर्म का सम्बन्ध आचरण से है और इसका स्वरूप जानने के लिए तन्त्र या **परशुरामकल्पसूत्र** जैसे ग्रन्थों की उपयोगिता है। इसके अनुसार पहले दीक्षा, फिर उपासना।

- निगमागम में तत्त्व का नहीं, विधि का पार्थक्य है।
- **परशुरामकल्पसूत्र** में वेद के मन्त्र हैं। तन्त्रों में बीजमन्त्र, नमः, स्वाहा आदि की अपनी विधि है। वैदिक याग में तदर्थ प्रतिपादक मन्त्रों का उपयोग होता है।
- तन्त्रों को सुरापान के कारण वेदविरोधी के रूप में बदनाम किया गया। किन्तु वेदों में सोमयाग व पशुयाग नहीं है क्या?
- वेद और तन्त्रों में समन्वय है। परम्परा से आचार्यगण इस पर विचार करते आए हैं। वस्तुतः तन्त्र की उपासना तिरोहित हो गई। तन्त्र का वास्तविक स्वरूप लोगों के समक्ष आया ही नहीं।
- **मनुस्मृतिकार** श्रुति को द्विविध मानते हैं वैदिकी और तान्त्रिकी।
- **ब्रह्मसूत्र** के टीकाकार **श्रीकण्ठ** ने **ब्रह्मसूत्र** की शिवपरक व्याख्या की है।
- मन्त्र और ब्राह्मण का ही नाम वेद है। ब्राह्मण भाग कहता है कि मन्त्रों का इस प्रकार विनियोग (यज्ञ) करोगे तो वे कामधेनु हो जाएँगे। खूब यज्ञ हुए और कर्मजड़ता आई। कर्म करते-करते भी तृप्ति नहीं होगी। मुक्त होने से ही आनन्द की प्राप्ति होगी। इसलिए फिर कर्मत्याग का विधान आया। फिर आरण्यक और उपनिषद् भाग निकले। इनमें सब विद्याएँ हैं। इनमें प्रतिपादित विषयों के चिन्तन का आधार है आगम-तन्त्र।
- सब तन्त्रों की अवतरणिकाएँ एक प्रकार की हैं। वे शिव-परिवार की हैं। किन्तु **प्रपञ्चसारतन्त्र** की अवतरणिका उनमें भिन्न है। इसमें **ब्रह्मा, विष्णु, महेश** ने **महाविष्णु** से स्तुति की है। **महाविष्णु** ने शक्ति का रूप धारण किया है। तीनों देवता इस शक्ति से पूछते हैं कि **वयं कुत आयाताः**? हम कौन हैं और कहाँ से आए हैं? भगवती कहती हैं कि **यूयम् अक्षर-सम्भूताः**। आप अक्षर से उत्पन्न हुए हैं। वाणी से संसार की उत्पत्ति की बात वेदों में सूत्ररूप में आई है और तन्त्रों ने इसका विशद विवेचन किया है। इसलिए **प्रपञ्चसारतन्त्र** को भी वेदों के साथ जोड़ा गया है।
- तन्त्रों के जितने सिद्ध प्रयोग हैं उनको भगवान् **शङ्कराचार्य** ने **प्रपञ्चसार** में एकत्र किया है। इसके दर्शन भाग में वाक् तत्त्व पर विचार किया गया है।
- **शङ्कर** को वैदिक माना जाता है किन्तु जब उन्होंने स्वयं तन्त्र का प्रचार-प्रसार किया तब तन्त्र को वेदविरुद्ध कैसे माना जा सकता है? इसी प्रकार **सौन्दर्यलहरी, दक्षिणामूर्तिस्तोत्र** आदि भी आचार्य **शङ्कर** के तन्त्र-ग्रन्थ हैं।

वैदिक सिद्धान्त में गुरु तत्त्व का ज्ञान देता है ताकि तत्त्व प्राप्त किया जा सके। किन्तु तन्त्र में गुरु साक्षात् शिवस्वरूप है। तन्त्र में दूसरा कोई ब्रह्म नहीं है। इसीलिये भगवान् **शङ्कर** ने गुरु **दक्षिणामूर्ति** की शिवरूप में स्तुति की है। इसलिये यह आगम का ग्रन्थ है। अतः **शङ्कराचार्य** की परम्परा न वेद-विरुद्ध है और न तन्त्र-विरुद्ध। अतः वेदों व तन्त्रों का एक साथ चलना ही आवश्यक और उचित है।

वेदों में सोममेध, अश्वमेध आदि होते हैं किन्तु तन्त्र का साधक विश्वमेध यज्ञ करता है।

वेदान्त संसार के त्याग की बात करता है जबकि तन्त्र कहता है कि एकता में अनेकता है, अनेकता में एकता। अहन्ता में इदन्ता का आह्वान तान्त्रिक विधि है। इसी से पूर्णता आएगी।

डॉ. हृदयरञ्जन शर्मा (धन्यवाद)

आगम-निगम का परस्पर सम्बन्ध और उसकी विविध विधाएँ अपने में अत्यन्त ही गूढ़ विषय हैं। इस पर वैदिक साहित्य के विद्यार्थी के रूप में (वेद की दृष्टि से) निगम-आगम का जो अविनाभूत सम्बन्ध है उसका संकेत मैं करूँगा। वक्ता ने अपने व्याख्यान के समापन क्रम में जो संकेत दिया- **एकं च द्विधा कृत्वा द्विधां कृत्वा च अनेकधा।** यह अत्यन्त ही मूल सूत्र है। हमारे यहाँ वेदों में चर्चा आती है पवित्र निर्माण की। यज्ञ में यदि कोई पवित्रतम वस्तु है, तो वह है कुशद्वय। **शतपथब्राह्मण (बृहदारण्यकोपनिषद्)** में उसकी चर्चा है- **पवित्रे करोति। पवित्रेस्थो वैष्णव्याविति यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञीयेस्था इत्येवैतदाह। ते वै द्वे भवतः, अयं वै पवित्रं योऽयं पवते। सोऽयमेकऽइवैव पवते। सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टः प्राङ्च प्रत्यङ्च ताविमौ प्राणो दानौ।**

शतपथब्राह्मण, १.१.३,१-२.

पवित्र जो निर्माण है वो पवित्र कुशद्वय दो होते हैं। यहाँ यही वो दो क्यों होते हैं? चर्चा करते हुए बतलाया कि- **योऽयं पवते स एकः।** ये जो वायु है वह एक, अखण्ड स्वरूप वाला है। आख्यान है कि वृत्रासुर वध होता है और वृत्र मारा जाता है और पूरी जलराशि में वह आवरण करके छा जाता है। फिर वह ऊपर तैरता हुआ किनारे आ गया और किनारे आकर वह इस पवित्र कुश के रूप में उत्पन्न हो गया। यज्ञ की समस्त सामग्री को यह कुश पवित्र करता है। उसके निर्माण की विधि से उसका द्वैधी भाव अत्यन्त आवश्यक है

और वह जो पवित्र मेध तत्त्व है वह अखण्ड वायुरूप है। उसका द्वैधी भाव जब होता है तब वह क्रियाशील होता है, व्यावहारिक सत्ता में आता है और वह व्यावहारिक सत्ता, इस **शतपथ ब्राह्मण** के आख्यान के निर्देश के अनुसार समन्त्रक विधिपूर्वक द्वैतभाव को प्राप्त करती है।

प्रश्न है कि द्वित्व, दो ही क्यों, तीन क्यों नहीं? फिर आगे चर्चा है कि- दो ही का औचित्य है, उसमें बताया- यह जो अखण्डरूप, एकात्मक वायु है, इसको जब क्रियाशील, सृष्टिमुख होना होता है- वह प्राण-अपानरूप द्वित्व को प्राप्त करता है। प्राण-अपानरूप वायु का जो द्वैधी भाव है वह क्रियाशील होकर इस समस्त जगत् को अपने पवित्र भाव से आप्लावित करता है। वही मेध भाव मन्त्रों के माध्यम से द्वित्व रूप से इस कुशद्वय में स्थित होता है और वह कुशद्वय पुन: जो प्रोक्षणी का जल है, उसे शुद्ध करता है। प्रोक्षणी के जल से समस्त यज्ञ-पात्र शुद्ध होते हैं। इस प्रकार से जो द्वित्व का स्वरूप दिया- एक से दो और दो से अनेक, उसका मूल संकेत हमारे निगम के **शतपथब्राह्मण** में है। इसकी चर्चा **ऋग्वेद** और **यजुर्वेद** में भी है। निगम और आगम के सम्बन्ध व उसके अविनाभाव स्वरूप के सम्बन्ध में बड़े स्पष्टरूप में अनेक मन्त्रों में इसकी चर्चा है। यथा- **स ऐच्छत एकोऽहं बहु स्याम। स एकाकी न रमते स द्वैधा आत्मानम् अपातयत्।** इत्यादि।

❖ ❖

मोक्षस्य नैव किञ्चिद् धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः।।

परमार्थसार, ६०.

अश्नन् यद्वा तद्वा संवीतो येन केनचिच्छान्तः।
यत्र क्वचन निवासी विमुच्यते सर्वभूतात्मा।।

वही, ६९.

तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन्देहम्।
ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः।।

वही, ८३.

शिवो दाता शिवो भोक्ता शिवः सर्वमिदं जगत्।
शिवो यजति यज्ञश्च यः शिवः सोऽहमेव हि।।

उद्‌धृत, द्विवेदी रामचन्द्र, **त्रिकदर्शनम्**, पृ. ६३.

आह्निक - ४
तन्त्रशास्त्र में अर्द्धनारीश्वर की अवधारणा

अध्यक्ष - पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी

डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास (संयोजक द्वारा पूर्वपीठिका)

अर्द्धनारीशरीराय अव्यक्ताय नमो नमः। लिङ्गपुराण, १८.३०

अर्द्धनारीश्वर **शिव** और **पार्वती** के अभेद का प्रतीक है। **शिव** को पुरुष और स्त्री दोनों माना जाता था ऐसा **मत्स्यपुराण** (६०.२२) का कथन है। इसी में (१२७.१२) कहा गया है कि ब्रह्मा के वरदान से **पार्वती शिव** के साथ संयुक्त हो गई। **वायुपुराण** (२४/४१) में **शिव** को पुरुष व स्त्रीरूपधारी बतलाया गया है। **मत्स्यपुराण** के अध्याय २६० में शिवमूर्ति के निर्माण के निर्देश हैं। दाँया पक्ष पुरुषाकार है। इसमें **शिव** के जटा-जूट, वासुकि, हाथ में कमण्डलु या नरकपाल और त्रिशूल तथा कटिप्रदेश में कृत्ति वस्त्र या पीत वसन दर्शाया जाता है। बाँया पक्ष स्त्री के स्वरूप का है। स्त्री के लिए उचित वस्त्र, सिर पर मुकुट, भुजा तथा कण्ठ में आभूषण रहते हैं। इस स्वरूप की एक साथ उपासना का निर्देश है। वास्तव में **शिव** की तीन प्रकार की मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं— मानवाकार, लिङ्गमूर्ति और अर्द्धनारीश्वर। यही नहीं **मत्स्यपुराण** में **शिव** और **विष्णु** की संयुक्त मूर्ति का उल्लेख भी मिलता है, किन्तु यह स्वरूप बहुत अधिक प्रचलित नहीं हुआ। बायामी के कन्दरा मन्दिर में **शिव** और **विष्णु** की मूर्ति उपलब्ध है। पौराणिक साहित्य में दोनों के सन्दर्भ में इस प्रकार के वचन भी उपलब्ध होते हैं—

अन्यभक्तसहस्रेभ्यो विष्णुभक्तो विशिष्यते।
विष्णुभक्तसहस्रेभ्यो रुद्रभक्तो विशिष्यते।।
रुद्रभक्तात् परतरो नास्ति लोके न संशयः।

लिङ्गपुराण, २.४.२०.

ये यं मूर्तिर्भगवतः शङ्कर आस स्वयं हरिः।।

वराहपुराण, ९.७

पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती (प्रधान वक्ता)

अर्द्धनारीश्वर पर मेरे विचार उन आचार्यों और लेखकों की व्याख्या पर आधारित हैं– जिन्होंने मूलग्रन्थों में विषय को ठीक से जाना और समझा है। मैं अपने आपको योग्य नहीं मानता जिससे यह कह सकूँ कि मैंने मूलग्रन्थों का विधिपूर्वक अध्ययन किया है और उनको सही रूप में समझा है। मैं सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों का विशेषज्ञ नहीं हूँ। इसलिए शास्त्र और उनकी व्याख्या करने वालों के विचारों को अपनी भाषा में प्रस्तुत करना मेरा ध्येय है।

आज चारों ओर विज्ञान और भौतिकता का परिवेश है। इसमें सांस्कृतिक मूल्य धूमिल होते जा रहे हैं। भौतिकता की चकाचौंध में सांस्कृतिक चिन्तन का प्रवाह मन्द अथवा क्षीण हो गया है। इतिहास में कई बार भौतिकता ने आध्यात्मिकता को पीछे ढकेला है।

शिव की मूर्तियाँ **ब्रह्मा, विष्णु** और **महेश** तीनों के सम्मिलित रूप का प्रतिनिधित्व करती हैं। मूर्तिपूजन से केवल बाह्य लाभ ही नहीं होता बल्कि इसका तात्पर्य आन्तरिक लाभ में है। अर्द्धनारीश्वर मूर्ति का विस्तार से वर्णन पुराणों, **तत्त्वचिन्तामणि** और **शारदातिलक** आदि ग्रन्थों में मिलता है। ये मूर्तियाँ किस प्रकार बनाई जाएँ तथा किस प्रकार इनकी स्तुति की जाए इसका वर्णन भी इन ग्रन्थों में मिलता है। अर्द्धनारीश्वर उसी रूप में संयुक्त हैं जैसे वाणी और अर्थ। शैवतन्त्र के सम्प्रदायों में इस प्रतीक को सर्वाधिक महत्त्व कापालिकों ने दिया है। **तत्त्वचिन्तामणि** के अनुसार महानाद **शिव** का अर्द्धभाग है।

अर्द्धनारीश्वर की तान्त्रिक अवधारणा को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखना आवश्यक है। ये मूर्तियाँ मन्दिरों में कम और संग्रहालयों में अधिक मिलती हैं जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हें समाज की ओर से अपेक्षित मान्यता और प्रतिष्ठा नहीं मिली।

प्रो. विश्वनाथ भट्टाचार्य (प्रश्न)

(१) शैवतन्त्र में अर्द्धनारीश्वर और बौद्ध तन्त्र में स्वीकृत युगनद्ध शब्द व्याकरण-सम्मत नहीं हैं। अर्द्धनारीश्वर में अर्द्ध का सम्बन्ध किसके साथ मानना उचित है?

(२) युगनद्ध शब्द से इसका क्या सम्बन्ध है?

(३) शालिग्राम को सभी देवताओं का प्रतीक क्यों माना जाता है?

(४) प्रतीक और प्रतिमा में क्या भेद है?

प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी (उत्तर एवं टिप्पणी)

भारतीय तन्त्र-शास्त्र के प्रतीकों को बिना शास्त्रीय पृष्ठभूमि के नहीं समझा जा सकता। शैवतत्त्वमीमांसा के अनुसार एक पूर्णतत्त्व, एक से द्विधा और द्विधा से अनेकधा प्रकाशित होता है। अमूर्त ही समूर्त के रूप में परिणत होता है।

प्रतीकों की मान्यता को फ़ैशन के रूप में समझने का प्रयास अनुचित है। प्रतीक और प्रतिमा में स्पष्ट ही भेद है। यन्त्र, मण्डल और प्रतिमा अभेद के सूचक हैं, जबकि प्रतीक से भेद का बोध होता है। शिवलिङ्ग के अद्वयरूप को समझने के लिए मूर्त और अमूर्त शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जिस प्रकार भाषा अपने आरम्भिक और पूर्णरूप में एक होते हुए भी भेदरूप में दिखाई देती है, इसी प्रकार उपासना में भी आन्तरिक एकता है और बाह्यरूप में अनेकता है।

प्रो. कमलाकर मिश्र (उत्तर एवं टिप्पणी)

अर्द्धनारीश्वर एक कल्पना है। यद्यपि सत्य को बुद्धि से जाना और समझा जा सकता है किन्तु हृदय में उतारने के लिए कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है। अर्द्धनारीश्वर की प्रतिमा **शिव** और शक्ति के आधे-आधे रूप को नहीं पूर्ण रूप को बताती है अर्थात् यहाँ **शिव** भी पूर्ण है और शक्ति भी पूर्ण है। भारतीय साहित्य और कला में भी इस प्रकार के अन्य प्रतीकों को लिया गया है। अर्द्धनारीश्वर में स्वातन्त्र्य शक्ति के कारणरूप का नानात्व है और इसीलिए स्त्रीतत्त्व की प्रधानता मानी गई है। सृष्टि के प्रसङ्ग में इन दोनों अर्थात् पुरुष और स्त्री का ऐक्य, विस्तार और आनन्द दोनों का प्रतीक है। जहाँ तक बौद्ध तन्त्र की युगनद्ध की अवधारणा का प्रश्न है उसमें प्रतीकों के अर्थ बदल गये हैं। वहाँ नारी ज्ञान का और पुरुष शक्ति का प्रतीक माना गया है।

वास्तव में इस प्रकार के भेद का कारण मानव का मनोविज्ञान है। पुरुष, शरीर के कारण शक्तिमान् माना जाता है और नारी भावना के बल पर अपना महत्त्व स्थापित करती है। इन दोनों के ऐक्य के बिना सृष्टि की उत्पत्ति और निर्वाह सम्भव नहीं है।

डॉ. रमा घोष (टिप्पणी)

स्त्री को केवल भावात्मकता का प्रतीक मानना उचित नहीं है। अपितु वह सृजनशीलता की द्योतक है। शिल्पकार ने सृजनशीलता के लिए ही, नारी को प्रतीक के रूप में चुना। वास्तव में प्रतीक किसी की कल्पना मात्र होता है।

डॉ. कमलेशकुमार जैन (टिप्पणी)

अर्द्धनारीश्वर में नारी पक्ष करुणा और पुरुष पक्ष कठोरता का प्रतीक है।

पं. वासुदेव द्विवेदी (टिप्पणी)

मानव जीवन में चित्त और आनन्द की शुद्धि के लिए प्रार्थना और अभ्यास की आवश्यकता है।

पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी (टिप्पणी)

अर्द्धनारीश्वर का प्रतीक वाणी और अर्थ की तरह प्रकाश और विमर्श का प्रतीक है। शब्द के भी तीन मार्ग हैं– वर्ण, पद और मन्त्र तथा अर्थ के भी तीन मार्ग हैं– कला, तत्त्व और भुवन। इस प्रतीक की युगनद्ध या यामलभाव से तुलना नहीं की जा सकती है। शैव सिद्धान्त ने यामलभाव की कल्पना मानसिक तरलता को पैदा करने के लिए की। कौल तन्त्र में **शिव** की प्रधानता है और क्रमशाखा में शक्ति की प्रधानता है। **शिव** ने ही **शिवा** को तन्त्र का उपदेश दिया– यह कल्पना परवर्ती है तथा विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती। बौद्ध तन्त्र पर कौल और क्रम शाखाओं के प्रभाव दिखाई देते हैं।

शालिग्राम की मूर्ति में सभी देवताओं के समावेश का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति जिस भावना से प्रतिमा को देखता है उसे प्रतिमा में वही रूप दिखाई देता है।

डॉ. प्रकाश द्विवेदी ने अपनी पुस्तक की सूचना दी तथा संक्षेप में उसके विषय पर प्रकाश डाला-

पुस्तक- अर्द्धनारीश्वर- एक कथा एक खोज A Rediscovery of Man The Mesoman Theory of evolution of MAN

विषय- नारी-पुराण- अर्द्धनारीश्वर पुराण

प्रकाशक- Dr. Homi Bhabha Science Club Keshav Nagar, Kanpur, U.P., India, I Edition, April, 1997.

We Start where **Charles Darwin** finished. Because he has not told, how male and female, man and woman came into being separately and in what stage of evolution of Man?

Now, In the evolution of man, first woman come (The Protoman or the felmale man stage). Then, half woman and half man (the mesoman stage) followed by separate woman and man (the modern man stage).

In the Evolution of Man

- What was there, when there was no man? There was half APE and Half Man - The APEMAN
- What was there, when there was neither woman nor man?

There was Half Man The PROTOMAN and The MESOMAN.

❖ ❖

अनुभवनिवेदनम्

(अभिनवगुप्तपादानाम्)

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरसौ पश्यन्नपश्यन्नपि।
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा युष्मत्प्रसादाद् गुरो
शून्याशून्यविवर्जितं भवति यत् तत्त्वं पदं शाम्भवम्।।१।।

अर्धोद्घाटितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपगतौ त्रिस्पन्दभावान्तरे।
ज्योतीरूपमशेषबाह्यरहितं चैकं पुमांसं परम्
तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम्।।२।।

शब्दः कश्चन यो मुखादुदयते मन्त्रः स लोकोत्तरः
संस्थानं सुखदुःखजन्मवपुषो यत्कापि मुद्रैव सा।
प्राणस्य स्वरसेन यत्प्रवहणं योगः स एवाद्भुतः
शाक्तं धाम परं ममानुभवतः किन्नाम न भ्राजते।।३।।

मन्त्रः स प्रतिभाति वर्णरचना यस्मिन्न संलक्ष्यते
मुद्रा सा समुदेति यत्र गलिता कृत्स्ना क्रिया कायिकी।
योगः स प्रथते यतः प्रवहणं प्राणस्य संक्षीयते
त्वद्धामाधिगमोत्सवेषु सुधियां किं कि न नामाद्भुतम्।।४।।

इति अनुभवनिवेदनस्तोत्रम्।

आह्निक - ५
तन्त्र में स्पन्द की अवधारणा

अध्यक्ष - पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी

प्रो. कमलाकर मिश्र (प्रधान वक्ता)

आज की गोष्ठी के सभापति आचार्य द्विवेदीजी के चरणों में प्रणाम करता हूँ तथा अन्य सभी विद्वानों का आशीर्वाद चाहता हूँ।

काशी में तन्त्र के तथा अन्य सम्बद्ध विषयों के विद्वान् हैं और साथ ही पाश्चात्य विधा से पढ़ने-पढ़ाने वाले भी हैं। इसलिये यह ज़रूरत समझी गई कि इन दोनों परम्पराओं में संवाद हो। दोनों में जो अच्छाइयाँ हैं उनका यदि मेल हो सके तो यह सर्वोत्कृष्ट बात होगी। इन तन्त्र-गोष्ठियों के आयोजन के पीछे अन्य उद्देश्यों के साथ एक उद्देश्य यह भी रहा है। जो पाश्चात्य विधा वाले हैं उनके पास विधा तो है किन्तु मूल का ग्रहण उनका उतना नहीं है। किन्तु इस पक्ष में अच्छाई यह है कि उस विधा से देखने पर हम अपने दर्शन को अच्छी तरह बल्कि पहले की तुलना में ज़्यादा अच्छी तरह समझ पाते हैं। मेरी दृष्टि में यह सुविधा भी है और अच्छाई भी। लेकिन दिक्कत यह हो जाती है कि मूल से उनका पल्ला छूटा रहता है। दूसरी ओर मूलग्राही पण्डित हैं। उन्होंने परिश्रम से अपना जीवन देकर शास्त्र की रक्षा की है। इसलिए तार्किक विश्लेषण की पाश्चात्य विधा के सहयोग से उनके साथ बैठकर, शास्त्र समझने का प्रयत्न किया जाए तो यह सोने में सुहागा होगा। मैं इसी दृष्टि से अपनी बात रखने जा रहा हूँ। मैं पहले ही स्पष्ट कर दूँ कि मैं स्वयं को विद्वान् नहीं मानता। हाँ, यह अवश्य है कि पाश्चात्य विधा की अच्छाई को पकड़े हुए हूँ और उसके माध्यम से बातों को समझने की चेष्टा करता हूँ। मेरी भावना है कि भारतीय विधा से अध्ययन करने वाले आचार्यों का और उनके योगदान का भी महत्त्व हम समझें। न समझना हमारी चपलता होगी। श्रद्धेय **पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी जी** ने जो काम किया है उसके प्रति हम कृतज्ञता ज्ञापित न करें तो यह कृपणता होगी। इसी तरह अन्य विद्वानों के कार्य हैं और उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना हमारा धर्म है। मैं गुणी नहीं, गुणानुरागी हूँ और सबके प्रति श्रद्धावनत होकर विषय पर अपने विचार प्रस्तुत कर रहा हूँ।

तन्त्र में स्पन्दन की अवधारणा को हम पाश्चात्य विधा अथवा तार्किक विधा से विश्लेषण करके समझने का प्रयास करेंगे। स्पन्द का क्या अर्थ है और उसकी सङ्गति चैतन्य के साथ कैसे रहती है, इन दो बातों पर मेरे वक्तव्य में विशेष बल देने की चेष्टा रहेगी। इस विषय पर आगे बढ़ने से पूर्व एक और बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा।

त्रिक दर्शन के कुछ सिद्धान्तों पर अद्वैत वेदान्त की ओर से कुछ प्रश्नचिह्न लगाए जा सकते हैं जिनका उत्तर दिये बिना अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन संभव नहीं है।

अद्वैत वेदान्त ही त्रिकदर्शन का पूर्वपक्षी है। अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म निष्क्रिय है। तर्क यह है कि कर्म में अपूर्णता निहित है। मनोविज्ञान यह है कि हममें कोई कमी है जिससे प्रेरित होकर हम कर्म करते हैं। इसका निहितार्थ यह है कि जो पूर्णतत्त्व होगा या जो चैतन्य की पूर्ण स्थिति होगी उसमें कर्म नहीं होगा। इसलिए ब्रह्म में कर्म मानने का अर्थ कमी मानना है और इससे तो ब्रह्म के स्वरूप की स्थिति ही ध्वस्त हो जाएगी। ब्रह्म दूसरे के लिए कर्म करता है ऐसा भी नहीं माना जा सकता क्योंकि इस अद्वैतवाद में दूसरा कोई है ही नहीं। इसलिए पर के उपकार का यहाँ प्रश्न ही नहीं है। अर्थात् अपने में कोई कमी नहीं और पर कोई है नहीं तो ब्रह्म कर्म क्यों करेगा?

अब इससे अनेक बातें सामने आती हैं। ब्रह्म में क्रिया नहीं है क्योंकि वह पूर्ण है। सृष्टि-क्रिया का क्या होगा? उत्तर मिला सृष्टि-क्रिया कुछ है ही नहीं। फिर सृष्टि की व्याख्या का प्रश्न उठा तो यह उत्तर देना पड़ा कि सृष्टि भी ब्रह्म ही है। रज्जु-सर्प के दृष्टान्त से यह बात बताई जाती है कि रज्जु स्वयं सर्प नहीं बनता। सर्प का जो अध्यास है वह रज्जु नहीं बनता, सर्प को देखने वाले अज्ञानवश उसमें रज्जु अध्यस्त करते हैं। जैसे रज्जु खुद सर्प बनती नहीं, हम उसमें सर्प का अध्यास करते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म सृष्टि नहीं करता बल्कि सृष्टि ब्रह्म में अध्यस्त होती है। श्रुति में इसका वर्णन है। ब्रह्म सृष्टि करता है। उपनिषद् ये साफ कहते हैं कि ब्रह्म सृष्टि करता है। तब यह प्रश्न उठता है कि ब्रह्म ने सृष्टि नहीं की तो इन वेदान्त-वाक्यों की व्याख्या क्या होगी? **शङ्कराचार्य** कहते हैं- उपनिषद् के वाक्यों को आप अभिधा में न लें, वे तो आख्यायिका हैं, कहानी हैं, बच्चे को जैसे आप ये समझा नहीं सकते कि कहाँ से जन्मे तो माँ कुछ कह देती है। उसी तरह से ब्रह्म से सृष्टि कैसे हुई इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती है।

फिर भी विद्यार्थी जानना चाह रहा है तो गुरु कुछ कह देता है, कहानी गढ़ देता है। ब्रह्म अकेला अच्छा नहीं लगा तो उसने सोचा कि **एकोऽहं बहु स्याम।** तो ये कहानी गढ़ करके उपनिषद् के ऋषि ने विद्यार्थी की शंका का समाधान किया। अन्यथा उपनिषद् वाक्य का शाब्दिक अर्थ लेना उचित नहीं है। वो तो आच्छादित हैं। पर ज्यों तर्क शुरु हुआ कि ब्रह्म पूर्ण है इसलिए उसमें कर्म नहीं हो सकता।

अब आते हैं तन्त्र की तरफ़। तन्त्र की ओर से कहेंगे कि यह तर्क बिल्कुल सही है। कर्म अपूर्णता का द्योतक है और इसलिए ब्रह्म में कर्म नहीं माना जा सकता। तन्त्र वाला ये कहेगा कि हम भी कर्म को अपूर्णता का द्योतक मानते हैं। बल्कि हमारे यहाँ जो मल है, वह कर्म है। मल त्रिविध हैं- आणव, मायीय और कार्म।

अद्वैत वेदान्त का यह तर्क तो उचित है कि क्रिया अथवा कर्म से पूर्ण तत्त्व में अशुद्धि आती है किन्तु यहाँ मूल में ग़लती यह हुई कि सारी क्रियाओं को कर्म से जोड़ कर देखा गया। कर्म तो अपूर्णता का द्योतक है किन्तु कुछ ऐसी क्रियाएँ हैं जिन्हें हम कर्म की कोटि में नहीं रख सकते। तन्त्र के अनुसार ऐसी भी क्रिया है जिसका पूर्णता के साथ कोई विरोध नहीं है। बल्कि वह ऐसी क्रिया है जो पूर्णता में ही उच्छलित होती है। उसी को स्पन्द कहते हैं।

यहाँ इस प्रसङ्ग में यह भी उल्लेखनीय है कि तन्त्र में क्रिया और कर्म इन दो अवधारणाओं का भेद बड़ी सावधानी से किया गया है। इन्हें कभी एक साथ नहीं रखा जाता।

समस्त क्रियाओं को दो कोटियों में रखा जा सकता है- एक सायास क्रिया जिसे इच्छा शक्ति के प्रयोग द्वारा किया जाता है जैसे हाथ उठाना और दूसरी अनायास क्रिया अर्थात् बिना प्रयत्न के हाथ अपने आप इधर-उधर उठ जाता है। बालक आनन्दानुभूति में अनायास क्रीड़ा करता है और इसी से नई कृतियों का जन्म होता है। उपनिषद् भी कहते हैं- **आनन्दात् खलु भूतानि जायन्ते।**

स्पन्द ब्रह्म का आनन्द है और यही आनन्द सृष्टि-प्रक्रिया के रूप में स्फुटित होता है। जिस स्तर की पूर्णता होगी उसी स्तर का स्पन्द होगा। स्पन्द के इस स्वरूप को मान लेने पर इसमें वे दोष नहीं आते जो कर्म में आते हैं क्योंकि स्पन्द तभी होता है जब परिपूर्णता की स्थिति हो।

डॉ. कृष्णकान्त शर्मा (टिप्पणी)

अनायास होने वाली क्रिया स्पन्द है। संगीत के तन्त्र वाद्य में यह अनायास क्रिया सुस्पष्ट होती है। सितार में जो तरप के तार हैं उनमें कोई आयासपूर्वक क्रिया नहीं की जाती, किन्तु मुख्य तार में जो स्वर बजाया जाता है वह सायास होता है। तरप के तार में बिना आघात किये वह स्पन्दित या गुंजित होता है। इसी प्रकार तानपुरा में (मन्द्र) षडज् के तार को जब बजाया जाता है तब अनायास उसमें स्वयम्भू गान्धार गुंजित होता है। पञ्चम के तार से बिना आयास के ऋषभ स्पन्दित होता है।

प्रो. सुधांशुशेखर शास्त्री (टिप्पणी)

प्रो. मिश्र की मान्यताओं से सहमत नहीं हूँ। निगम और आगम की तत्त्वमीमांसा में भेद नहीं है, किन्तु उनकी प्रक्रिया में भेद है। **शंकराचार्य** ने ब्रह्म को जो निष्क्रिय माना वह पूर्ण सिद्धान्त है।

पं. वासुदेव द्विवेदी (टिप्पणी)

तन्त्र के उपयोगी सिद्धान्तों को समाज के प्रबुद्ध और सामान्य वर्ग तक पहुँचाने और इसके बारे में फैली हुई भ्रान्तियों को दूर करने की आवश्यकता है।

पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी (अध्यक्षीय)

- मनुष्य का वास्तविक कल्याण आध्यात्मिकता से ही सम्भव है। विज्ञान केवल बाह्य जगत् को देखता है जबकि आध्यात्मिकता भीतर देखती है। भीतर का कल्याण होने पर बाहर अपने आप सुधार होता है।
- तन्त्र में गुरु, शास्त्र और स्व को मोक्ष का उपाय माना गया है किन्तु आज हमने गुरु को मानना छोड़ दिया, शास्त्र का अभ्यास छोड़कर उसका तिरस्कार शुरु कर दिया और प्रतिभा को गुरु-शास्त्र के हवाले कर दिया। अर्थात् गुरु के उपदेश को बिना प्रतिभा के माना, शास्त्र के अभ्यास में प्रतिभा का उपयोग नहीं किया। अत: प्रतिभा का सर्वप्रथम उपयोग आवश्यक है।
- तन्त्र-शास्त्र आज के समय में वेदों से अधिक उपयोगी हैं। क्योंकि वेद त्रैवर्ण्य की बात करता है। वह उन्हीं के लिए है जबकि आगम सबके लिए है।
- भारत का दायित्व विश्व का मार्गदर्शन है। किन्तु जिस ज्ञान और जिन शास्त्रों के आधार पर वह यह काम कर सकता है वह उन्हें या तो बेकार मानता है या बहुत हुआ तो अनुवाद कर देता है। मात्र अनुवादों से ज्ञान का विकास नहीं हो सकता। प्रतिभा का प्रयोग मौलिक सृजन में होना चाहिए।

- तन्त्रशास्त्र या आगम की विशेषता है गतिशीलता और यह गतिशीलता **अभिनवगुप्त** के बाद रुक गई है। इसलिए इसका वहीं से, उसी बिन्दु से विकास आवश्यक है।
- वेद आगम का विरोध नहीं है। वेद प्राचीनतम वाङ्मय हैं जो अनन्तकाल तक प्रतिष्ठित रहेंगे। किसी का पूर्णतः खण्डन तन्त्रागम की प्रकृति नहीं।
- **अभिनवगुप्त** ने जिस प्रत्यभिज्ञादर्शन का प्रतिपादन किया उसमें वेदान्त का मायावाद शक्तिवाद में परिणत हुआ और बौद्धों का क्षणभङ्गवाद नित्यात्मवाद में।
- **नामक तन्त्र** के नाम से काश्मीर शैव दर्शन के साहित्य में जो नाम मिलता है वह **नामक** नहीं, **वामक** है।
- **शिवदृष्टि** में शान्तब्रह्मवादी का उल्लेख अद्वैत वेदान्त के लिए है। कापालिक मत के तत्त्व शैव, शाक्त और बौद्ध तन्त्रों में भी विकसित थे।
- **स्पन्दकारिका** का लेखक विवादास्पद है। **स्पदि किञ्चिच्चलने**। शक्ति का उच्छलन ही स्पन्द है। भारतीय दर्शन का मूल उत्स उपनिषद् हैं। **सोमानन्द** ने अन्य अनेक मतों के साथ शक्तिपारम्य का भी खण्डन किया है। वे शिवपारम्य का समर्थन करते हैं। **कल्लट** के मत में **शिव** संवित् है। **प्रभाकरमिश्रजी** **संविदेव हि भगवती** ऐसा मानते हैं।

❖ ❖

न योगो न तपो नार्चाक्रमः कोऽपि प्रणीयते।
अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते।।

शिवस्तोत्रावली, I/१८.

ज्ञानस्य परमा भूमिर्योगस्य परमा दशा।
त्वद्भक्तिर्या विभो कर्हि पूर्णा मे स्यात्तदर्थिता।।

वही, IX/९.

न सा मतिरुदेति या न भवति त्वदिच्छामयी
सदा शुभमथेतरद्भगवतैवमाचर्यते।
अतोऽस्मि भवदात्मको भुवि यथा तथा सञ्चरन्
स्थितोऽनिशमबाधितत्वदमलाङ्घ्रिपूजोत्सवः ।।

वही, XII/२२.

आह्निक - ६

श्रीअभिनवगुप्त-प्रणीत श्रीतन्त्रालोक

अध्यक्ष - ज्ञानसिंहासनाधीश्वर डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य

पं. परमहंस मिश्र (प्रधान वक्ता)

शीर्षक बड़ा महत्त्वपूर्ण है। **श्रीतन्त्रालोक** विश्वप्रसिद्ध तन्त्रवाङ्मय का विश्वकोष है। **श्री क्षेमराज** ने इसे अशेष आगमोपनिषत् शास्त्र के रूप में अभिहित किया है। यह केवल उन्हीं की विसृष्टि नहीं है, वरन् शताब्दियों के शतशत मनीषी इस आगमिक गतानुगतिकता को गौरवान्वित करने वाले आलोकललित तान्त्रिक साहित्य-दर्पण को निदिध्यासितव्य मानते हैं। ऐसे आदर्श शास्त्र के प्रणेता महामाहेश्वर **अभिनवगुप्तपादाचार्य** अकालकलित चन्द्रमौलीश्वर के समान शाश्वत वन्द्य और कालजयी योगेश्वर के समान ही अलौकिक आवतारिक विभूति थे। इनके विषय में

जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्।। नीतिशतक, २०

इस श्लोक का स्मरण स्वाभाविक है। इस श्लोक में आये सुकृति, रससिद्ध और कवीश्वर शब्द माहेश्वर **अभिनवगुप्त** पर अन्वर्थतः चरितार्थ होते हैं।

प्रसाद और प्रत्यभिज्ञादर्शन नामक अपने शोध प्रबन्ध के सन्दर्भ में मैंने **श्रीतन्त्रालोक** का पूर्व आलोडन किया था। जिस समय मेरी शाक्त इच्छाशक्ति ने **श्रीतन्त्रालोक** को नीर-क्षीरविवेकभाष्यलेखन के लिये माध्यम बनाया- स्वयं महामाहेश्वर ने मुझे स्वप्न में दिव्यरूपमय दर्शन दिया था। उसके बाद ही मैं कश्मीर गया था, जहाँ मेरे दीक्षागुरु **श्रीलक्ष्मण जू** मिले। यह सब चमत्कार की तरह घटित हुआ और मैं **श्रीतन्त्रालोक** का नीर-क्षीर-विवेक भाष्य लिख सका।

महामाहेश्वर अभिनवगुप्त को मैं अपना परमेष्ठिगुरु मानता हूँ। **जयरथ** मेरे परमगुरु हैं। और दीक्षागुरु की तो मेरे ऊपर परम अनुकम्पा है।

अभिनवगुप्त की जननी विश्वप्रसविनी, सृष्टि का मङ्गल महोत्सव रचाने वाली **विमलकला**, पञ्चमुख सद्योजात, वामदेव, तत्पुरुष, अघोर और ईश नामक पञ्चब्रह्म के प्रतिरूप स्वयं **शङ्कर** हैं। इनकी कान्ति में कान्त इनके पितृ-चरण जनक हैं, जिन्हें **नरसिंह** कहते थे। ऐसे दिव्य दाम्पत्य का यामल उल्लास कितना महिमामय हो सकता है? यह सोचने का विषय है।

ऐसे यामल उल्लास को **तयोर्यत् यामलं रूपं स संघट्ट इति स्मृतः** संघट्ट कहते हैं। शिवशक्ति का संघट्ट ही यह विश्व है। इस प्रकार महामाहेश्वर का यह विश्वरूप स्वयं सिद्ध हो जाता है। वे अमाख्य कलारूप के अनुत्तर तत्त्व के प्रतीक पुरुष थे। आगम कहता है

यत्रास्ति न भयं किंचित् न जरा व्याधयोऽपि वा
न विघ्ना न च वै मृत्युर्न कालः कलयेच्च तम्।।

विवेक १.१ में उद्धृत

ऐसे अनुत्तर कुल हृदय वाले महापुरुषों में महामहेश्वर का नाम स्वर्णाक्षरों में युगों-युगों तक लिखा जायेगा, इसमें सन्देह नहीं। इनके जन्म से इनके पितर, पितृ-मातृ वर्ग और पितामह परम प्रसन्न हुए थे। वे जानते थे कि मेरे घर में महामाहेश्वर ही आ रहा है। कहा गया है कि

नन्दन्ति पितरस्तस्य नन्दन्ति च पितामहाः।
अद्य माहेश्वरो जातः सोऽस्मान् संतारयिष्यति।।

वही.

ऐसे मातापिता से उत्पन्न महासत्त्वात्मा को योगिनी भूः कहते हैं। आगम कहता है-

तादृङ्मेलककलिकाकलिततनुर्यो भवेद् गर्भे।
उक्तः स योगिनीभूः स्वयमेव ज्ञानभाजनं भक्तः।।

वही.

ऐसे ज्ञानभाजन और शिवभक्तियोगसम्पन्न ज्ञानवान् को सम्पूर्ण शास्त्रज्ञान का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इनके १२ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें **श्रीतन्त्रालोक** प्रमुख है। इनके ग्रन्थों को १. दार्शनिक, २. साहित्यिक, ३. और स्तोत्रसाहित्य के रूप में विभाजित किया जा सकता है। इनकी दार्शनिकता का क्षेत्र शिवाद्वयवाद का प्रतिपादक माना जा सकता है। साहित्यिक दृष्टि से इन्होंने **ध्वन्यालोकलोचन** और **अभिनवभारती** जैसे ग्रन्थों का प्रणयन कर रस और ध्वनि की महनीयता प्रतिपादित की है। स्तोत्रसाहित्य में **क्रमस्तोत्र** और **भैरवस्तोत्र** की रचनाओं द्वारा भक्तियोग का प्रतिपादन किया है।

व्यास और **आदिशङ्कराचार्य** की श्रेणी में आने वाले इस व्यक्ति के व्यक्तित्व के विषय में उनके शिष्य **मधुराज योगिन्** ने जो कुछ लिखा है, उससे उनका पूरा रेखाचित्र सामने आ जाता है। अपने युग के महान् साधक, शैवसमावेशसिद्ध, महामाहेश्वर, भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों को आत्मसात् कर अभिनवशास्त्रप्रवर्त्तक

सारस्वत पुरुष मनीषि-मूर्धन्य, विभुता से विभूषित महापुरुष अपने जन्म से धराधाम को धन्य बना देते हैं। काश्मीर की वह धरा भी धन्य है, जहाँ से आगमिक ज्ञान-गंगा की मतकुलक्रमत्रिकामृतधाराओं का सिन्धु समग्र भारत को सारस्वतसुधा से अभिषिक्त कर गया ।

श्रीतन्त्रालोक भारतीय तान्त्रिक परम्परा का प्रकाशस्तम्भ है। इसमें वेदान्त, न्याय, मीमांसा, सांख्य एवं बौद्ध सिद्धान्तों की समीक्षा के सन्दर्भ हैं। युक्ति, सत्तर्क और विमर्श के निकष पर उन सिद्धान्तों को निकषायित किया गया है। कहीं पर भी खण्डन की दृष्टि नहीं है वरन् उनके विश्लेषण की सामरस्यी आस्था का उल्लास है। **श्रीतन्त्रालोक** शिवशक्ति के यामल उल्लास के लालित्य से ललाम लगने वाला आलोक है जिससे भारतीय मनीषा भासमान हो उठी है।

श्रीतन्त्रालोक में शिवाद्वयवाद, बिम्बप्रतिबिम्बवाद, स्वातन्त्र्यवाद और सर्वात्मवाद, सत्कार्यवाद, पूर्णताख्यातिवाद और संविद्विमर्शात्मक अभिव्यक्तिवाद का अप्रतिम प्रवर्त्तन है। चित्सत्तासमन्वित आनन्दवाद में इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्तियों की स्फुरत्ता का परामर्श **श्रीतन्त्रालोक** की कारिकाओं में पूर्णतया अभिव्यक्त है। परनादगर्भ विमर्श के रहस्य में शाश्वत शैवमहाभाव का उद्‌भावन **श्रीतन्त्रालोक** का अन्यतम वैशिष्ट्य है।

मुख्यत: **श्रीतन्त्रालोक** साधना की विधियों में उतारकर क्रियायोग में दीक्षित करता है। इसमें प्रयुक्त विधिलिङ् की क्रियाएँ उस सन्दर्भ की साधनात्मकता की ओर संकेत करती प्रतीत होती हैं। साधना की अनुभूतियों में सामरस्य **तन्त्रालोक** के अध्येता को मुग्ध कर देता है।

श्रीतन्त्रालोक आह्निकों में विभक्त है। प्रतिदिन तन्त्र का सूर्य मनीषा के आकाश में नये आलोक का प्रवर्त्तन करता है। अहन् अहन् में उतरने वाला यह आलोक **तन्त्रालोक** है। इस आह्निक-आह्निक के आलोक-पुरुष का नाम **तन्त्रालोक** है। वह कल भी था, आज भी है और भविष्यत् आह्निक शृङ्खला में भी ओत-प्रोत है। किन्तु केवल ३७ आह्निकों में ही सारा आलोक आपको समाविष्ट मिल जायगा। आप जानते हैं- तत्त्व तो ३६ ही हैं। एक साक्षी परमशिव को मिला लें तो ये ३७ हो जाते हैं।

इन सैंतीस आह्निकों का विभाजन शाम्भव, शाक्त और आणव विज्ञानत्रय के साथ अनुपायविज्ञान को मिलाकर ज्ञानचतुष्क की साधनात्मकता का सन्दर्भ लिया जा सकता है। आणवविज्ञान प्राणापानवाह साधना की उच्चार-पद्धति में

श्रीतन्त्रालोक के अध्येता को सरलता से प्रवेश दिलाने में समर्थ है। इसी तरह करण, ध्यान, वर्ण और स्थानप्रकल्पन का पूरा विवरण प्रारम्भिक आह्निकों में प्राप्त है।

आह्निक १४ से २६ तक विविध दीक्षाओं का साङ्गोपाङ्ग वर्णन, २७ से ३० आह्निकों में लिङ्ग एवं रहस्यविधि, मन्त्र और मन्त्रोद्धार के विषय वर्णित हैं। इसके बाद कर्मकाण्ड के स्वरूप-चित्रण में मण्डल और मुद्राओं की चर्चा की गयी है। ३३ से ३७ तक एकीकार, स्वस्वरूपशास्त्रसम्मेलन, इतिहास और स्वात्मविवरण के साथ यह सारस्वत वरदान अपनी पूर्णता में चरितार्थ हो जाता है। इस ग्रन्थ के उपजीव्य में **मालिनीविजयोत्तरतन्त्र** का नाम लिया जा सकता है। उत्तरकालीन ग्रन्थों का यह स्वयम् उपजीव्य है।

इसके महत्त्व का प्रतिपादन स्वयं **अभिनवगुप्त** ने **श्रीतन्त्रालोक** में ही अनेक बार किया है। प्रथम आह्निक (२८४-८५) में एक स्थान पर वे लिखते हैं-

इतिसप्ताधिकामेनां त्रिंशतं यः सदा बुधः।
आह्निकानां समभ्यस्येत् स साक्षात् भैरवो भवेत्।।
इत्यहं बहुशः सद्भिः शिष्यसब्रह्मचारिभिः
अर्थितो रचये स्पष्टां पूर्णार्थां प्रक्रियामिमाम्।।

तन्त्रालोक, १.१५.

इस दृष्टि से **श्रीतन्त्रालोक** पूर्णार्था प्रक्रिया का आकर ग्रन्थ सिद्ध हो जाता है। उनका कहना है

श्रीभट्टनाथचरणाब्जयुगात्तथाश्री-
भट्टारिकांघ्रियुगलाद् गुरुसन्ततिर्या।
बोधान्यपाशविषनुत् तदुपासनोत्थ-
बोधोज्ज्वलोऽभिनवगुप्त इदं करोति।।

वही, १.१६

भट्ट और भट्टारिकारूप **शिव** के अनन्य उपासक, गुरुसन्ततिनिर्दिष्ट उपासना में परिवृढ बोध-प्रकाश से भासमान **अभिनव** ने समस्त पाशात्मक विषों के अपनोदन में समर्थ इस महान् ग्रन्थ की रचना की। इस कथन में प्रस्तुत ग्रन्थ और ग्रन्थकार के वैशिष्ट्य का प्रख्यापन स्वयं हो जाता है। **आचार्य जयरथ** (१.१६) इस सन्दर्भ में लिखते हैं-

इदं गुरूपदेशात् संशयविपर्यासादिरहितत्वेनाधिगतमनुत्तरत्रिकार्थ-प्रक्रियालक्षणं परान् प्रति चिख्यापयिषया करोति। नामग्रह के सम्बन्ध में **जयरथ** कहते हैं- **सकललोकप्रसिद्धनामोदीरणेनापि आप्तत्वमेवोपोद्बलितमित्यर्थः।**

जहाँ-ज़हाँ मन जाता है वहाँ-वहाँ हम **शिव** की साधना का लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि **चलित्वा यास्यति कुत्र सर्वं शिवमयं जगत्।** मनोविज्ञान या योगविज्ञान जिस प्रकार हमारी चित्तवृत्तियों को निरुद्ध करने की बात करता है, यह उससे विपरीत बात है। दूसरी बात यह है- **योगाभ्यासेन शरीराणि न पीडयेत्।** ये वचन अत्यन्त विवादास्पद हो सकते हैं किन्तु ये तन्त्र के वैशिष्ट्य को रेखाङ्कित करते हैं।

श्री महेश्वरानन्द ने **महार्थमञ्जरी** को महार्था प्रक्रिया से विभूषित किया है। अन्त में उन्होंने लिखा है-

एणं चिअ महंथं
युधारभंमि पाण्डुपुत्तंस।
छोलहसहंससत्ती
देवः उबदिसइ माह ऊ।।६९।।

[ऐनमेव महार्थं युद्धारम्भे पाण्डुपुत्रस्य
षोडशसहस्रशक्तिर्देव उपदिशति स्म माधव।।]

इति शिवम्।

श्रीतन्त्रालोक पूर्णार्था प्रक्रिया है, इसका उल्लेख हो चुका है। इसके अतिरिक्त शास्त्रकार इस प्रक्रिया को महार्थ शब्द से भी अभिहित करते हैं। आह्निक ३७/८२-८३ में वे कहते हैं-

इत्थं गृहे वत्सलिकावितीर्णे,
स्थितः समाधाय मतिं बहूनि।
पूर्वश्रुतान्याकलयन् स्वबुद्ध्या,
शास्त्राणि तेभ्यः समवाप सारम्।।
स तन्निबन्ध्यं विदधे महार्थम्,
युक्त्यागमोदीरिततन्त्रतत्त्वम्।
आलोकमासाद्य यदीयमेष,
लोकः सुखं संचरिता क्रियासु।।

इस पद्य में प्रयुक्त महार्थ और तन्त्रतत्त्व दोनों शब्द ग्रन्थ के महत्त्व का ही प्रतिपादन करते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि **श्रीतन्त्रालोक** समस्त शास्त्रों का साररहस्य है। इसके सुनने-समझने का अधिकार उसे ही प्राप्त है जो **शिव** के शैवमहाभाव में समाकर सर्वमय हो सकता है। **शिव** तो सर्वमय ही है। यहीं नहीं,

वह तो सबके **श्रोत्रतन्त्र** में मातृका के सिञ्चन का स्वयं श्रवण करते हैं। यदि केवल वही सुन ले तो सबका सुनना उसी में अन्तर्भूत हो सकता है।

ग्रन्थकार यही कहते हैं-

शिवनिशमय तावत् सर्वतः श्रोत्रतन्त्रः।
तव किल नुतिरेषा सा हि
त्वद्रूपचर्चेत्यभिनवपरितुष्टो
लोकमात्मीकुरुष्व।। तन्त्रालोक, ३७.८५

यह **अभिनव** का भरतवाक्य है। समस्तलोक को स्वात्म में समाहित करने की यह मङ्गलमयी कामना **श्रीतन्त्रालोक** का रहस्य वरदान है।

श्रीतन्त्रालोक की साधना-पद्धति **विज्ञानभैरव** से भी सरल है। मन का नियन्त्रण बड़ा कठिन है। भगवान् श्रीकृष्ण ने इसे वायोरिव सुदुष्कर माना है। **श्रीतन्त्रालोक** सिखलाता है- **यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्रैव धारयेत्।** (**विवेक** में ४.९४ पर उद्धृत) योगमार्ग की तरह, प्रजहाति की तरह यह संघर्षमयी पद्धति नहीं, माता की तरह वात्सल्यमयी है। प्राणायाम के विषय में ४/९० में कहा गया है- **प्राणायामो न कर्त्तव्यः शरीरं येन पीड्यते।** शैवायतन यह शरीर मूलाधार से उन्मना तक की महायात्रा का महापर्व नित्य अनुष्ठित करता है। आपका आवाहन करता है, आप भी आलोक-मङ्गल मनावें।

कतिपय अन्य महत्त्वपूर्ण वक्तव्य-

- आगममार्ग में प्रतिष्ठित होने के लिए गुरु बिना कोई गति नहीं है।
- आगम और तन्त्र दोनों वस्तुतः एक ही हैं।
- सिद्ध, साधक एवं शास्त्र की प्रवृत्ति वस्तुतः जनकल्याण के लिए ही होती है। इन तीनों का पर्यवसान परमगुरु या परमेश्वर में होता है। इसलिए ये तीनों जो कार्य करते हैं वह परमेश्वर का ही कार्य है।
- शिव-शक्ति में अभेद है। अतः **शिव** के द्वारा **पार्वती** को उपदेश का तात्पर्य है **शिव** ही एक ओर गुरु बनते हैं तथा दूसरी ओर शिष्य।
- **शिव** के उपदेश से **गिरिजा** के हृदय में बोध का कमल खिला वही आगम है। वह बोध निर्विकार, चिन्मय और पारमार्थिक है।
- अज्ञान की पृष्ठभूमि में ज्ञान की चर्चा करना है।

- संवित् परमात्मा के विमर्श का नाम है। शरीर सर्वोत्तम आयतन है। इसमें स्वयं भगवान् **शिव** विराजमान हैं।
- आदरपूर्वक लय ही पूजा है। बाह्य पूजा का महत्त्व केवल मूर्खों के लिए है।
- अकेला साधक स्वात्मानुभूति नहीं कर सकता। **शिव** की शक्ति से ही सद्गुरु की प्राप्ति होती है। शिष्य भी विशेष परिस्थिति में गुरु को अनुशासन दे सकता है।
- शास्त्र अनुशासन के प्रतिष्ठापक हैं।

पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी (टिप्पणी)

हमारे प्राचीन आचार्यों के बारे में काल की जो मान्यता बाहर वाले थोप देते हैं, हम उसी को मान लेते हैं। उदाहरण के लिए **शङ्कराचार्य** का ब्रह्मीभाव ८२० ई. माना जाता है। वे ३२ वर्ष जिए। यह कल्पना यद्यपि पूरे भारत में मान्य है किन्तु नितान्त अल्प आधारों पर टिकी है। हम **ऐतरेय** को भी प्रमाण मानते हैं और पुराणों में **ऐतरेय** सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। इसके अनुसार **शङ्कराचार्य** जब **कुमारिल भट्ट** के पास गए थे तब वे तुषाग्नि में प्रायश्चित्त कर रहे थे। आज **बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति** और **कुमारिल** का समय निश्चित है। तब उन्हीं के आसपास **शङ्कर** का भी काल होना चाहिये। इसमें सबसे बड़ा प्रमाण **शाक्तसंगम तन्त्र** है। इसमें कहा गया है कि भगवान् **शङ्कर** अवतार लेंगे। वहाँ **शङ्कराचार्य** का नाम नहीं है। उसमें जो तिथि दी गई है वह **कुमारिल भट्ट** और **धर्मकीर्ति** के बहुत निकट पहुँचती है। इसका जब तक कोई खण्डन नहीं करता है तब तक हम **शङ्कर** का आज प्रचलित काल नहीं मान सकते। मेरा मत है कि भारतीय मनीषा को इतना परावलम्बी नहीं होना चाहिये कि कोई कुछ कह दे और उसे आँख मूँद कर मान लिया जाए।

अभी सूचना दी गई कि **अभिनवगुप्त** से दो सौ वर्ष पहले भी एक **अभिनवगुप्त** थे जिनका **शङ्कराचार्य** से वार्तालाप या शास्त्रार्थ हुआ था। इसका खण्डन तो **शङ्कराचार्य** के काल की आज की मान्यता से ही हो जाता है। प्रसिद्ध **आचार्य अभिनवगुप्त** के बाद वाले द्वितीय **अभिनवगुप्त** की सूचना तो है किन्तु इनसे पहले वाले **अभिनवगुप्त** की नहीं है। इस पर विचार अपेक्षित है।

तन्त्रशास्त्र की पूर्व में जितनी भी शाखाएँ रही हैं उन सबका समावेश **तन्त्रालोक** में हुआ है। अनुपाय प्रक्रिया सहजयोग या सहज समाधि से मिलती-

जुलती है। एक ही वस्तु के तन्त्र की विभिन्न शाखाओं में (चाहे वे शैव-शाक्त हों, जैन-बौद्ध हों, वैष्णव हों) भिन्न नाम है और उन नामों से उनमें प्रक्रिया प्रचलित है। इसलिए तन्त्र-संस्कृति एक व्यक्ति या शाखा की संस्कृति नहीं है।

तन्त्रालोक की टीका में **आलोकमाला** का स्थान-स्थान पर उल्लेख आया है। **आलोकमाला** अब प्रकाशित हो चुकी है। यह सिद्ध **कम्बलपाद** की रचना है। **आलोकमाला** का जो विज्ञानवाद या शून्यवाद है उससे काश्मीरीय प्रत्यभिज्ञादर्शन में कम अन्तर मिलेगा।

शाम्भवोपाय वर्णमाला पर आधारित है। यह तन्त्रों की एक शाखा कौल सम्प्रदाय का प्रधान आधार है। इसका उल्लेख **तन्त्रालोक** के तृतीय आह्निक में हुआ है। वहाँ विस्तार से बताया गया है कि मातृका से कैसे सृष्टि होती है। चतुर्थ आह्निक में शाक्तोपाय का वर्णन है। इसमें केवल प्राणायाम ही नहीं योग के आठों अङ्गों को बतलाते हुए कहा गया है कि तत्त्व के साक्षात्कार में इनकी कोई उपयोगिता नहीं है। तत्त्व साक्षात्कार एक आन्तरिक प्रक्रिया है। वहाँ विकल्प शब्द दिया गया है। जो बौद्ध दर्शन के विकल्प से समानता रखता है। विकल्पों की परिशुद्धि होने पर व्यक्ति अपने शाक्तभाव में प्रविष्ट होता है। इसी तरह आणवोपाय की प्रक्रिया बौद्ध हठयोग और नाथयोग से सामञ्जस्य रखती है। नाथयोग में नानाप्रकार की मुद्राएँ हैं। करण शब्द से तन्त्रालोककार ने उन्हीं का विस्तार से वर्णन किया है। यह प्रक्रिया केवल नाथयोग में ही नहीं, कौल योग में भी है।

उच्चार, करण, ध्यान आदि मेरे मत में मातृका से जगत् की उत्पत्ति की तरह उपासना की प्रक्रिया है। वह कौल सम्प्रदाय की ही देन है। **कौलज्ञाननिर्णय** जैसे प्रकाशित ग्रन्थों में षडध्वा का विवेचन मिलता है। **कालिदास** का कथन

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।। रघुवंश, १.१

ये तीन अर्थ वाक् से निकलते हैं और तीन अर्थ 'अर्थ' से निकलते हैं। इस प्रकार वाक् और अर्थ से सारा जगत् षडध्वात्मक है। दीक्षा के प्रसङ्ग से षडध्व शुद्धि आवश्यक है। यह षडध्वशुद्धि अनुत्तर **शिव** में लीन हो जाती है। जब तक शक्तिपात नहीं होता, दीक्षा नहीं मिलती। शक्तिपात पर **तन्त्रालोक** में स्वतन्त्र आह्निक है।

आजकल वामतत्त्व की जो प्रसिद्धि है वह अपने मूलरूप में नहीं रहा। आज दक्षिण और वाम का अर्थ बदल गया है। पहले वामतन्त्र का अर्थ था

भगवान् **शिव** के उत्तर मुख से जो २८ तत्त्व निकले हैं उनका यह नाम है तथा जो दक्षिणमुख या अघोरमुख से निकले हैं वे संख्या में ६४ हैं। इनका भी **तन्त्रालोक** में विस्तार से वर्णन है। इसी प्रकार दीक्षा, मुद्रा, मण्डल, इत्यादि विधियों का वर्णन है। २८-२९वें आह्निकों में कौल-प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन है। कुल एवं कौल भी अलग-अलग सम्प्रदाय थे। **अभिनवगुप्त** ने इन्हें भिन्न माना है। उन्होंने कुलदीक्षा और कौली दीक्षा के भेद का विस्तृत विवेचन किया है।

भारत के प्राचीन ज्ञान के विषय में जो वैचारिक प्रदूषण है उसे यदि दूर करना है तो हमें **अभिनवगुप्त** के साहित्य के आधार पर ही बढ़ना होगा। इसकी कुञ्जी **अभिनवगुप्त** ने **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति-विमर्शिनी** के अन्त में दी है। इसके अनुसार प्रत्यभिज्ञादर्शन की सृष्टि के तीन आधार हैं- अद्वैतपरक व्याख्या, **शङ्कर** के मायावाद को शक्तिवाद के रूप में परिणत करना और बौद्ध क्षणिक विज्ञानवाद को नित्य ईश्वरवाद में स्थापित करना। इसी दृष्टि से हमें विद्या और विचार के प्रत्येक क्षेत्र में कुछ सीखना चाहिये और आगे बढ़ना चाहिये।

वक्तव्य के अन्य मुख्य बिन्दु-

- बौद्ध एवं पौंस्न अज्ञान परम्परागत नहीं हैं।
- आणवमल ही पौंस्न मल है।
- पौंस्न अज्ञान शरीरपात के साथ ही निवृत्त होता है।
- देश में अनेक महापुरुष हुए फिर भी नैतिक दृष्टि से समाज पिछड़ा हुआ क्यों है- यह विचारणीय है।
- भीतर रमने के बजाय बाहर निकलकर देखना भी आवश्यक है।
- आध्यात्मिक क्षेत्र में रास्ते अलग-अलग होने पर भी मंज़िल एक है। उपायों में भेद है, उपेय एक है।
- कुछ अज्ञान ऐसे होते हैं जो दीक्षा के द्वारा नष्ट होते हैं और कुछ शरीर का नाश होने पर।
- शैव तन्त्र की अनुपाय प्रक्रिया ही है- बौद्ध तन्त्र का सहजयान, शाम्भव-शाक्तोपाय- वज्रयान (कौल पद्धति), आणवोपाय- नाथयोग।
- बौद्ध तन्त्र पर शैवशाक्त तन्त्र का प्रभाव है। जैन तन्त्र भी है।
- पाणिनि-काल से तन्त्र के इतिहास का प्रारम्भ हुआ। इससे पूर्व **शतपथ**

ब्राह्मण में पाञ्चरात्र सत्र का उल्लेख है।

- पञ्चबुद्ध के बारे में **विमलप्रभा** का कथन है कि अक्षुभ्य आदि अघोर के प्रतिनिधि हैं।
- पाञ्चरात्र आगम में **पञ्चोपनिषद्** का उल्लेख है।
- कुण्डलिनी को जैनतन्त्र में लेश्या कहा गया।

प्रो. सुधांशुशेखर शास्त्री (टिप्पणी)

तन्त्रालोक का मैंने अध्ययन तो किया है किन्तु इस पर मेरा वैसा अधिकार नहीं है- जैसा आप सबका है।

तन्त्रालोक के सन्दर्भ में यहाँ कहा गया कि प्राणायाम नहीं करना चाहिये, योग के छ: अङ्गों का निग्रह-अनुष्ठान नहीं करना चाहिये क्योंकि वे शरीर को पीड़ा देते हैं। दूसरी बात मनोनिग्रह की प्रधान वक्ता ने कही। साथ ही कहा कि भगवान् **कृष्ण** ने मन के निग्रह की बात कही।

इस सन्दर्भ में मेरा निवेदन है कि न तो योगदर्शन और न ही भगवान् **कृष्ण** अप्रामाणिक हैं। **तन्त्रालोक** भी प्रामाणिक है। योगदर्शन का प्रमाण अवश्य ही स्वीकर्तव्य है। शास्त्र हमें भ्रम में नहीं डालते- ऐसा मैं मानता हूँ। भगवान् **कृष्ण** के वचन हैं- मन का निग्रह अत्यन्त दुष्कर है फिर भी अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इसे करना चाहिये। **तन्त्रालोक** के कथन पर विद्वानों को पुनर्विचार करना चाहिये।

आदरणीय **द्विवेदीजी** ने कहा कि अष्टाङ्गयोगों का तत्त्वदर्शन में उपयोग नहीं है। मुझे लगता है कि शास्त्र हमारे हित का उपदेश देते हैं। इसलिए इनके कथनों में रहस्य छिपा है। उसका उद्घाटन आवश्यक है।

यह कथन भी विचारणीय है कि जहाँ-जहाँ मन जाता है वहाँ-वहाँ शिवभावना और जगन्माता की भावना हो जाने से उसको रोकने की आवश्यकता नहीं है। इस बारे में मेरा निवेदन यह है कि जैसे योगदर्शन में मनोनाश की जो भी एक स्थिति कही गयी है किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि मन नष्ट हो जाता है। मनोनाश की स्थिति में वहाँ पर अन्त में यही निर्णीत होता है कि विषयाकारा जो चित्तवृत्ति है उसका उत्थान न हो पाना। ठीक इसी प्रकार से जहाँ-जहाँ मन जाता है वहाँ-वहाँ शिवभावना या तत्त्वभावना, परमात्मभावना का अनुभव करने की बात है। इस चिन्मयता का अनुभव यदि प्रत्येक क्षण में, प्रत्येक विषय के अन्त:

पाति होकर के दृढ़ता से हो जाता है तो वह जो चित्त के निग्रह का उद्देश्य था, भगवान् **श्रीकृष्ण** का वह भी वही था। उसका भी तात्पर्य यही था कि विषयाकारा अन्तःकरण वृत्ति नहीं होनी चाहिए। विषयों से मन का निग्रह ही मन का निग्रह कहलाता है। जब सर्वत्र शिवभावना ही दृढ़ हो जायेगी तो उस स्थिति में विषय की जो भावना थी उसका परित्याग भी अवश्यम्भावी है। तो ऐसी स्थिति में **कृष्ण** का जो कहना है, वह व्यर्थ नहीं है। उनका भी तात्पर्य यही है कि विषयाकारा चित्तवृत्ति को विषयों से हटाकर के परमात्मभाव में लगायें। यदि विशेष स्थान में जाकर भी वह चित्त-वृत्ति विषयाकाराकारिता न होकर के यदि शिवभावनामयी हो गयी तो **कृष्ण** का जो कथन था कि चित्तवृत्ति का निग्रह होना आवश्यक है ये भी पूर्ण हो जाता है और उनका जो काठिन्य प्रदर्शन है कि चित्त का निग्रह अत्यन्त कठिन है, यह बात भी पूर्णतः सत्य है। अनुभव सिद्ध है कि हम एक सेकेन्ड, एक मिनट के लिए भी यदि ईश्वर का ध्यान करते हैं तो हमारा मन कहाँ चला गया है– यह बाद में पता लगता है, तत्क्षण पता नहीं लगता है तो उसका निग्रह करना अत्यन्त कठिन है। यह अनुभव सिद्ध है। इसका अपलाप नहीं कर सकते। किन्तु यदि उस समय वह सर्वत्र शिवभावना में वस्तुतः ओत-प्रोत हो गया तो ये कितना कठिन है। सर्वत्र शिवभावना से ओत-प्रोत होना; सर्वत्र चिन्मयता का अनुभव करना कितना कठिन है। इस कठिनता का अनुभव तभी हो सकता है जब अपने जीवन के अनुभव में उसको उतारने की चेष्टा करेंगे। मेरा विनम्र निवेदन है कि इस तरह के जो भिन्न-भिन्न शास्त्रों के वचन हैं, **तन्त्रालोक** कुछ कहता है, योगदर्शन कुछ कह रहा है, उसके बारे में हम सर्वथा यह कह दें कि ये इनका कहना सर्वथा अनुचित है, **तन्त्रालोक** इसको नहीं मानता है– ऐसा कहना औचित्यपूर्ण नहीं लगता। ऐसे वचनों को अवश्य ही एक समन्वय-सरणि पर आप को लाना होगा, अन्यथा प्रामाण्य का विघटन होना सम्भव है। **भगवान् पतञ्जलि** के योगदर्शन को जो वास्तव में पहले से चला आ रहा है, **हिरण्यगर्भ** के द्वारा कहा गया है, जो भी है ये सभी भगवान् की ज्ञानशक्ति की अनेक किरणें हैं। हमारा मार्गदर्शन कर रहीं हैं। उनको हम सर्वथा अनर्गल बता दें, यह उचित नहीं है।

द्विवेदी जी ने जो कहा कि अष्टाङ्गयोग का तत्त्वदर्शन में कोई उपयोग नहीं है। इसका एक समाधान मेरे मस्तिष्क में यह आता है कि जैसे निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन करने में कोई भी प्रमाण समर्थ नहीं है। यह अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त है। तो प्रमाणों का क्या उपयोग है। जो अतद्ध्यारोप है जो अतद् का आरोप कर दिया गया है उस आरोप मात्र को ही हटाने में

इन सबका उपयोग है। मैं समझता हूँ कि सम्भवतः **द्विवेदी जी** के कथन का तात्पर्य भी यही हो, हमारे अन्दर जब उपद्रव हो रहे हैं, चाहे वे स्वातन्त्र्य-शक्तिवशात् हो रहे हों, चाहे वे स्वातन्त्र्यशक्ति के संकोच के विलास से हो रहे हों, चाहे हम उन्हें अनिर्वचनीय माया के द्वारा स्वीकार करते हैं। इस उथलपुथल को शान्त करने में इस सम्पूर्ण उपाय-अनुपाय, शाम्भवोपाय, आणवोपाय सबका उपयोग जिस तरह से है, उसी प्रकार अष्टाङ्गयोग आदि सम्पूर्ण साधनों का भी उपयोग है। तत्त्वदर्शन स्वयंप्रकाश है। इसलिए सम्भव है उसके साक्षात्कार में उनका उपयोग भले ही न हो किन्तु इनका सर्वथा उपयोग नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते।

शिवमहिम्नस्तोत्र, ७ में

... रुचीनां वैचित्र्याद्दृजुकुटिलनानापथजुषां।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।

और इससे पहले **कालिदास** ने भी कहा है-

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे।। रघुवंश, १०.२६

इससे सिद्ध होता है कि **तन्त्रालोक** स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। **अभिनवगुप्त** की बुद्धि की उपज नहीं है। उन्होंने पहले ही कहा है कि सिद्धा, मालिनी और वामक (नामक वहाँ मुद्रण की त्रुटि है) इन तीन तन्त्रों के आधार पर इसकी रचना की है। उन्होंने बहुत संक्षेप में **तन्त्रसार** में बतलाया है कि ये उपाय भिन्न-भिन्न हैं किन्तु प्रत्येक उपाय एक ही उपेय के पास जाता है।

आणवोपाय में **पातञ्जल योगशास्त्र** का या नाथयोग इत्यादि का उपयोग किया गया है। इसके बाद जो शाक्तोपाय है उसमें विकल्पशुद्धि अर्थात् सांसारिकता से ऊपर जिसको **निस्त्रैगुण्ये पथि विचरताम्...।।** ये जो स्थिति है। उस स्थिति में वह पूर्णरूप से नहीं आता है, किन्तु विकल्प की शुद्धि शाक्तोपाय के लिए आवश्यक है। **मालिनीविजय** में एक बड़ा उद्धरण दिया है- आप गंगा-स्नान करते हैं कि नहीं करते हैं? तीर्थयात्रा करते हैं कि नहीं करते हैं? तिलक लगाते हैं कि नहीं लगाते हैं? पूजा करते हैं कि नहीं करते हैं? इसके ऊपर हम कुछ विशेष नहीं कहते। आपकी इच्छा है कीजिये या मत कीजिये। किन्तु हम उनसे एक बात कहना चाहेंगे; जो वो करते हैं, उसका चित्त के ऊपर क्या प्रभाव पड़ रहा है? चित्त में जो मलिनता है, चित्त त्रिविधमल से आक्रान्त है, उस मल के अपसारण में आपकी प्रक्रिया काम कर रही है कि नहीं, इसको आप देखिए।

जैसे कहते हैं कि विषचिकित्सक के ऊपर विष काम नहीं करता है। उसी तरह से जिसका चित्त शुद्ध है उसके ऊपर विषयों का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, यही प्रक्रिया है।

भगवद्गीता (६.४५) में कहा गया है- **अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो यान्ति परां गतिम्।** यह केवल **भगवद्गीता** की ही नहीं बौद्ध महायान की भी यही मान्यता है। **अवधूतसिद्ध** ने **भक्तिस्तोत्र** में कहा है कि आप तो अनेक जन्म को मानते हैं। अत: हमारे लिए (शैव लोगों को) दे दीजिए और हम आपको इसी जन्म में मुक्त कर देंगे। मुक्त नहीं होते हैं तो आप तो मानते ही हैं कि अनेक जन्म होते हैं तो ये जो भी है भिन्न-भिन्न काल और स्थिति में उसी को मान्यता मिली है। **काश्यां मरणान्मुक्तिः** काशी में जो मरता है उसकी मुक्ति हो जाती है। पुन: उसको जन्म नहीं लेना पड़ता है। अपश्चिम जन्म है। उसी तरह से इस शैवोपासना या ब्रह्मदर्शन की शाक्तोपासना है। इस जन्म के बाद आपका कोई अन्य जन्म आने वाला नहीं है। ये भिन्न-भिन्न विचार हैं। जिसको जो पसन्द आएगा करेगा। आजकल ऐसा नहीं है कि आप दीक्षित हो जायेंगे तो आपको स्वर्ग मिलेगा या मुक्ति मिलेगी। यह यहाँ पर नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसकी मन:स्थिति के अनुसार विचार बताये गये हैं। उन विचारों में से जिसको जो पसन्द आता है, उसको ग्रहण करके आगे बढ़ेगा। इमसें किसी का विरोध नहीं है। कर्मकाण्ड का निषेध कर दिया गया है। परन्तु **भगवान् शङ्कराचार्य जी** भी कर्मकाण्ड का मन:शुद्धि में विनियोग मानते हैं। आगम वाले कहते हैं कि कर्म और ज्ञान एक पक्षी के दोनों पंखों के समान हैं। एक पंख से पक्षी उड़ नहीं सकता। केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं मिल सकती। कर्म और ज्ञान का समुच्चय अपेक्षित है। ये नाना प्रकार के मत हैं। अत: जिसको जो पसन्द आये वह वैसा करे।

डॉ. हृदयरञ्जन शर्मा (प्रश्न)

द्वादशाङ्गुल के स्थितिकेन्द्र पर चित्त स्थिर करना लक्ष्य है अथवा इससे भी आगे जाना है?

प्रो. रमेशचन्द्र शर्मा (प्रश्न)

सूर्य को जड़ मानना कैसे और कहाँ तक उचित है? द्वादश आदित्य से तात्पर्य क्या है?

प्रो. भागचन्द्र जैन (टिप्पणी)

बौद्धतन्त्र पर शैवतन्त्र के प्रभाव की समस्या गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है।

प्रो. बेटिना बॉमर (टिप्पणी)

सूर्य के सन्दर्भ में द्वादश संख्या प्रतीकात्मक भी हो सकती है।

ज्ञानासिंहासनाधीश्वर डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य (अध्यक्षीय)

गुरु का शस्त्र शास्त्र है जो कार्य शस्त्र से नहीं हो सकता वह कार्य भी शास्त्र से हो जाता है। **अभिनवगुप्त** ने यह विचार रखा कि भगवान् की अपेक्षा गुरु सर्वश्रेष्ठ है। गुरु अपने उपदेश के द्वारा दुर्बुद्धि का संहार करके बुद्धि को निर्मल करता है। **वाल्मीकि** का उदाहरण सर्वविदित है। यही ईश्वर और गुरु में भेद है। इसीलिए भगवान् के अवतार की अपेक्षा गुरु का अवतार श्रेष्ठ माना जाता है।

प्रो. कमलाकर मिश्र (धन्यवाद)

जैसे बौद्ध संगीतियों के विषय में कहा जाता है कि वे सुबह से शाम तक निर्बाध चलती रहती थी। तब सभी के विचार प्रस्तुत होते थे। किन्तु इन गोष्ठियों में समय की सीमा है। भूख को बढ़ाने के लिए 'एपेटाइज़र' दिया जाता है वैसे ही यह आज की गोष्ठी तो ज्ञान-पिपासा बढ़ाने के लिए है।

तन्त्र और अद्वैत वेदान्त में प्रायः तीव्र मतभेद, संघर्ष और विरोध की बात कही जाती है किन्तु वस्तुतः ये एक ही परिवार की दो धाराएँ हैं, एक ही वृक्ष की दो शाखाएँ हैं जो एक दूसरे की पूरक हैं, विरोधी नहीं- ऐसा **प्रो. सुधांशुशेखरशास्त्री** का मत अभिनन्दनीय है। न केवल तन्त्र और अद्वैत वेदान्त का अपितु द्वैत और अद्वैत सम्प्रदायों का समन्वय आवश्यक है। तन्त्र की विशेषता है द्वैत को अद्वैत में समाविष्ट करना, क्षणभङ्गवाद को नित्यतावाद में और मायावाद को नित्यतावाद में समन्वित करना। इस समन्वय में किसी का निषेध या तिरस्कार नहीं है बल्कि आत्मसात् करना और उसके लिए स्थान निर्धारित करना है। **अभिनवगुप्त** ने **तन्त्रालोक** में कहा है- **पूर्वपक्षतया येन विश्वमाभासितम्**, सभी वादों में तत्त्व है, सभी वादों में ज्ञान है।

अभिनवगुप्त ने तन्त्र के विशाल व्यापक जंगल से रास्ता निकालकर असंभव कार्य को सम्भव बनाया है। तन्त्र की भाषा प्रतीकात्मक है, अभिधा के द्वारा उसके सही अर्थ को नहीं समझा जा सकता। इसलिए **अभिनवगुप्त** ने उस

विधि का **तन्त्रालोक** में उद्घाटन किया है, उसका मापदण्ड दिया है और वह भी तर्क के साथ। यह **अभिनवगुप्त** और **तन्त्रालोक** की विशेषता है। इसे तन्त्र का Rational Interpretation कहा जा सकता है। विवेकसम्मत व्याख्या और फिर उसे समझने की दृष्टि **अभिनवगुप्त** ने दी है। **अभिनवगुप्त** के षडाधिक अथवा अनेक गुरु थे।

आमोदार्थी यथा भृङ्गः
पुष्पात्पुष्पान्तरं व्रजेत्।
विज्ञानार्थी तथा शिष्यो
गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत्।। तन्त्रालोक, १३.३३५

❖ ❖

According to the **Tantrāloka Abhinavagupta** was not his actual name. It was a title which he earned from his teachers in recognition of his devotion to and reflection upon **Śiva**.

Rastogi, Navjivan **Introduction to Tantrāloka**, p. 19.

Strange as it may appear, the **Tantrāloka** happens to be the only major 'original' work of **Abhinava** while his all other important works come to us in the form of a commentary on some earlier valuable text notwithstanding his own description of the **Tantrāloka**... .

Ibid, p. 1.

The **Tantrāloka** is both an inspiration and a challenge for the students of the tantric lore. It is an indispensable guide and so study on tantra should be deemed complete if it does not take the **Tantrāloka** into account. Written on very scientific principles it offers a most uptodate (of course till his period), extremely comprehensive and truly systematic account of the tantric material and thereby offers a model for modern research. It also constitutes the most important single source of authentic tantric information and material. It poses an enormous challenge when it comes to identify the sources cited and decide on their precise whereabouts and the issues involved.

Ibid, prefatory note p. viii-ix.

आह्निक - ७

तन्त्रालोक का संक्षिप्त परिचय

पं. बलजिन्नाथ

(इस लेख की टाइप्ड पाण्डुलिपि **तन्त्रालोक** के परिचयात्मक व्याख्यान के अवसर पर **पं. व्रजवल्लभ द्विवेदीजी** से प्राप्त हुई थी। अतः उन्हीं की प्रेरणा और अनुमति से, प्रसङ्गानुसार उपयोगी मानकर इसका प्रकाशन किया जा रहा है-सम्पादक।)

आचार्य **अभिनवगुप्त**-विरचित **तन्त्रालोक** का जोड़ संसार भर में कहीं भी नहीं मिल सकता। इस ग्रन्थरत्न के पढ़ने और समझने से सुविशाल तन्त्रशास्त्र के अध्ययन के प्रति एक राजमार्ग-सा खुल गया है और बिना इसके अध्ययन के तन्त्रशास्त्र के घने वन में आगे बढ़ने का मार्ग हाथ में आता ही नहीं। आचार्य महोदय ने अपने अनेक प्रिय शिष्यों की प्रार्थना से अनेक शैवतन्त्र-ग्रन्थों में से अत्यन्त उपयोगी सार को निकाल कर उसका संग्रह किया। फिर उसको समुचित क्रम में रख करके इस अतीव अद्भुत ग्रन्थरत्न का निर्माण किया। इस ग्रन्थ का आरम्भ करते हुए उन्होंने सबसे पहले बन्धन और मोक्ष का निरूपण करते समय अन्य शास्त्रों के द्वारा उपदिष्ट मोक्ष-सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए उस प्रकार के मोक्ष को **कुतश्चिन्मुक्ति** अर्थात् आंशिक मुक्ति के रूप में सिद्ध करके अन्ततोगत्वा स्वात्मस्वरूप की प्रत्यभिज्ञा से प्राप्त होने वाले मोक्ष को सर्वथा मुक्ति के रूप में सिद्ध किया है।

अनुपाय

अनुपाय योग के स्वरूप और विधान का निरूपण दूसरे आह्निक में किया गया है। अनुपाय उनकी दृष्टि में स्वतः सिद्ध प्रातिभ स्वरूप साक्षात्कार के अभ्यास को कहते हैं। यह प्रायः गुरुकृपा मात्र से होता है। कभी-कभी किसी-किसी को उपायों का थोड़ा-सा सहारा भी लेना पड़ता है।

शाम्भवोपाय

तन्त्रालोक के तीसरे आह्निक में शाम्भवोपाय का निरूपण विस्तार से किया गया है। आचार्य महोदय ने **तन्त्रसार** में स्पष्ट कहा है कि उनके गुरु **आचार्य शम्भुनाथ** का यह आदेश था कि अत्यन्त रहस्यात्मक साधना-प्रक्रियाओं को एक ही सन्दर्भ में कहीं प्रकट नहीं करना चाहिये, परन्तु उन्हें सर्वथा छिपाकर भी नहीं रखना चाहिए। इसीलिये उन्होंने अनुपाय योग का वर्णन विशेष विस्तार से नहीं किया है।

शाम्भवोपाय का जो सर्वोच्च प्रकार है, वह अनुपाय के समीप पहुँचाता है। इसी का निरूपण **भगवद्गीता** के छठें अध्याय में किया गया है। उसका स्फुट निरूपण उसकी रहस्यात्मकता के कारण **तन्त्रालोक** में समुचित स्थान पर न करते हुए तेरहवें आह्निक में अनुग्रहशक्तिपात के सम्बन्ध में प्रातिभ विज्ञान के प्रकरण में थोड़ा-बहुत कर ही दिया गया है।

तीसरे आह्निक में शाम्भवोपाय के उस प्रकार का निरूपण विस्तार से किया गया है जिसे मातृका-उपासना कहा जाता है। तदनुसार गुरु के अनुग्रह से प्राप्त इस मातृकोपासना के अभ्यास से शिष्य को इस बात की अपरोक्ष अनुभूति हो जाती है कि **समस्त ब्रह्माण्ड मुझसे प्रकट हुआ है, यह मेरे ही चित्प्रकाश के भीतर होता रहता है और यह मुझसे सर्वथा अभिन्न है। भगवद्गीता** के ग्यारहवें अध्याय में **श्रीकृष्ण** के द्वारा **अर्जुन** को इसी उपाय के द्वारा होने वाले आत्मसाक्षात्कार का उपदेश काव्यात्मक शैली में दिया गया है। **महाभारत** के अनुशासनपर्व में विद्यमान एक आख्यान के अनुसार **भगवान् श्रीकृष्ण** को इस शाम्भवविज्ञान की साधना की दीक्षा **महर्षि दुर्वासा** से मिली थी। मौसलपर्व में भी उनके उस सम्बन्ध की स्मृति महाभारतकार ने करा दी है।

वैसे तो शाम्भवोपाय का अन्तरतम स्वरूप है चित्त के संकल्पों और विकल्पों के रुक जाने पर और चिद्रूप आत्मा को उनसे छुटकारा मिल जाने पर उसकी निवात दीपवत् स्थिति में स्वयं अपने ही प्रकाश से अपने आप के साक्षात् दर्शन का अभ्यास। उस निवातदीप जैसी स्थिति के सिद्ध हो जाने में एक विशेष प्रकार की शारीरिक मुद्रा के अभ्यास से त्वरित प्रगति होती है। उस मुद्रा को शाम्भवी मुद्रा कहा जाता है। शारीरिक मुद्रा के स्फुट वर्णन से उसकी स्थिति अनधिकारी को भी भलीभाँति समझ में आ सकती है और उसके हाथों उनका दुरुपयोग होना भी बहुत सम्भव है। इस कारण से आचार्य ने उसका वर्णन **तन्त्रालोक** में नहीं किया। यही नीति उन्होंने करणयोग के विषय में अपनाई है। त्रिक-साधना के जो रहस्य उनके स्फुट वर्णन के द्वारा भी पूरी तरह से बुद्धि में बैठ नहीं सकते, उनका प्रतिपादन **तन्त्रालोक** में विस्तार से किया गया है। ऐसी नीति **आचार्य श्री शम्भुनाथ** की थी और उसी का अनुसरण **आचार्य अभिनवगुप्त** ने उन्हीं के आदेश से **तन्त्रालोक** में किया। शाम्भवी मुद्रा के सहित किए जाने वाले शाम्भवयोग का वर्णन करके और **विज्ञानभैरव** आदि में उपदिष्ट कई एक अन्य शाम्भवी साधनाओं के विषय में भी मौन का ही आश्रय लिया गया है।

शाम्भव उपाय की उस मातृकोपासना नामक प्रक्रिया के अनुसार साधक गुरु के द्वारा अनुग्रह शक्तिपातपूर्वक समझाई जाती हुई इस सत्य स्थिति का स्वयमेव साक्षात् अनुभव कर पाता है कि-

१. मैं वस्तुत: अनुत्तर अर्थात् सर्वोत्तीर्ण शुद्ध और चित्तत्त्व हूँ और मेरी अभिव्यक्ति 'अ' इस वर्ण से होती रहती है।

२. आ से लेकर औ तक के सभी स्वर वर्ण मेरी आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया नाम की शक्तियों के विस्तार की अभिव्यक्ति करते रहते हैं। 'अं' इस बात को बतलाता है कि समस्त सृष्टव्य जगत् मेरे भीतर विद्यमान है और 'अ:' उस जगत् की बाह्य सृष्टि के प्रति मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति को अभिव्यक्त करता है।

३. फिर साधक को ऐसी स्थिति का साक्षात् अनुभव हो जाता है कि मेरी इन शक्तियों के प्रतिबिम्ब ही शक्ति से लेकर पृथ्वी तक के समस्त तत्त्वों के रूप में प्रकट होते रहते हैं और मातृका के वर्णों में से 'क' पृथ्वी तत्त्व का तथा 'ह' शक्ति तत्त्व का अभिव्यंजक है तथा बीच वाले 'ख' से लेकर 'स' तक के वर्ण क्रमश: जलतत्त्व से लेकर सदाशिव तक के तत्त्वों की अभिव्यञ्जना करते हैं।

४. इन वर्णों और तत्त्वों का परस्पर अभेदमयी दृष्टि से साक्षात् दर्शन करता हुआ साधक इस बात का भी स्वयमेव अनुभव करता है कि 'आ' से लेकर 'अ:' तक की मेरी अपनी ही शक्तियों के प्रतिबिम्ब मेरे ही अनुत्तर चित्प्रकाश के भीतर प्रकट होते हुए क्रम से पृथ्वीतत्त्व से लेकर शक्तितत्त्व तक के रूपों में तथा 'क' वर्ण से लेकर 'ह' वर्ण तक के मातृका वर्णों के रूप में चमकते रहते हैं।

इस तरह से अनुभव करता हुआ शाम्भवोपाय का अभ्यासी साधक अपने चिदात्मक स्वरूप को छत्तीस तत्त्वमय विश्व के प्रतिबिम्बों से खचित होता हुआ और साक्षात् अनुभव करता हुआ कृतकृत्य हो जाता है। वह इस बात का साक्षात् अनुभव करता है कि समस्त विश्व मुझसे अभिव्यक्त हो रहा है और मुझमें अभिव्यक्त होता हुआ मुझसे अभिन्न है। ऐसा अनुभव उसे बुद्धि की सहायता से न होता हुआ साक्षात् अपने चित्प्रकाश से ही हुआ करता है। बुद्धि तथा अन्य सभी अन्त: और बाह्य करण इस शाम्भवोपाय के अभ्यास से विलीन होकर ही रहते हैं और आत्मदेव अपने ही चित्प्रकाश से अपने आपका साक्षात् अनुभव कर पाता है। बिम्ब से प्रतिबिम्ब उल्टा बैठता है। इसीलिए इन शक्तियों के प्रतिबिम्ब भी उल्टे बैठे हुए अभिव्यक्त होते हैं। इस कारण अन्तिम सृष्टतत्त्व (पृथ्वी) प्रथम व्यञ्जन वर्ण 'क' से तथा प्रथम सृष्टतत्त्व (शक्ति) अन्तिम व्यञ्जन वर्ण 'ह' से अभिव्यक्त

होते हैं। वैसे भी काश्मीर शैवदर्शन में सृष्टि-प्रक्रिया को परिणाम-नीति से न मानते हुए प्रतिबिम्ब न्याय से ही माना गया है। उसी सिद्धान्त की साक्षात् अनुभूति शाम्भवोपाय से हुआ करती है।

संसार में अनुभूतियाँ दो प्रकार की होती हैं– प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन्द्रियों और मन से जो साक्षात् अनुभव होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है और अनुमान, शब्द आदि प्रमाणों से होने वाले अनुभव परोक्ष कहलाते हैं। शाम्भवी साधना के द्वारा जो तत्त्व का दर्शन होता है, वह न तो प्रत्यक्ष ही होता है और न परोक्ष ही। इन्द्रियों और अन्तःकरणों की सहायता से उत्पन्न न होने के कारण उसे प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है और साक्षात् अनुभूतिरूप होने से उसे परोक्ष भी नहीं कहा जा सकता है। इस कारण से उसे दार्शनिक परिभाषा में अपरोक्ष अनुभूति कहते हैं। इस प्रकार अपने आप की और अपने परमेश्वर स्वभाव की अपरोक्ष अनुभूति के अभ्यास को शाम्भवोपाय कहा जाता है, चाहे वह अभ्यास 'अ' से 'ह' तक की मातृका को आलम्बन बनाकर किया जाय, 'न' से 'फ' तक की मालिनी के आलम्बन से सिद्ध हो या बिना किसी आलम्बन की सहायता से स्वयमेव ही होता रहे।

इस शाम्भवोपाय को इच्छोपाय या इच्छायोग नाम भी दिए गए हैं क्योंकि इसकी साधना में साधक को ध्यान, धारणा आदि के अभ्यास की आवश्यकता नहीं रहती। उसे इस प्रकार की मानसी या काल्पनिक क्रियाओं को सर्वथा छोड़कर अपनी तीव्रतर इच्छा से सहसा अपने शिवभाव को चमकाते हुए उसी में समाविष्ट हो जाने का अभ्यास करना होता है। इस कारण से इस योग को इच्छायोग या इच्छोपाय भी कहा जाता है। शैव दर्शन में समावेश साधक की उस स्थिति को कहते हैं जिसमें परिमित चैतन्य, अपरिमित शिवचैतन्य में समाविष्ट होकर उसी में विलीन हो जाता है और एकमात्र अपरिमित शिवचैतन्य ही अपने चित्प्रकाश से चमकता हुआ स्वयं अपने आपका साक्षात्कार करता है। इस अभ्यास से जीवन्मुक्ति भी हाथ में आती है और अशरीर मुक्ति भी। इसके विशेष अभ्यास से शरीर के रहते हुए भी साधक के भीतर पारमेश्वरी शक्तियाँ अभिव्यक्त हो जाती हैं। शाम्भवी योगसाधना से होने वाले समावेश को सर्वोत्तम माना गया है।

पातञ्जलयोगसूत्र में निम्नतर कोटि के अभ्यास से आरम्भ करके क्रम से उच्च, उच्चतर, उच्चतम आदि अभ्यासों का निरूपण आरोहक्रम से किया गया है। परन्तु **तन्त्रालोक** में सर्वोत्तम और सर्वोच्च योगप्रक्रिया से ही आरम्भ करके क्रम से निम्न, निम्नतर आदि प्रक्रियाओं का निरूपण अवरोहक्रम में किया गया

है। कारण यह है कि **आचार्य अभिनवगुप्त** यह चाहते थे कि सर्वोत्तम योग प्रक्रिया को आज़माए। यदि उसका अभ्यास वह न कर सके, तभी अपनी सामर्थ्य के अनुसार किसी निम्न या निम्नतम प्रक्रिया को अपना ले। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार सभी साधक एक ही उपासना मार्ग पर नहीं चल सकते। मानवों की मनोवैज्ञानिक और शारीरिक स्थितियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। अत: उनके हित के लिए उन्हें उसी उपासना-पद्धति की दीक्षा दी जानी चाहिए जिस पद्धति का अभ्यास सफलतापूर्वक करने में उनके शरीर और अन्त:करण समर्थ हों। इसीलिए भगवान् **शिव** ने भी अनेक प्रकार के शास्त्रों को और अनेक उपासना-क्रियाओं को इस संसार में चलाया। उन्होंने अर्वाचीन युग में भी क्रम से भेद, भेदाभेद और अभेद की दृष्टि द्वारा उपदेश करने वाले **आमर्दक, श्रीनाथ** और **त्र्यम्बक** इन तीन युगपुरुषों को इस संसार में अवतार-रूप में भेजा। वस्तुत: यह संसार परमेश्वर के द्वारा खेला जाता हुआ एक महानाटक है। नाटक में पात्रों, दृश्यों और अंकों में तथा पाँच सन्धियों में परस्पर वैचित्र्य का होना अत्यन्त आवश्यक होता है। जिस नाटक में ऐसा वैचित्र्य न हो, वह नाटक कभी रुचिकर बनता ही नहीं। अत: इस महानाटक में वह वैचित्र्य अनन्त प्रकार का ही होना चाहिये और है भी। वही वैचित्र्य अनन्त प्रकार के प्राणियों के स्वभावों में, प्रवृत्तियों में, रुचियों में तथा उनके चरितों में हुआ करता है। इसीलिये बन्धन-लीला में भी वैचित्र्य है और मोक्ष-लीला में भी। इसी कारण से शैव दर्शन में मोक्ष-साधना के अनेक उपायों का उपदेश किया गया है और साधकगण उनमें से अपनी-अपनी रुचि और शक्ति के अनुकूल किसी विशेष प्रक्रिया के अनुसार ही साधना का अभ्यास करते हुए साफल्य प्राप्त कर सकते हैं।

शाक्तोपाय

तन्त्रालोक के चतुर्थ आह्निक में शाक्तोपाय का निरूपण किया गया है। शाम्भवोपाय में तो अपने वास्तविक स्वरूप के साक्षात् दर्शन का अभ्यास करना होता है। इसके अभ्यास के अवसर पर साधक के सभी अन्त:करण कहीं विलीन होकर रहते हैं। इसीलिए उसे अकिञ्चित्-चिन्तन का अभ्यास भी कहते हैं। परन्तु शाक्तोपाय में अपने वास्तविक स्वरूप का चिन्तन और मनन अन्त:करण की सहायता से ही करना होता है। यह उपाय वास्तविक सत्य को बुद्धि-भूमिका में विकल्पात्मक ज्ञान-परम्परा के द्वारा लगातार जानते रहने का अभ्यास होता है। अत: इसे ज्ञानोपाय भी कहते हैं। अपने आपके विषय में परिपूर्ण शिवभाव की कल्पना के लगातार किए जाने वाले इस अभ्यास को भावनायोग भी कहते

हैं। क्योंकि इसके अभ्यास में अपने ऊपर परमेश्वरता की भावना (कल्पना) करनी होती है। साधक इस प्रकार की विकल्पात्मक कल्पना का पुनः पुनः अभ्यास करता है- ''मैं परिपूर्ण **शिव** हूँ, सारा संसार मुझसे ही प्रवृत्त हुआ है, यह मुझसे ही आभासमान है तथा मुझसे अभिन्न है, मैं ही सर्वत्र हूँ, सब कुछ मुझमें ही है, मेरे से ही है'' इत्यादि। भावना एक विकल्पात्मक ज्ञान होता है। अतः इस शाक्तोपाय को ज्ञानयोग भी कहते हैं। इस ज्ञानयोग का अभ्यास करना बहुत कठिन होता है। **आचार्य अभिनवगुप्त** के कथनानुसार कोई विरला योग्य अधिकारी ही इस अभ्यास को सफलता पूर्वक कर सकता है।

इस कठिनाई को दूर करने के लिये भगवान् **शिव** की इच्छा से (सम्भवतः कश्मीर देशस्थ) किसी उत्तरपीठ में आठवीं शताब्दी के आरम्भ में **शिवानन्दनाथ** नाम के एक सिद्ध महापुरुष प्रकट हुए थे। उन्होंने इस शाक्तोपाय की एक सरल और सुकर प्रक्रिया का आविष्कार करके उसका प्रचार किया। तदनुसार उन्होंने सुविशाल और सुविचित्र ब्रह्माण्ड को भावना के द्वारा अपने चित्स्वरूप के भीतर विलीन करने के अभ्यास को अतीव दुष्कर समझते हुए इस विश्व को बारह वर्गों में बाँटकर क्रम से एक-एक वर्ग के विषय में उसे अपने चित्स्वरूप में विलीन करने की प्रक्रिया का आविष्कार किया और उसे अन्य योग्य अधिकारियों को भी सिखा दिया। **शिवानन्दनाथ** की मुख्य शिष्याएँ तीन योगिनियाँ थीं। उनमें से **केयूरवती** के शिष्य **गोविन्दराज** से इस विधा को **आचार्य सोमानन्द** ने प्राप्त किया। दूसरी शिष्या **मदनिका** नामक योगिनी थी जिससे यह विद्या **आचार्य अभिनवगुप्त** को मिली। इन विशिष्ट आचार्यों के द्वारा इस विद्या को ग्रहण करने से इसकी लोकप्रियता अधिक बढ़ गई। इस प्रक्रिया के अनुसार समस्त विश्व को पहले तीन वर्गों में भावना के द्वारा विभक्त करना होता है। वे तीन वर्ग हैं- प्रमातृवर्ग, प्रमाणवर्ग और प्रमेयवर्ग। फिर उन तीन की भावना एक-एक करके उनकी चार-चार अवस्थाओं के आधार पर की जाती है। वे अवस्थाएँ हैं- सृष्टि, स्थिति, संहार और अनुत्तर परमतत्त्व में सदैव ठहरे रहने की स्थिति। इस तरह से तीन वर्गों की भावना ३ × ४ = १२ बारह वर्गों में की जाती है। तब एक वर्ग को बारी-बारी से लेकर उसी की भावना के द्वारा अपने चित्स्वरूप में विलीन करने का अभ्यास करना होता है। इस तरह से विश्व के इन बारह वर्गों पर शाक्ती साधना का अभ्यास एक साथ न करते हुए क्रम से ही करना होता है। इसीलिए इसे 'क्रमनय', 'क्रमयोग', 'क्रमप्रक्रिया' आदि नाम दिए गए हैं। सुकर होने के कारण यह साधना इतनी

साधकप्रिय बन गई कि इस क्रमिक साधना का उल्लेख एक स्वतन्त्र साधना क्रम के रूप में भी होने लगा।

विश्व के उन बारह वर्गों को आत्मसात् करने के लिए अपनी उसी चिन्मयी शक्ति को जगाना होता है जो समस्त जगत् का आभास कराती है। आभास कराने वाली उस शक्ति को **काली** कहते हैं, क्योंकि वही जगत् की कलना करती है। कलना और कल्पना में भेद है। कल्पना तो जीवगण अपनी बुद्धि के द्वारा किया करते हैं। परन्तु कलना आभासना को कहते हैं। परमेश्वर स्वयं अपनी पारमेश्वरी शक्ति के बल से जगत् को अपने से बाहर विषयरूप में (प्रमेयरूप में), प्रतिबिम्बन्याय से आभासित करता रहता है। ऐसी कलना को सदैव करती हुई उसकी पारमेश्वरी शक्ति को **काली** कहा जाता है। वह **काली** ही उपर्युक्त बारह वर्गों में विभक्त किये जाने वाले विश्व की कलना करती है। शाक्तोपाय की इस क्रमनय प्रक्रिया के अभ्यास में साधक पहले तो अपनी स्वभावभूता पराशक्ति को उसके उन बारह स्वरूपों को क्रम से लेकर के जमा देता है। तीव्र और सन्तत भावना के ही अभ्यास से यह कार्य सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार से वह अपनी स्वभावभूता द्वादश **काली** देवियों के द्वारा क्रम से सारे विश्व को आत्मसात् करता हुआ मानो उसे क्रम से ही निगलता जाता है। इसी दृष्टि से इन बारह कालियों की स्तुति में उनके द्वारा विश्व को निगल जाने की क्रिया का वर्णन बहुधा किया जाता है। इस तरह से यह **काली**-उपासना त्रिकाचार के शाक्तोपाय की एक मुख्य साधना है।

परन्तु **जयरथ** जैसे प्राचीन ग्रन्थकारों ने इस साधना की लोकप्रियता के आधार पर ही इसे त्रिक और कुल नाम की प्रक्रियाओं के साथ पृथक् गिना है। उनके इस श्रद्धात्मक निर्देश के आधार पर आधुनिक युग के विद्वान् इस क्रम-साधना को त्रिक और कौल क्रमों की तरह एक स्वतन्त्र साधना-क्रम के रूप में घोषित करते आए हैं और वर्तमान समय में भी वैसा ही करते हैं। वे बार-बार घोषणा करते रहते हैं कि कश्मीर के शैव तीन प्रकार की उपासना-पद्धतियों का अभ्यास किया करते थे और वे तीन पद्धतियाँ हैं- त्रिक, कुल और क्रम। परन्तु ऐसा करते हुए वे इस बात पर ध्यान ही नहीं देते कि **तन्त्रालोक** में शाक्तोपाय का निरूपण करते हुए उसके मुख्य प्रकार के रूप में इस क्रमनय की ही साधना का प्रतिपादन किया गया है। फिर **तन्त्रालोक** के शाम्भवोपाय वाले आह्निक में मातृकायोग का प्रतिपादन करते हुए षष्ठ वर्णों को छोड़ करके शेष बारह स्वरों और बारह मालिनियों के बीच परस्पर अभेद बताया गया है। तात्पर्य यह है कि क्रमात्मक उपासना-पद्धति का जो द्वादश कालियों वाला प्रधान सिद्धान्त है, वह त्रिक-प्रक्रिया के शाम्भवोपाय

का भी एक प्रधान अङ्ग है। आणवोपाय के ध्यान-योग में भी इन बारह कालियों वाले शक्तिचक्र की भावना का अंश अतीव आवश्यक है। इन्हीं के द्वारा साधक सृष्टि-संहार आदि पारमेश्वर कृत्यों की भावना अपने में कर सकता है। इस तरह से यह द्वादश कालियों वाली क्रमनय नाम की योग-प्रक्रिया त्रिकाचार के तीनों ही उपायों का एक प्रधान अङ्ग है। अत: यह कोई अतिरिक्त और स्वतन्त्र साधना अथवा योग-मार्ग नहीं है।

फिर मुख्य साधना-क्रमों को गिनाते हुए **आचार्य अभिनवगुप्त** ने जो आगमवाक्य **परात्रीशिका** के विवरण में उद्धृत किये हैं उनसे कहीं भी कौल, त्रिक आदि की तरह स्वतन्त्र साधनोपाय के रूप में क्रमाचार का नामोल्लेख नहीं मिलता है। अत: क्रम-प्रक्रिया कोई स्वतन्त्र साधना-क्रम न होकर त्रिकाचार के शाक्तोपायकारक विशिष्ट महत्त्व वाला प्रकार मात्र है। **त्र्यम्बक**-परम्परा में पहले पहल **आचार्य सोमानन्द** ने इसे अपनाया। आगे **आचार्य अभिनवगुप्त** ने शाक्तोपाय के निरूपण में सबसे अधिक महत्त्व इसी अभ्यास को दिया। इन कारणों से त्रिकाचार के उन प्राचीन गुरुओं में यह साधना-पद्धति बहुत लोकप्रिय बनी रही। **आचार्य अभिनवगुप्त** ने अपने दो ग्रन्थों **(परात्रीशिका** और **तन्त्रसार)** में जो जनसाधारण की जनभाषा के वाक्य उद्धृत किये हैं, उनके विषय में अनुमान लगाया जा सकता है कि वे वाक्य **शिवानन्दनाथ** की शिष्या **मदनिका** के द्वारा रचित किसी ग्रन्थ से लिये गये होंगे क्योंकि स्त्रियाँ प्राचीन भारत में संस्कृत की अपेक्षा प्राकृतभाषा का ही अधिक प्रयोग किया करती थीं और अर्वाचीन भूतकाल में उन्होंने देशभाषा के ही प्रयोग को अपनाया होगा। **मदनिका** योगिनी की ही परम्परा से आचार्य महोदय को यह विद्या प्राप्त हुई थी।

आणवोपाय

तन्त्रालोक के पाँचवें आह्निक में आणवोपाय के कई प्रकारों का निरूपण विस्तार से किया गया है। शाम्भवोपाय के द्वारा अपने वास्तविक **शिव** स्वरूप के साक्षात्कार की स्वत: अनुभूति का अभ्यास करना होता है। शाक्तोपाय में साधक की बुद्धि के क्षेत्र में आत्मदेव के उस पारमेश्वर स्वभाव का पुन: पुन: विकल्पज्ञानात्मक विमर्शन करना होता है। परन्तु आणवोपाय का अभ्यास प्रमेयात्मक पदार्थों को जैसे साधक की बुद्धि और उसकी वृत्ति को, प्राणशक्ति और उसके व्यापारों को, शरीर और उसके नाड़ीचक्रों को, श्वास-प्रश्वास की गति को तथा देश और काल को आलम्बन बनाकर उनके विषय में भी परिपूर्ण शिवभाव की भावना का अभ्यास करना होता है। शाम्भवोपाय निरालम्बन उपाय होता है, शाक्तोपाय में चित्स्वरूप

अपने आपको ही आलम्बन बनाता है और आणवोपाय में अपने आपसे भिन्न बुद्धि, प्राण, देह, देश, काल आदि को। त्रिक साधना के इन तीनों उपायों में यह परस्पर भेद है। आणवोपायों के भी दो वर्ग हैं- ग्राह्य वर्ग और बाह्य वर्ग। बुद्धि, प्राण, देह और श्वासप्रश्वास ग्राह्य वर्ग में गिने जाते हैं, क्योंकि ये प्रमाता के प्रमेय (ग्राह्य) ही हैं, स्वयं प्रमाता (ग्राह्य) नहीं है। देश और काल ग्राह्य होते हुए भी बाह्य हैं अर्थात् = बहिरङ्ग विषय हैं, जबकि बुद्धि आदि साधक के अन्तरङ्ग विषय हैं। इन ग्राह्य और बाह्य विषयों को भावना का आलम्बन बनाकर इनके वास्तविक शिवात्मक स्वरूप की भावना का अभ्यास आणवोपाय में किया जाता है। बुद्धि अदि अन्तरङ्ग प्रमेय विषयों को आलम्बन बनाकर किये जाने वाले आणवोपायों का निरूपण **तन्त्रालोक** के पाँचवें आह्निक में किया गया है।

षडध्व-विवेचन

काल एक अमूर्त विषय है। क्रियाओं के क्रम पर काल की कल्पना की जाती है। इसका सूक्ष्मतम अंश क्षण होता है। क्षण उतने काल को कहते हैं जितनी देर बुद्धि में एक विकल्प ज्ञान ठहरता है। उस विकल्प ज्ञान की अभिव्यक्ति शाब्दी कल्पना के द्वारा होती है। उस शाब्दी कल्पना को अभिलाप कहा जाता है। अभिलाप के तीन प्रकार होते हैं-

१. सूक्ष्मतर अभिलाप अकार आदि वर्णों के द्वारा होता है।
२. सूक्ष्म अभिलाप ह्रीं श्रीं आदि मन्त्रों अर्थात् अक्षरों के द्वारा होता है। ये दोनों अभिलाप निर्विकल्प स्वभाव के होते हैं।
३. तीसरा अर्थात् स्थूल और सविकल्प अभिलाप पदों के द्वारा होता है। वाक्य, पद-समूह होता हुआ पद में ही गिना जाता है। इस तरह से कालाध्वा का अभ्यास वर्ण, मन्त्र और पद इन तीनों मार्गों पर चलता है।

देशाध्वा के तीन मार्ग होते हैं- कला, तत्त्व और भुवन। भुवन लोक-लोकान्तरों को कहते हैं। यह देशाध्वा स्थूल स्वभाव का होता है। भुवनों के कारणीभूत सूक्ष्म प्रमेयों को तत्त्व कहते हैं। ये छत्तीस माने गये हैं। इन्हें बाह्य योग का सूक्ष्म मार्ग माना जाता है। कई तत्त्व वर्गों के कारणभूत सूक्ष्मतर प्रमेय को कला कहा जाता है। ये कलाएँ पाँच हैं। एक-एक कला कई-कई तत्त्वों को व्याप्त करती हुई उन्हें धारण करती है। कला, बाह्य योग का सूक्ष्मतर मार्ग होता है। इस तरह से बाह्य योग छः प्रकार का होता है। इसे षडध्व धारणा कहा जाता है। बुद्धि ध्यान से षडध्वधारणा तक की सभी योग-साधनाओं को आणवोपाय के प्रकारों में गिना जाता है। उनका निरूपण **तन्त्रालोक** के छठे से लेकर बारहवें आह्निक

तक विस्तार से किया गया है। इनमें से कई एक उपासना-प्रकार ऐसे विचित्र हैं कि उनका दिग्दर्शन मात्र भी अन्य किसी भी धर्मग्रन्थ में या उपासना ग्रन्थ में कहीं भी नहीं मिलता। उदाहरण के तौर पर सातवें आह्निक में प्रतिपादित चक्रोदय नाम की रहस्यमयी साधना और दसवें आह्निक में वर्णित तत्त्वभेदन-प्रक्रिया केवल **तन्त्रसार** और **तन्त्रालोक** में ही मिलती है।

शक्तिपात, दीक्षा, मुद्रा, मण्डल

तेरहवें आह्निक में शक्तिपात के स्वरूप, स्वभाव, हेतु, फल तथा उसके भिन्न-भिन्न प्रकारों का निरूपण विस्तार से किया गया है। चौदहवें आह्निक में तिरोधान-क्रिया का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। पन्द्रहवें आह्निक से लेकर चौंतीसवें तक काश्मीर शैवदर्शन की धार्मिक क्रियाकलापों का निरूपण भी खूब विस्तार से किया गया है। इनमें दीक्षा, अभिषेक, योग आदि का तथा मन्त्र, मुद्रा, मण्डल आदि का निरूपण किया गया है। अट्ठारहवें आह्निक में दीक्षा के विविध प्रकारों का निरूपण विस्तार से किया गया है। उनमें कई एक आश्चर्यजनक कृत्य और क्रिया-कलाप देखने को मिलते हैं, जैसे- पशुओं, वनस्पतियों, बीजों आदि को मुक्ति दिलाने वाले दीक्षा कर्म तथा मरे हुए शिष्य का परलोक से आकर्षण करते हुए विशेष क्रिया के द्वारा उसे मोक्ष मार्ग पर लगा देने वाली परोक्ष दीक्षा, मृतशरीर की दीक्षा, श्राद्ध द्वारा पितरों की मोक्षदात्री दीक्षा इत्यादि। इस प्रकार के आश्चर्यजनक क्रियाकलाप शायद ही और कहीं देखने में आते हों।

अट्ठाईसवें आह्निक में तान्त्रिक यागविधि का निरूपण करके उन्तीसवें आह्निक में कौलिकी साधना का प्रतिपादन रहस्यमयी भाषा में किया गया है। तीसवें आह्निक से चौतीसवें आह्निक तक इन क्रियाकलापों के उपयोग में आने वाले मन्त्र, मण्डल, मुद्रा आदि रहस्यात्मक साधनों का निरूपण इस तरह से रहस्यमयी भाषा में किया गया है कि विधिपूर्वक दीक्षा को प्राप्त करने वाला तथा निष्ठापूर्वक सतत अभ्यास करने वाला साधक ही उन्हें भलीभाँति समझ सकता है। कोई अनुभवी साधक उपदेश द्वारा उन रहस्यों को बता सकता है। शोध और अनुसन्धान करने पर भी संशय रह ही जाते हैं, विशेषकर मन्त्रों के विषय में। मुद्रा तो करके दिखा देने वाला विषय है। मण्डलों के चित्र कहीं उपलब्ध हों, तो उनका स्पष्टीकरण हो जाए।

पैंतीसवें आह्निक में शास्त्रों के ऊपर समन्वयात्मक दृष्टि का निरूपण करके छत्तीसवें में काश्मीर शैवदर्शन की त्रिक नाम की साधना-विद्या के मूलभूत आविर्भाव का, मानवलोक में उसके अवतरण का तथा उसके प्रसार का वर्णन

मिलता है। सैंतीसवें आह्निक में त्रिक-प्रक्रिया का साधनाक्रम में विशेष महत्त्व बताकर आगे ग्रन्थकार का तथा उनके वंश का इतिहास दिया गया है। इस सुविशाल **तन्त्रालोक** के एक गद्यात्मक संक्षेप का भी निर्माण आचार्य महोदय ने किया है। वह संक्षेप **तन्त्रसार** कहलाता है। उसका भी एक पद्यात्मक संक्षेप ग्रन्थकार के चचेरे भाई **अभिनवगुप्त द्वितीय** (अभिनवगुप्त विशेष) ने किया है। उस चचेरे भाई का नामोल्लेख **तन्त्रालोक** (३७/६७) में किया गया है-

अन्ये पितृव्यतनयाः शिवशक्तिशुभ्राः,
क्षेमोत्पलाभिनवचक्रकपद्मगुप्ताः।
ये सम्पदं तृणममंसत शंभुसेवा-
संपूरितं स्वहृदयं हृदि भावयन्तः।।

❖ ❖

The **Tantrāloka**, as printed, comprises roughly 6000 verses, 5844 1/2 to be exact. The fact that two verses, **T.A.** 37.4-5, have been repeated as **T.A.** 37.10 ½-12, ½ does not reduce the number because this anomaly is a legacy from the time of **Jayaratha** himself having been retained in his script itself. The sum total of the printed versenumbers at 5842, therefore, does not give the correct picture because of several printing mistakes and editorial lapses resulting in occasional duplication and omission of numbers as well as treatment of halfverses as full ones.

Rastogi, Navjivan **Introduction to Tantrāloka**, p. 155.

The **Tantrālok** is a versicular text like most Sanskrit works and though **Abhinavagupta** displays his poetic skill occasionally, his main occupation is scholastic treatment. He seems to be quite at home in employment of a variety of metres and the following appear to be his favourite choice- Nardataka, Anuṣṭup, Upendravajrā, Vasantatilakā, Āryā, Rathoddhatā, Sragdharā, Mandākrāntā, Śārdūlavikriḍita, Indravajrā, Śikhariṇī, Drutavilambita, Vaṁśastha, Pṛthvī and Mālini, While he casts the **Tantrāloka** mostly in the traditional Anuṣṭup meter he seems to be quite fond of Āryā and Vasantatilakā also.

Ibid, p. 167-68.

आह्निक - ८

आचार्य अभिनवगुप्त-प्रणीत तन्त्रसार का संक्षिप्त आलोचन

अध्यक्ष - ज्ञानसिंहासनाधीश्वर डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य

पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती (प्रधान वक्ता)

आचार्य **अभिनवगुप्तपाद**-रचित **तन्त्रसार** छोटा ग्रन्थ है और इसलिए क्लिष्ट है। विस्तृत होता तो क्लिष्ट नहीं होता। यह काश्मीरीय शैव दर्शन का अनुपम ग्रन्थ है।

आलोच्य ग्रन्थ में बाईस आह्निक हैं और प्रत्येक आह्निक के अन्त में आलोचित विषयों का उल्लेख एक-एक पङ्क्ति के द्वारा किया गया है। इस प्रकार की रचना-शैली अन्यत्र दिखाई नहीं पड़ती। उदाहरण के रूप में पहले आह्निक के अन्त में उसका परिचय इस प्रकार दिया गया है- **इति श्रीमदभिनवगुप्ताचार्य-विरचिते तन्त्रसारे विज्ञानभेदप्रकाशनं नाम प्रथममाह्निकम्।** इसी प्रकार अन्य आह्निकों का भी परिचय प्रत्येक आह्निक के अन्त में दिया गया है।

तन्त्रसार, अभिनवगुप्त द्वारा लिखित विशाल ग्रन्थ **तन्त्रालोक** का ही संक्षिप्त रूप है, ऐसा प्रतीत होता है। उन्होंने प्रारम्भ में ही बताया है-

विततस्तन्त्रालोको विगाहितुं नैव शक्यते सर्वैः।
ऋजुवचनविरचितमिदं तु तन्त्रसारं ततः शृणुत।। तन्त्रसार, १.२

इस कथन से स्पष्ट है कि **तन्त्रालोक** की रचना के अनन्तर **तन्त्रसार** की रचना हुई है। इसकी रचना का काल आनुमानिक ई. १०१४ के पूर्व कोई समय रहा होगा। **तन्त्रालोक** की रचना के अनन्तर **तन्त्रसार** की रचना हुई इस विषय में सन्देह नहीं होना चाहिए।

यह ग्रन्थ उन विद्वानों के लिए उपयोगी है जो गुरु-परम्परा से नहीं पढ़े हैं। संक्षिप्त होने के कारण और सूत्ररूप में विषयों का प्रतिपादन होने के कारण इसके माध्यम से ऐसे विद्वान् प्रधान विषय के गहन तात्पर्य को अनायास अधिगत कर सकते हैं।

शैव मत को सर्वथा दार्शनिकता की कसौटी पर परखना मुझे उचित प्रतीत नहीं होता। यह रहस्यशास्त्र है। साधना के मार्ग को दर्शाने वाला शास्त्र है। इसलिए लौकिक दृष्टि से इस शास्त्र की पर्यालोचना नहीं होनी चाहिए। किसी एक शास्त्र में तत्त्वों का विवेचन जिस दृष्टि से किया जाता है दूसरे शास्त्रों की दृष्टि में उसे नकारा भी जाता है। इसलिए शास्त्रों का वास्तविक मर्म जानने के लिए उन शास्त्रों की दृष्टि अपनानी चाहिये। बौद्ध या वेदान्त की दृष्टि में परमाणु स्वीकृत नहीं है लेकिन वैशेषिक सिद्धान्त में उसे नकारा नहीं जाता है। शैव मत में अज्ञान द्विविध है (१) बौद्ध और (२) पौरुष। जिन्होंने शैव शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया उनके मन में स्वभावतः प्रश्न उठता है- बौद्ध अज्ञान स्वीकार करने की कौन-सी युक्ति है? पौरुष अज्ञान स्वात्मसंकोचरूप है जिसे परमेश्वर स्वयं ही अपनी स्वतन्त्र शक्ति से अपने को संकुचित रूप में आभासित करते हैं। पौरुष अज्ञान ही संसार का मूलकारण है। उसका स्वरूप विकल्पमय है जिसके कारण अखंडप्रकाश शिवभाव संकुचित प्रथा के रूप में बद्ध जीवों में आभासित होता है। परमेश्वर की स्वात्मगोपन-प्रक्रिया को शास्त्रकारों ने स्वरूप-प्रच्छादन-क्रीडा का नाम दिया। स्वात्मसंकोच-क्रीडा का रूप होने के कारण इसका उदय कब हुआ, कब इसकी समाप्ति होगी, यह कहा नहीं जा सकता। जीव, पशु, पुद्गल तत्त्वतः शिवरूप हैं। जब तक स्वरूप-संकोचरूप अज्ञान जीव में वर्तमान रहता है तब तक देश-काल ही नहीं अपना स्वरूप भी शिवभाव से भिन्न प्रतीत होने लगता है। लेकिन स्वरूपस्थगन विनिवृत्त होने पर शक्तिपात या भगवत्कृपा शक्ति का संचार अणुजीव में होता है। जीवों में भगवत्कृपाशक्ति का संचार परमेश्वर का ही कृत्य है, अन्य कोई इसे कर नहीं सकता। स्वरूप का संकोचन जिसे तिरोधान भी कहते हैं, जैसे भगवत्कृत्य है, अनुग्रह भी उसी प्रकार उन्हीं का ही कृत्य है।

अन्य शास्त्रों में अज्ञान की यह द्विविधता (बौद्ध और पौरुषरूप भेद) दिखाई नहीं पड़ती। अद्वैत स्थिति की सुरक्षा के लिए शास्त्रकार की यह शैली गुरु-परम्परागत है, युक्तिसिद्ध भी है। बुद्धिक्षेत्र में जो मलिनता अनादिकाल से जीव में वर्तमान है बौद्ध अज्ञान या बुद्धि की क्रमिक स्वच्छता से वह कट जाती है। परिणाम से उसमें तात्त्विक स्वभाव का निश्चय उत्पन्न होता है। जीव समझने लगता है कि वह वस्तुतः शरीररूप नहीं, प्राण भी नहीं, मन भी नहीं, बुद्धि नहीं, इतना तक कि शून्य भी नहीं है। इस प्रकार अनात्म में आत्मबोध कहने पर भी पूर्णाहन्ता-बोधमय पौरुषज्ञान की अभिव्यक्ति नहीं होती। परमेश्वर का परमतादात्म्य प्राप्त होने पर ही इसकी अभिव्यक्ति होती है। दीक्षा के प्रभाव से पौरुष ज्ञान का उदय नहीं

होता, क्योंकि जब तक कार्म तथा मायीय मल का नाश नहीं होता तब तक पौरुष ज्ञान के उदय की कल्पना बहुत दूर की बात है।

तन्त्रसार (१.३ के गद्य) में संक्षिप्त रीति से बताया है **तत्र पौरुषम् अज्ञानं दीक्षादिना निवर्ततेऽपि, किंतु दीक्षापि बुद्धिगते अनध्यवसायात्मके अज्ञाने सति न संभवति।** क्योंकि हेय तथा उपादेय का निश्चय न होने पर तत्त्वशुद्धि तथा शिवत्व योजनारूपी दीक्षा भी संभव नहीं होती। बुद्धि के स्वच्छ पटल में तत्त्ववस्तु की यथार्थ प्रतीति तथा आत्मा में आत्मबोध के उदय के लिए दीक्षा के अनन्तर अद्वय आगमशास्त्र के श्रवण का अधिकार उत्पन्न होता है। निरन्तर अद्वयतत्त्व के अनुशीलन से बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति होती है और कालान्तर में बौद्ध ज्ञान के उदय के साथ-साथ बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति होती है।

बाईस अध्यायों वाले **तन्त्रसार** ग्रन्थ के अवलोकन से पता चलता है कि बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति के बिना बौद्ध ज्ञान का उदय जैसे संभव नहीं है वैसे दीक्षा के बिना पौरुष अज्ञान का नाश भी उसी प्रकार संभव नहीं होता है। अत: विकल्प ज्ञान के द्वारा अर्थात् शुद्ध विकल्प के निरन्तर अभ्यास से अन्त में निर्विकल्प शुद्धप्रकाश शिवस्वरूप की प्राप्ति होती है।

विकल्प के निराकरण के लिए अद्वय आगमों का अनुशीलन परम आवश्यक है। अज्ञान जैसे हेय कोटि में स्थित है उसी प्रकार समस्त वस्तुनिष्ठ सम्यक् निश्चयात्मक ज्ञान ही उपादेय है। यह ज्ञान शास्त्र में कथित ज्ञान है जो परमेश्वर के द्वारा कथित ज्ञान है। जो सभी प्रकार के बन्धन से जीवों को मुक्त करते हैं।

शैव शास्त्रों का लक्ष्य है- शिवसमावेश। इस समावेश की प्राप्ति कैसे होती है इसका संक्षिप्त उल्लेख **तन्त्रसार** की रीति से करना चाहता हूँ।

आत्मा स्वयं प्रकाशरूपी होने पर भी वह जैसे सर्वाकार है वैसे निराकार भी है। उसकी सर्वाकारता उसकी क्रियाशक्ति का ही विकसित रूप है। चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन पाँच शक्तियों से समन्वित होते हुए भी इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीन मुख्य शक्तियों से युक्त वे अपने निजानन्द स्वभाव में विश्रान्त रहकर अपने को संकुचितरूप में आभासित कर अनवच्छिन्न प्रकाश शिवरूप में प्रकाशित करते हैं। वे अपने को प्रकाशित करते समय अपनी स्वतन्त्रता के बिना कोई उपाय से या इच्छा, ज्ञान, क्रिया आदि शक्तिरूप किसी एक उपाय के द्वारा अपने स्वरूप का उन्मोचन करते हैं।

त्रिकशास्त्र की जो अवधारणा **तन्त्रसार** और **तन्त्रालोक** आदि शास्त्रों में उपलब्ध है, उसका मूल **मालिनीविजय** नामक आगमशास्त्र है। भिन्न-भिन्न उपाय और उनके अवलम्बन से जो शिवसमावेश प्राप्त होते हैं उन्हें शाम्भव, शाक्त और आणवसमावेश नाम दिया गया है। इन उपायों के नाम भी शाम्भव, शाक्त तथा आणव है। **मालिनीविजय** में इनके नाम को स्पष्टतया समावेश ही कहा गया है।

इच्छाशक्ति, स्वातन्त्र्यशक्ति का ही नामान्तर है। परमशेवर **शिव** अखण्डमण्डलरूप है जिसकी कोई कला नहीं, अंश नहीं। अखण्ड प्रकाश चिद्घन **शिव** में समवेत स्वातन्त्र्यशक्ति ही उनकी परमस्थिति का सतत आमर्शन करती हुई विराजमान है। यह आमर्शन परनादरूपी है अर्थात् परनाद उस परामर्शन का स्वरूप है। परमेश्वर की जो विश्वात्मक स्थिति है वह शक्त्यात्मक परामर्श के द्वारा ही बनती है जो मूलतः अहमात्मक परामर्शरूप है। यह विश्व जो शाक्तरूप है, वास्तविकता से अनुत्तर शिव के अन्तःस्थित है और अनुत्तर शिव भी शक्ति में, शक्ति भी अनुत्तर में स्थित है। इस प्रकार जो संपुटाकार है वही परमतत्त्व भैरव है जिसे अहं नाम दिया जाता है।

तन्त्रसार के अनुसार पूर्णसंवित्स्वभाव परमेश्वर की शक्ति ही विश्व है। शक्तियाँ असंख्य हैं जिनकी गणना हो नहीं सकती। अतः तीन मुख्यशक्तियाँ मनन के लिए मानी जाती हैं। शिव से धरणी तक व्यापक अविकल्प्य संविन्मात्ररूप जो शक्ति है उसके द्वारा विश्व विधृत है तथा आभासित है। वह है- श्रीपराशक्ति। इस भासना में भेद सर्वथा विगलित है। लेकिन जिस शक्ति के द्वारा भेद तथा अभेदरूप भासित है वह श्रीपरापरशक्ति है। विश्व केवल अभेदरूप में ही नहीं अपितु भेदाभेद एवं भेदरूप में भी भासित होता है। इस भेद की भासना भी उसी शक्ति का खेल है। इन शक्तियों की धारिणी एक अनुसन्धान से अपने स्वरूप में विलीन करती हुई विराजमान है। उन्हें मातृसद्भाव या कालसंकर्षिणी नाम से जाना जाता है। इन चार शक्तियों में स्वातन्त्र्य सृष्टि, स्थिति और संहाररूप क्रम अवलम्बित रहने के कारण इनकी संख्या बारह बन जाती है। इसका कलन अन्तर से बाहर और बाहर से अन्तर, सृष्टि, स्थिति और संहार क्रम में चक्र की गति के समान निरन्तर चलता रहता है। योगीजन इस क्रम को आत्मस्थ कर सकने पर अपने स्वरूप में कठन क्रिया का सूक्ष्म अनुधावन कर पर्यन्त स्थिति में प्रमाता का संकोच, त्याग तथा विकास ग्रहणरूप चमत्कार रस का आस्वादन करने वाले स्वरूप को अनुभव में बैठा सकता है। इतनी दूर तक सम्पन्न होने पर भी क्रम की दृष्टि में

यह पूर्ण स्थिति नहीं है- संकोच-त्याग की उन्मुखता और विकास-ग्रहण की रसिक स्थिति के उपरान्त जो परमस्थिति है वह पूर्ण विकसित प्रमाता का स्वरूप है।

तन्त्रसार में संक्षेप में अनेक अज्ञात विषयों का उल्लेख हुआ है। आणव-उपाय के प्रसङ्ग में उच्चार, करण, ध्यान, स्थानप्रकल्पन आदि विषयों का वर्णन है। आणव उपाय में ध्यान का जो उत्कृष्ट क्रम का उपदेश प्राप्त है उसके विषय में कहा गया है कि- निजहृदयरूप बोधभूमि में स्वप्रकाश परमतत्त्व को ध्यान के अनन्तर प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय इन तीनों का संघट्ट अर्थात् भेद-रहित साम्य का ध्यान करें ताकि ये तीन जो वह्नि, सूर्य और सोमरूपी हैं- एक बनकर महाभैरवाग्निरूप बन जाएँ। ध्यानरूपी पवन से वह प्रोज्ज्वल हो उठे। यह अग्नि पूर्वोक्त बारह शक्तियों से घिरी हुई है, जो चक्रेश्वर है। योगी इस प्रकार ध्यान करें कि इन्द्रियों के द्वारा एक रश्मि बाहर ग्राह्य वस्तुरूप में जाकर ठहरे। वह बाह्य वस्तु सोमरूपी शक्ति के द्वारा आपूरित है। यही सृष्टि है। सृष्टि के बाद उसकी अवभासना सूर्य से हुई है- यही स्थिति है। तदनन्तर संहाररूपी अग्नि के द्वारा उसका विलयन हुआ। इसके उपरान्त उसे अनुत्तर स्थिति में आपादन किया गया। इस क्रम से निरन्तर ध्यान होने पर समस्त वस्तुओं के साथ अभिन्नता की परिपूर्णता सम्पन्न होती है।

डॉ. बेटीना बॉमर, तन्त्रसार की जर्मन-अनुवादिका (प्रश्न)

तन्त्रसार के तृतीय अध्याय के मूल पाठ के तात्पर्य पर प्रश्न उठाए। ये प्रश्न मुख्यतया प्रतिबिम्बवाद के सन्दर्भ में थे। शाम्भवोपाय के अन्तर्गत अनुत्तरादि में अ अं बन जाता है। बिन्दु, विसर्ग दोनों परामर्शरूप हैं।

पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी (टिप्पणी)

ईश्वर की स्वातन्त्र्यशक्ति बिम्ब के बिना भी प्रतिबिम्ब की रचना कर सकती है।

डॉ. राधेश्याम चतुर्वेदी (टिप्पणी)

बिम्ब शिव की इच्छा ही है।

प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी (टिप्पणी)

चिद्रूप में बिम्ब आवश्यक नहीं है। यह केवल जड़ के प्रसङ्ग में ही आवश्यक है।

प्रो. रघुनाथ गिरि (टिप्पणी)

दर्पण के बिना बिम्ब-प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं। बिना द्वैत के अद्वैत सम्भव नहीं। देश-काल-निरपेक्ष और बिना संकोच के विस्तार का उदाहरण नहीं मिलता। तन्त्र में साधना अनिवार्य नहीं है।

डॉ. कमलेश झा (प्रश्न)

जब सब शिव है तो उपाय की आवश्यकता क्या है?

पं. चक्रवर्ती (उत्तर)

सर्वं खलु इदं ब्रह्म कहने वाले वेदान्त में भी ऐसी अनुभूति कहाँ है? शास्त्र केवल मार्गदर्शन करते हैं। सामान्य व्यक्तियों में भी ज्ञान का जागरण आवश्यक है।

ज्ञानसिंहासनाधीश्वर डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य (अध्यक्षीय)

वेदान्त में भी बिम्ब-प्रतिबिम्ब पर महत्त्वपूर्ण विचार हुआ है। अद्वैतवाद में उपाय चाहिये या नहीं- यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। उपायों में भेद अवश्य है, किन्तु उपेय एक है। उपायों की उपयोगिता मलों के निवारण में है।

डॉ. कमलाकर मिश्र (धन्यवाद)

वेदान्त में ब्रह्म को बिम्ब के रूप में मानकर अपने आन्तर्जगत् को या माया को भगवत् के रूप में भाव करके जगत् का प्रतिबिम्ब माना जाता है। लेकिन आगमशास्त्र में जो बिम्ब और प्रतिबिम्ब की व्याख्या की गई है उसकी अपनी विलक्षणता है। यहाँ जो भी भासित होता है वह सब प्रतिबिम्ब के रूप मे जाना जाता है।

❖ ❖

सर्वेषां वाहको जीवो नास्ति किञ्चिदजीवकम्।
यत्किञ्चिज्जीवरहितमशुद्धं तद्विजानत।।

तन्त्रालोक, IV.२४२.

यो गुरुः स शिवः प्रोक्तो यः शिवः स गुरुः स्मृतः।
उभयोरन्तरं नास्ति गुरोऽपि शिवस्य च।।

वही, I.१०६ पर **विवेक**

दृष्ट्वा शिष्यं जराग्रस्तं व्याधिना परिपीडितम्।
उत्क्रमय्य ततस्त्वेनं परतत्त्वे नियोजयेत्।।

आह्निक - १

तन्त्रालोक में प्रतिपादित ज्ञान का स्वरूप

पं. परमहंस मिश्र (प्रधान वक्ता)

ज्ञान की परिभाषा करना कठिन है क्योंकि वह अपरिभाषेय है। सभी लोग जगत् में देहधारण कर काल-यापन कर रहे हैं। अज्ञान की भूमि में निवास करते हैं। यह किसी को अप्रिय लग सकता है किन्तु वास्तविकता यही है। यह सृष्टि मायात्मक प्रवाह से प्रवाहित है। माया का जितना भी सञ्चालन है वह ज्ञान की भूमि में नहीं हो सकता है। ज्ञान प्रकाशरूप है। तन्त्रशास्त्र ज्ञान की परिभाषा नहीं करता है। सूर्य के विषय में **शतपथब्राह्मण** में लिखा है- **प्रजानां प्राणः सूर्यः**। प्राणशक्ति के बिना सभी निष्प्राण हैं। सूर्य को तन्त्रशास्त्र जड़ मानता है। कहा गया है- **न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं। यस्य भाषा सर्वमिदं विभाति।** हम अज्ञान की भूमि में रहते हुए, देह धारण करते हुए देह का अभिमान रखते हैं। अनात्मा में आत्मा का अभिमान करते हुए व्यक्ति देहभाव को समझने के लिए भी व्याकुल हो जाता है। तन्त्र में कहा गया है कि शरीर से जब वासना का विलय हो जाय, परिमितता का विलापन हो जाय तब देह में क्या बचता है?

शरीर को साधारणतया ८४ अङ्गुल का माना जाता है और कुछ प्रक्रियाएँ जोड़कर इसे ९६ अङ्गुल का माना जाता है। फिर १२ अङ्गुल जोड़ने पर १०८ अङ्गुल का हो जाता है। **शिव** प्रकाशात्मक है। ज्ञान ४ प्रकार का होता है। **इदं ज्ञानचतुष्कं हि। तन्मया तन्त्र्यते अस्मिन् तन्त्रालोकशासने। सिद्धिमुक्तिमहोदयम्।** इसी में ज्ञान की परिभाषा भी समाविष्ट है। **सिद्धिमुक्तिमहोदयम्** यही ज्ञान की **अभिनवगुप्त** की परिभाषा है। व्यक्ति अनेक विषयों का उपभोग करना चाहता है, उसकी वैसी कामना होती है। संसार में दो प्रकार के जिज्ञासु होते हैं- एक भोगेच्छु, एक मुमुक्षु। भोगेच्छु साधक सिद्धि की कामना करते हैं। अन्य मुक्ति की कामना करते हैं। ये दोनों ही लक्ष्य (प्रयोजन) ज्ञानचतुष्क से प्राप्त किये जा सकते हैं। यही आचार्य का अभिमत है।

आणवावस्था में यह जगत् भी चार भागों में विभक्त है- अणु, पशु, पुद्गल व जीव। **पाशबद्धात् पशुः**। जिज्ञासु जिस भाव-भूमि में अवस्थित है वहीं से वह आगे उठ सकता है।

अणुभाव में जितनी भूमिकाएँ हैं उनको आधार बनाकर ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान को लौकिक परिभाषा में देखना वैखरी धारा है। बहुत प्रयत्न से पश्यन्ती मध्यमा में पहुँचते हैं; किन्तु परा तक पहुँचना मुश्किल है। शब्दार्थ ज्ञान अपूर्ण होता है और उसका सम्बन्ध वैखरी वाणी से है। किसी प्रज्ञा-पुरुष ने मोक्ष की परिभाषा करते हुए कहा **कृष्ण** के निहितार्थ को आत्मसात् करना ही मोक्ष है। कृष्ण का निहितार्थ क्या है? यह विवादास्पद है। आत्मसात् करना क्रिया है और यह भी मोक्ष के स्वरूप से सङ्गति नहीं रखती है।

शब्दार्थ स्तर से ऊपर उठकर दूसरा ज्ञान अनुभवात्मक माना जाता है। अनुभूतियाँ, संस्कारों के अधीन होती हैं। इसलिए उनकी अपनी भी सापेक्षता है। इस ज्ञान को सही अर्थों में ज्ञान नहीं कहा जा सकता। अत्यन्त परिनिष्ठित भाव से समाधिस्थ होकर समस्त अध्व वर्ग से अतीत या विश्वातीत हो चुका, आप्तवाक्य के प्रमाणपूर्वक जो माना जाता है उसी को ज्ञान कहते हैं। आप्त अर्थात् वह स्थिति जब शब्दात्मक ज्ञान और अनुभवात्मक ज्ञान से ऊपर उठकर, उसकी आभा से प्रकाशित होकर, उसके ख्यापन करने की आकांक्षा से जब उपदेश किया जाता है, उस समय के उपदेष्टा को आप्त कहते हैं और **अभिनवगुप्त** ऐसे ही आप्त पुरुष हैं। **सोमानन्द, जयरथ** और **उत्पल** भी आप्त हैं।

प्रकाशात्मक शिव को जानने, समझने और उसका अनुभव करने की जिज्ञासा होती है। हम पारमित्य में हैं। इसको आणवज्ञान कहते हैं। सर्वप्रथम इसी को जानना आवश्यक है। विश्व में उच्च कोटि के विद्वान् भी इस शास्त्र की दृष्टि से पूर्ण ज्ञाता नहीं हैं। सभी में आंशिक ज्ञान ही है। चेष्टा में भी परमात्मा की इच्छा और अनुग्रह की प्रधानता है। इस शास्त्र में तर्क को योगाङ्ग माना गया है और इसके अन्तर्गत व्यक्ति शरीर के प्रत्येक अंगों के आधार पर अपने स्वरूप का विश्लेषण व विवेचन करता है। यियासा से जिज्ञासा होती है और उसी से तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए **शिव** का अनुग्रह प्राप्त होता है। आणव-ज्ञान की स्थिति में देहधारी शिष्य अपने गुरु से जिज्ञासा करता है कि इस सीमा से ऊपर उठने पर मेरा स्वरूप क्या है? यह आणवावस्था की भूमि है। यह आणवभाव सबसे प्राथमिक स्तर का है, फिर भी उपेक्षणीय नहीं है। क्योंकि अणुता भी परमात्मा का ही रूप है। आणवावस्था में शरीर की प्रधानता होती है किन्तु शरीर के ही वास्तविक स्वरूप से व्यक्ति अनभिज्ञ रहता है। शरीर या शरीर की प्रक्रियाएँ गृहीत होकर भी अगृहीत हैं। संसार में पूर्ण ज्ञान की अप्राप्ति का यही कारण है कि सभी पदार्थ व्यावहारिक दृष्टि से गृहीत होते हुए भी पारमार्थिक दृष्टि से अगृहीत हैं।

अणु अर्थात् बिन्दु अदृश्य है। अणुभाव अत्यन्त संकुचित अवस्था है। फिर भी इसका महत्त्व इसलिए है कि इसी भाव से ऊपर उठने की सामर्थ्य भी प्रमाता में होती है।

आणवसमावेश की पाँच स्थितियाँ हैं- (१) उच्चार (२) करण (३) ध्यान (४) वर्ण (५) स्थानप्रकल्पन।

उच्चार- प्राण, अपान, वाह। साँस लेना और छोड़ना क्रमश: प्राण और अपान है। प्राण को सूर्य और अपान को चन्द्र कहते हैं। संसार सूर्य-चन्द्रात्मक है और यह उच्चार भाव में आता है। जिस समय चिति केन्द्र में प्राण और अपान दोनों समाहित हो जाते हैं उस अवस्था को अमावस्या कहते हैं। स्थिति और गतिशीलता को ऋत कहते हैं। निरंश अवस्था में श्रेयस्कर घटित होता है। साधना में इस श्रेयस् के घटित होने पर तब साधक आणवभाव से महाभाव में प्रवेश कर जाता है। इसी अवस्था में स्थूल से सूक्ष्मभाव में, कार्य से कारणभाव में प्रवेश होता है। आणवभाव का यही वरदान है। प्राणशक्ति मात्र के रहने पर जो प्रथम स्थिति होती है वह शाक्त बिन्दु कहलाती है। श्वास सदैव नाभि में (तक) जाना चाहिए। प्रथम तुटि प्रतिपदा है। प्रत्येक साँस में एक-एक पक्ष होता है। इस साधनावस्था में व्यक्ति आणवभाव में रहते हुए भी आणवभाव में नहीं रहता है। देह में चिदानन्द रस के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रहता है। यह पारिमित्य को विलापित करने का उपाय है।

श्रेयस् भाव, शाक्तभाव, नित्यभाव, मातृचन्द्र को विजित करने की सिद्धि, परमात्मभाव में आने की सिद्धि आदि सभी सिद्धियाँ आणवभाव से ही सिद्ध हो सकती हैं, अर्थात् इसी अवस्था से उनका प्रारम्भ होता है। इस सिद्धि से अनुभव होता है कि शरीर में चिदानन्द के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रहता। पारिमित्य विलापित करने की भी साधना है। मन्त्र जपने के लिए नहीं है, अपितु उसमें प्रवेश होना चाहिए। सत् में बैठने पर ही 'होना' होता है। सत् में बैठने की प्रक्रिया को गायत्री मन्त्र के माध्यम से समझा जा सकता है। सत् ब्रह्म में सूर्य, चन्द्र का विवेक है। पृथिवी तक सीमित नहीं है यह शरीर। बोला जाता है– **यत्र यत्र पृथिवीत्वम् तत्र-तत्र धृतित्वम्**। सबसे बड़ा धारक शिव है। इसलिए **यत्र यत्र शिवत्वं तत्र-तत्र धृतित्वम् तत्र पृथिवीत्वम्**। इसलिए वस्तुत: जो पारिमित्य विलापित होना चाहिए, वह विलापित होता नहीं है। धारण करने से होता यह है कि जो आप हैं वह नहीं रहेंगे। जैसे **कबीर** ने कहा है- **जब मैं था तब हरि नहीं अब हरि हैं मैं नाहि**। यह ज्ञान का प्रकाश आणवभाव में मिलता है। किन्तु हम लेते नहीं हैं।

डॉ. हृदयरञ्जन शर्मा (प्रश्न)

द्वादशाङ्गुल पर जो स्थिति-केन्द्र है इसको प्राप्त करना ही अन्तिम लक्ष्य है अथवा इससे न्यून या अधिक की प्रक्रिया भी है?

पं. परमहंस मिश्र (उत्तर)

तन्त्र में द्वादशान्त एक निर्धारित शब्द है। एक ऊर्ध्व द्वादशान्त है ८४ अङ्गों के ऊपर १२ अङ्गुल जाता है। तब यह शरीर ९६ अङ्गों का हो जाता है। वहाँ पर भी एक द्वादशान्त है। ८४+१२ = ९६ ऊर्ध्वद्वादशान्त। दूसरा द्वादशान्त है नासिका तक। नासिका से जो श्वास निकलती है वह स्थिति-केन्द्र में जाती है। जो आजकल के आधुनिक वैज्ञानिक कहा करते हैं कि जीवन कहाँ से प्राप्त होता है, यह हम नहीं जानते। किन्तु इसका उत्तर तन्त्र देता है कि यह चितिकेन्द्र में है। **चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्**, १)। यह चितिशक्ति जब हमारे केन्द्र में आती है तो यह ईश्वर का वरदान बन जाती है।यह चितिकेन्द्र जहाँ बैठा रहता है वह नासिक्य द्वादशान्त कहलाता है। साधक के जीवन का लक्ष्य होता है श्रेयस् में जाना और जब कोई साधक इस लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है तो उसे अन्य उपायों का अनुकरण करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। श्रेयस् में अवस्थित हो जाने के बाद व्यक्ति जो कुछ करता है वह स्वयम् के द्वारा किया हुआ नहीं माना जाता अपितु परमात्मा के द्वारा किया हुआ माना जाता है। एक अधः द्वादशान्त भी होता है जो मूलाधार तक जाता है। इस प्रकार इन तीन द्वादशान्तों (ऊर्ध्व, नासिक्य और अधः) में योगी रहता है।

डॉ. हृदयरञ्जन शर्मा (प्रश्न)

वेदादि शास्त्रों में द्वादशाङ्गुल का यह क्रम बताया गया है कि एक-एक अङ्गुल कम करते हुए लक्ष्य तक पहुँचा जाता है तो क्या शैवशास्त्र भी ऐसा ही मानता है?

पं. परमहंस मिश्र (उत्तर)

इस शास्त्र में उन्हें कम करने का प्रश्न नहीं है। प्राण पूरा का पूरा शरीर को आप्यायित कर रहा है। प्राण के ऊपर विजय प्राप्त करने वाले को प्राणजित् कहते हैं। वही शाक्त बिन्दु है। वहीं पर आप उसको समाप्त कर सकते हैं। एक-एक करके कम करना नहीं है, एक पर एक घटित हो जाता है। वास्तव में ज्ञान घटित होते हैं। श्रेयस् घटित होता है।जो भी साधना करते हैं

उसमें यदि घटित नहीं हुआ तब तक यही समझिये कि अभी अधूरा है। साधना तभी पूरी मानी जाती है जब वह घटित होता है।

प्रो. रमेशचन्द्र शर्मा (प्रश्न)

सूर्य को तन्त्रशास्त्र में जड़ माना है। सूर्य तो पूरे प्रकाश, गति और ज्ञान का स्रोत माना गया है। शास्त्रों के अनुसार क्या उसका अभिप्राय यह तो नहीं है कि उसमें सूर्य स्वयं इतना घनीभूत ज्ञान या प्रकाश का केन्द्र है और वह घनीभूत है, सबका पूरा स्रोत है इसलिए उसको जड़ माना गया है? जड़त्व भाव होता भी है क्या?

दूसरी बात द्वादश आदित्य भी सूर्य माने गए हैं। यह तन्त्रशास्त्र में और शरीर में जो द्वादश संख्या बार-बार आ रही है सूर्य से इसका कोई सम्बन्ध है कि नहीं?

पं. परमहंस मिश्र (उत्तर)

वास्तव में तन्त्रशास्त्र की मान्यता के अनुसार परमात्मा का जो परमशिवभाव है उसमें स्वयं एक स्फुरत्ता रहती है। उसको कहते हैं **सा स्फुरत्ता महासत्ता।** वह परा सत्ता है जो हमेशा स्फुरित रहती है। स्फुरित रहने का तात्पर्य यह है कि वह यह जानती है कि **अहमस्मि** तो अहन्ता का जो बोध है, यह उसमें निरन्तर शाश्वत रूप से रहता है। उस शाश्वत बोध की स्थिति में जो स्फुरत्ता है वह सूर्य में नहीं है। सूर्य स्वयं अपने प्रकाश को नहीं जानता कि यह मेरा प्रकाश है। सूर्य से किरणें निकलती हैं और सूर्य को पौराणिक भाव से भारी शक्ति माना गया है। सूर्य एक पुराण भी है और उस दृष्टि से सूर्य को देवता भी माना जाता है। वास्तविकता यह है कि मैं हूँ और मैं यह प्रकाश वितरित कर रहा हूँ। हम जो सूर्य से वरदान माँगते हैं या सूर्य में जो देवत्वशीलता मानते हैं, ये सारी की सारी बातें हम अपनी भावना से मानते हैं। अपनी भावना से भावित होकर ऐसा लगता है कि हम उसको वहीं से प्राप्त कर रहे हैं। वास्तव में आप जिसको कहते हैं मान्य देव स्थिति, वह वही है। सूर्य को प्राण स्वयं मान लिया। सूर्य प्राण है लेकिन प्राण में जो प्राणवत्ता है उस स्फुरत्ता से वह सम्बद्ध नहीं है। इस दृष्टि से हम यह कहते हैं कि सूर्य जड़ है। सूर्य इसलिए जड़ है कि वह अपनी स्फुरत्ता को नहीं जानता। वह प्रकाश देता है। वह इसलिए कि उसमें जो प्रकाश है, जो जड़ तत्त्व है वह इसे प्रसारित करता है। सूर्य का ही प्रकाश चन्द्रमा में जाता है। उसका प्रकाश तारिकाओं में जाता है। पुनः विद्युत्

में जाता है। ये सारे के सारे प्रकाश अपने को नहीं जानते। इस दृष्टि से कहा गया है कि सूर्य जड़ है।

डॉ. भागचन्द भास्कर (प्रश्न)

क्या शैवतन्त्र में ज्ञान के साथ अध्यात्म जुड़ा हुआ है? जो ज्ञान अध्यात्म रूप वाला है, वही ज्ञान है और यदि शैवों के ज्ञान में अध्यात्म नहीं है तो क्या इसे अज्ञान कहेंगे? यदि ज्ञान मात्र के रूप में है तो सिद्धिमुक्ति के रूप में जो बात कही, सिद्धि के साथ में ज्ञेय को परमसुख माना गया, महासुख माना गया। महासुख और परमसुख के साथ-साथ जो पञ्चमकारों की बात आती है तो क्या शैव तन्त्र में इस प्रकार की कोई स्थिति है? दूसरी चितितन्त्र की जो बात कही गई है उसको क्या आभामण्डल के रूप में स्वीकार करें?

पं. परमहंस मिश्र (उत्तर)

प्रत्येक तन्त्र की अलग-अलग मान्यताएँ हैं। मेरा वक्तव्य शैव तन्त्र की मान्यता के अनुसार है। बौद्ध तन्त्र में निर्वाण की जो स्थिति है उसमें एक श्लोक कहा गया है कि शरीर के मरने के बाद प्राण कहाँ जाता है?

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्-
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।।२८।।
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्-
क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।।

सौन्दरनन्दम्, १६.२९

निर्वाण की स्थितियाँ बौद्ध तन्त्र और शैवों में अलग-अलग हैं।

वास्तव में अध्यात्म के बिना ज्ञान नहीं होता। शैव तन्त्र का प्रभाव बौद्ध तन्त्र पर है अथवा इसके विपरीत है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि सहभाव भी रहा है और परस्पर प्रभाव भी।

डॉ. बेटिना बॉमर (टिप्पणी)

Prof. Alexis Sanderson ने इस विषय पर बहुत अनुसन्धान किया है और उसका निष्कर्ष है कि तिब्बती तन्त्र शैव तन्त्र से लिया गया है। कुछ समय

पूर्व काठमाण्डू में जो पाण्डुलिपियाँ मिली हैं उनके अनुसार उनमें कई पैराग्राफ सीधे शैवतन्त्र से लिए गए हैं। दूसरे, द्वादशान्त में जो द्वादश संख्या का उल्लेख है वह प्रतीकात्मक प्रतीत होता है। **साम्बपञ्चाशिका** के सन्दर्भ से यह कहा जा सकता है कि यह संख्या प्रतीकात्मक है। **विज्ञानभैरव** में भी इसकी प्रतीकात्मकता का उल्लेख है। वस्तुतः तन्त्र में संख्या के तात्पर्य को अधिक अनुसन्धान के द्वारा स्पष्ट करने की अभी आवश्यकता है। **विज्ञानभैरव** में द्वादशान्त का दूसरा नाम मध्य है। **संविदेव भगवती मध्यः**। आपने जिसे शक्ति, स्थिति, चिति, बिन्दु कहा, वही मध्य है, वही संवित् भगवती है।

उत्तर

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में आया है **मध्यविकासात् चिदानन्दलाभः**। मध्य का विकास साधना का विषय है।

प्रो. रमेशचन्द्र शर्मा (धन्यवाद)

अभिनवगुप्त का काल दसवीं शती है। तिब्बत में बौद्ध मत आठवीं शती में गया। जब वहाँ उस समय तन्त्र ही नहीं था तो प्रभाव का प्रश्न ही नहीं है। शैव तन्त्र उससे काफ़ी पहिले का है। मैंने अपने एक लेख में कहा है कि यह पाषाण तन्त्र का प्रतीक है अथवा तन्त्र से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो पुरातात्विक प्रमाण मिलते हैं वह चतुर्थ शती ई.पू. से प्रथम शती ई.पू. तक के हैं। यदि इस प्रमाण के आधार पर देखा जाए तो तन्त्र वहाँ से शुरु हो जाता है। निश्चितरूप से यह विचारणीय है कि दोनों तन्त्र-परम्पराओं में प्रभाव किस पर आएगा? मैं इस बिन्दु को विस्तार से नहीं रख सकता किन्तु मुझे ऐंसा प्रतीत होता है कि तन्त्र और आगम की जो बातें हैं इनका सम्बन्ध लोकतत्त्व से है। मोहनजोदड़ो या फिर उससे पहिले भी इसकी शुरुआत मानी जा सकती है। बाद के प्रमाण तो चतुर्थ से प्रथम शती ई.पू. के मिलना प्रारम्भ हो जाते हैं। लोकतत्त्व को साथ में लेकर तन्त्रों ने अपने विषय का विस्तार किया है। **ऋग्वेद** में अदिति आदि देवियाँ सब तन्त्र से जुड़ी हुई हैं जिन्हें लेकर तन्त्र का विकास हुआ। इस विषय को आगे विस्तार में देखा जा सकता है।

❖❖

न्यासं विना जपं प्राहुरासुरं विफलं बुधा।
न्यासात्तदात्मको भूत्वा देवो भूत्वा देवं यजेत्।।

पदार्थादर्श (शारदातिलक), ४, पृ. १४०.

आह्निक - १०

तन्त्रालोक में प्रतिपादित ज्ञान और उसके स्रोत

पं. परमहंस मिश्र (प्रधान वक्ता)

शैवागम की दृष्टि से ज्ञान के तीन स्रोत माने जाते हैं। ये स्रोत हैं- गुरु, शास्त्र और स्वयम्। मुख्यरूप से **श्रीकिरणशास्त्र** की यह उक्ति है। **श्रीमदभिनवगुप्त पादाचार्य** ने इस उक्ति को **श्रीतन्त्रालोक** में उद्धृत किया है। इसका एक तरह से प्रतिपादन ही किया है। **श्रीतन्त्रालोक** में **श्रीमदभिनवगुप्त** लिखते हैं-

स्फुटमेतच्च शास्त्रेषु तेषु तेषु निरूप्यते।
किरणायां तथोक्तं च गुरुतः शास्त्रतः स्वतः।।

१३.१६२

अर्थात् यह सिद्धान्त केवल श्रीतन्त्रालोककार का नहीं, अपितु अन्य शास्त्रों में भी स्फुटरूप से निरूपित है। **श्रीकिरणशास्त्र** में यह स्पष्ट ही कहा गया है कि ज्ञान तीन प्रकार से ही सम्भव है। १. गुरु से ज्ञान प्राप्त होता है २. शास्त्रों के स्वाध्ययन से भी ज्ञान मिलता है और ३. स्वतः चिन्तन, मनन और निदिध्यासन से ज्ञान की प्राप्ति होती है। इन तीनों में कौन मुख्य उपाय है- यह प्रश्न होना स्वाभाविक है। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये कि इन तीनों से यदि ज्ञान होता है, तो ये तीनों उपाय कहे जा सकते हैं। **शिवसूत्रों** में तो यह सूत्ररूप से ही उल्लिखित है कि -**गुरुरुपायः** अर्थात् गुरु उपाय है। इसका तात्पर्य है कि सामान्य व्यक्ति जीवन के मूलतत्त्व की खोज स्वयं नहीं कर सकता। अकेला व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के वर्त्तुल में बन्द होता है। मन और मस्तिष्क के यन्त्र इतने सूक्ष्म होते हैं कि जीवन की समस्याओं को अकेले सुलझाने से वे और भी उलझ जाते हैं। गुरु इस उलझन से बचा लेता है।

गुरु अपने व्यापक और असीम सन्दर्भों को उनकी आन्तरालिक रहस्यवादिता के साथ निरखता-परखता है। आन्तर प्रकाश से प्रकाशमान वह स्वयं प्रज्ञापुरुष हो जाता है। शिष्य को भी प्रकाश का प्रतीक बनाने के कला-शिल्प का वह ललित कलाकार होता है। शिष्य को नया जन्म देकर **ब्रह्मा**, आधार और

जीवन की ऊर्जा देकर **विष्णु** और उसके अज्ञान को दूर कर **रुद्र** सिद्ध हो जाता है। साथ ही साथ परावर का दर्शन कराकर वह ब्रह्ममय बन जाता है। इतना कुछ होने पर भी भगवान् **शिव** उसे उपाय ही मानते हैं।

ऊपर यह प्रश्न किया गया है कि इन तीनों में श्रेष्ठ कौन है। **श्रीतन्त्रालोक** के शास्त्रकार कहते हैं-

किरणायां यदप्युक्तं गुरुतः शास्त्रतः स्वतः।
तत्रोत्तरोत्तरं मुख्यं पूर्व-पूर्व-उपायकः।।

४.४१-२

अर्थात् **श्रीकिरणा** नामक संहिता ग्रन्थ में मायात्मकता से शून्य सर्वोत्कृष्ट परमतत्त्व की उपलब्धि के लिये यही तीन कारण मुख्यरूप से मान्य हैं- गुरु, शास्त्र और स्वयम्। ये तीनों उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। गुरु शास्त्र के ज्ञान में उपाय बनता है। इसी तरह शास्त्र भी स्वतः ज्ञान की उपलब्धि का द्वार अध्येता के लिये खोलता है। अतः स्वतः ज्ञान का उपाय है। वस्तुतः स्वतः ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। इन पर क्रमिक विचार अपेक्षित है।

गुरुतः

इस वैचारिक भूमि में गुरु प्रथम उपाय माना गया है। गुरु कभी-कभी अपने उच्च स्तरीय तत्त्ववेत्तृत्व की प्रज्ञापारिमिता का प्रतीक बन कर स्वयं शिष्य को मोक्षैककारण ज्ञान के अमृत से तृप्त करता है। ऐसी दशा में गुरु परमोपायरूपता से विभूषित होता है और परमोपेय श्रेय की उपलब्धि करा देता है। शिष्य को ब्रह्म-साक्षात्कार कराने में समर्थ होता है। ऐसे गुरु को शास्त्र सद्गुरु की संज्ञा से अलङ्कृत करता है। **श्रीतन्त्रालोक** में उल्लेख है कि **शिवशक्त्या च सद्गुरु-प्राप्तिः** तथा

सोऽपि सत्तर्कयोगेन नीयते सद्गुरुं प्रति।
सत्तर्कः शुद्धविद्यैव सा चेच्छा परमेशितुः।। वही, ४.३४

अर्थात् ऐसे कुछ अनधिकारी लोग भी सत्तर्कयोग से सद्‌गुरु के प्रति पहुँचा दिये जाते हैं। **सतर्कः शुद्धयोगाङ्गम्** इस उक्ति के अनुसार सत्तर्क उत्तम योगाङ्ग माना जाता है। इससे शुद्धविद्या का प्रकाश उच्छलित होता है। शुद्धविद्या भी परमेश्वर की इच्छा ही मानी जाती है। यह इच्छा एक विशिष्ट तत्त्व होती है। सद्‌गुरुप्राप्तिपर्यवसायिनी अनुग्रहरूपा इस इच्छा से शिष्य का कल्याण हो जाता

है। शिष्य का यह सौभाग्य माना जाता है कि उसको सद्गुरु का शुभाभिमुख्य मिलता है। शिष्य की गुरु के प्रति गमन की इच्छा को 'यियासा' कहते हैं। गुरु के प्रति जाने की यह इच्छा परामर्श-पाटवरूपा मानी जाती है। वास्तव में गुरु स्वात्म संबोध साधना में सिद्ध प्रज्ञापुरुष होता है। वही तत्त्व-ज्ञान प्रदान कर सकता है, इसमें सन्देह नहीं। **श्रीतन्त्रालोक** (१/१२४) में भगवान् **वासुदेव** को भी तत्त्वार्थोपदेष्टा गुरु स्वीकार किया गया है।

गुरु की प्रशंसा में संस्कृत वाङ्मय के शास्त्रों में अनेकानेक सदुक्तियाँ प्राप्त होती हैं। उनके स्तवरूप अनन्त स्तोत्र रचित हैं। गुरुपरम्परा की सपर्या के बीजमन्त्र निर्दिष्ट हैं और **रुद्रयामल** (२/६६) में यहाँ तक कह दिया गया है कि-

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो गुरुर्गतिः।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन।।

गुरु का सर्वोत्तम लक्षण तन्त्रशास्त्र में यह बताया गया है कि गुरु शिष्य को शुद्ध अहन्ता का ज्ञान करा देने में समर्थ होता है-

गुरोर्लक्षणमेतावदादिमान्त्यं च वेदयेत्।
पूज्यः सोऽहमिव ज्ञानी भैरवो देवतात्मकः।।

श्रीमदभिनवगुप्त ने गुरु के विषय में (१/३३३) में कहा है कि

इह गलितमलाः परावरज्ञाः शिवसद्भावमया अधिक्रियन्ते।
गुरवः प्रविचारणे यतस्तद् विफला द्वेषकलङ्क-हानियाच्ञा।।

शास्त्रज्ञ ही गुरु होता है। उल्लेख है कि-

यो यत्र शास्त्रेऽधिकृतः स गुरुः। तन्त्रालोक, १३.३५०

गुरु गलितमल, परावरज्ञ और शिवसद्भाव संभूति से भरित माना जाता है। **श्रीतन्त्रालोक** (१३/३३३) में **श्रीमदभिनवगुप्त** कहते हैं-

तस्मात् स्वभ्यस्त-विज्ञानतैवैकं गुरुलक्षणम्...।

गुरु के सम्बन्ध में कुछ अतिवादी वाक्य भी **रुद्रयामल** आदि ग्रन्थों में कहे गये हैं। एक प्रकार से ऐसे वाक्य गुरु की महत्ता को सिद्ध नहीं करते वरन् एक प्रकार की सामाजिक भीति उत्पन्न करते हैं। जैसे-

आज्ञाभङ्गं गुरोर्देव यः करोति विबुद्धिमान्।
प्रयाति नरकं घोरं शूकरत्वमवाप्नुयात्।।

न शृणोति गुरोर्वाक्यं शृणुयाद्वा पराङ्मुखः।
अहितं वा हितं वापि रौरवं नरकं व्रजेत्।।

कुछ भी हो, गुरु की महत्ता को सभी स्वीकार करते हैं। उसकी एक पावन सन्तान-परम्परा चलती है। इससे लक्षाधिक लोगों और साधकों का उद्धार हुआ है। शिवैक्यस्फुरणात्मक संभावना को वही पुष्ट करता है, सिद्धिप्रदान करता है और मुक्ति का द्वार खोल देता है। **श्रीतन्त्रालोक** (१३.३०४) में तत्त्वविद् और अतत्त्वविद् ये भेद भी गुरु के किये गये हैं। इनमें तत्त्वविद् गुरु ही सर्वोत्तम माना जाता है। ऐसे तत्त्ववेत्ता गुरुजन की यथावसर चर्चा **श्रीतन्त्रालोक** में की गयी है जिनकी शताधिक संख्या है। इनमें **अवतारकनाथ, कल्याणिका, केयूरवती, गोविन्दराज, चक्रभानु, भूतिराज, श्रीकण्ठ, श्रीशम्भुनाथ, सुमति प्रभु** और **सोमानन्द** जैसे गुरुजन और शास्त्रकार भी परिगणित हैं। **श्रीतन्त्रालोक** (१३/२९०) के अनुसार श्रीमान् **उत्पलदेव** को परमगुरु के रूप में स्वीकार किया गया है और **श्रीशम्भुनाथ** के विषय में **श्रीमदभिनव** ने अपनी श्रद्धा व्यक्त की है-

जयताज्जगदुद्धृतिक्षमोऽसौ भगवत्या सह शम्भुनाथ एकः।
यदुदीरितशासनांशुभिर्मे प्रकटोऽयं गहनोऽपि शास्त्रमार्गः।।

तन्त्रालोक, १.१३

स्वयम् अपने उत्थान में **श्रीमदभिनवगुप्त** ने गुरुसन्तति को प्रधान हेतु माना है-

श्रीभट्टनाथचरणाब्जयुगात्तथा श्रीभट्टारिकाङ्घ्रियुगलाद् गुरुसन्ततिर्या।
बोधान्यपाशविषनुत्तदुपासनोत्थबोधोज्ज्वलोऽभिनवगुप्त इदं करोति।।

वही, १.१६

इस शास्त्र में गुरोर्गुर्वन्तरगमन की देशना भी है-

आमोदार्थी यथा भृङ्गः पुष्पात्पुष्पान्तरं व्रजेत्।
विज्ञानार्थी तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत्।।

वही, १३.३३५

अर्थात् जैसे मकरन्दपायी मधुप मधुपान-लौल्यवश एक अरविन्द से दूसरे पुष्पों की मधुयात्रा करता है, उसी तरह विज्ञानार्थी शिष्य एक गुरु से दुसरे गुरु की सेवा में जा सकता है। स्वयम् **अभिनवगुप्त** ने भी अनेकानेक गुरुजनों से शिक्षा प्राप्त की थी, दीक्षा नहीं-

अहमप्यत एवाथः शास्त्रदृष्टिकुतूहलात्।
तार्किक-श्रौत-बौद्धार्हद्वैष्णवादीन्नसेविषि।।

तन्त्रालोक, १३.३४५-४६

आचार्य जयरथ ने इस प्रसङ्ग में स्वयम् अपने जीवन के बन्द अध्याय को भी खोल कर रख दिया है। **श्रीतन्त्रालोक** (१३/३४२) की विवेक व्याख्या के प्रसङ्ग में उन्होंने उद्घाटित किया है कि-

अत्र चाहमेवोदाहरणम् यद्विज्ञानार्थिना मया लोकोत्तरे द्वयाद्वयात्मनि शैवशास्त्रादावभिख्यामात्रप्रख्यापितपरश्रेयः संश्रयः श्रीमान् कल्याणः पूर्णविज्ञानवानेक एव गुरुर्लब्धः। पदवाक्यप्रमाणादौ लौकिके श्रीमान् सुगृहीतनामधेयः शङ्खधरश्चेति।।

यहाँ दो बातों की ओर ध्यान स्वतः आकृष्ट हो जाता है। १. परश्रेय की पूर्ण विज्ञानवती विद्या के सिद्ध गुरु विशिष्ट गुरु होते हैं और २. पद, वाक्य प्रमाणादि के पढ़ाने वाले गुरु अलग होते हैं। इस दूसरी श्रेणी में सभी शिक्षक, आचार्य, पाठक, उपाध्याय, चट्टोपाध्याय, वन्द्योपाध्याय, मुखोपाध्याय आदि अध्यापक आते हैं। गुरुकुलों में यही शिक्षक शिक्षा देते थे। दीक्षा में इनका अधिकार नहीं होता था। संस्कृत वाङ्मय के संस्कार-सम्पन्न प्रायः सभी शिक्षक गुरुवत् मान्य हैं, उनको आदर प्राप्त है क्योंकि इनमें यह साहस होता है कि ये कह सकें कि-

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि।

तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षोपनिषद् एकादश अनुवाक्

कुछ लोग गुरु के गौरवमय प्रकाशरूप दीपकतले अन्धकार का भी काम करते हैं। आज के लोगों ने गुरुत्व का दुरुपयोग करने वाले वंचक गुरुओं के व्यवहार को 'गुरुडम' कहकर विरोध प्रकाशन भी किया है। किन्तु यह विरोध-प्रकाश महाभारत काल से ही प्रचलित है। गुरु-स्थानीय आचार्यों ने द्रोण-संस्कृति को जन्म दिया। रामायण-काल में हनुमान् को दीक्षा देने का प्रयत्न किया। ऐसे लोगों से सावधान रहने के लिये शास्त्र कहता है-

उत्पथं प्रतिपन्नस्य, कार्याकार्यमजानतः।
गुरोरप्यवलिप्तस्य, कार्यं भवति शासनम्-
(अथवा) परित्यागो विधीयते।।

स्कन्दपुराण, नागरखण्ड, ६

यशस्तिलकचम्पू कहता है-

पुत्रेणापि पिता शास्यः शिष्येणापि गुरुः शास्यः।

तन्त्रशास्त्र में शाङ्करी दीक्षा के बिना अधिकार नहीं प्राप्त होता। दीक्षा देने वाले गुरु दीक्षागुरु कहलाते हैं। **दीक्षा अन्यविषया** मानी जाती है। वह कोई अनिवार्य विषय के रूप में स्वीकार्य है या नहीं, यह शास्त्रार्थ का अलग विषय है। साधकों को करणेश्वरी देवियाँ ही दीक्षा देती हैं। पराश्रया दीक्षा श्रेयः साधिका कैसे हो सकती है?

शास्त्रतः

दूसरा महत्त्वपूर्ण उपाय 'शास्त्र' माना गया है। शास्त्र के स्वाध्याय से ज्ञान मिलता है। शास्त्र को पढ़ाकर गुरु शिष्य को शास्त्रज्ञ बना देता है। इतने मात्र से गुरु के गुरुत्व की इतिकर्त्तव्यता पूर्ण हो जाती है। शास्त्र ही प्रमाण माने जाते हैं, गुरु नहीं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं-

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः...। गीता, १६.२३

आगे वही कहते हैं-

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ...। वही, १६.२४

शिष्यते येन (शिष्, ष्ट्रन्) **तच्छास्त्रम्** के अनुसार अनुशासन के प्रतिष्ठापक शास्त्र होते हैं। अनुशासन ही शास्त्र का प्राण और वाङ्मय शरीर माना जाता है। शास्त्रों का प्रारम्भ भी अनुशासन की प्रतिज्ञा से ही होता है। **अथ शब्दानुशासनम्** से व्याकरणशास्त्र, **अथ धर्मानुशासनम्** से धर्मशास्त्र आदि शास्त्रों का सूत्रपात हुआ है। तन्त्रशास्त्र को रहस्य-रस-सुन्दर शास्त्र मानते हैं। अज्ञान दो प्रकार का होता है- बौद्ध और पौंस्न। पौरुषेय मल की निवृत्ति का मूल कारण दीक्षा है। बौद्ध अज्ञान अक्षय्य माना जाता है किन्तु इसका विनाश शास्त्र के अनुशीलन से ही सम्भव है। **श्रीतन्त्रालोक** (१/४७) के अनुसार शास्त्र ही ज्ञेयतत्त्व-दर्शन के साक्षात् उपाय हैं-

तथाविधावसायात्मबौद्ध-विज्ञान-सम्पदे।
शास्त्रमेव प्रधानं यज्ज्ञेयतत्त्व-प्रदर्शकम्।।

इसलिये स्पष्टरूप से यह कहा जा सकता है कि शैवोपनिषद्-स्वाध्यायरूप अध्यवसाय से ही बौद्ध विज्ञान की ऐश्वर्य-लक्ष्मी का लालित्य उपलब्ध हो सकता है अर्थात् बौद्ध अज्ञान का नाश हो सकता है। इसके लिये ज्ञेयतत्त्व प्रदर्शक

शास्त्र ही प्रधान कारणरूप से मान्य हैं। बुद्धिगत अज्ञान बड़ा कठिन होता है। इस अज्ञान से विकल्पों की उत्पत्ति होती है। विकल्परूप अज्ञान को अख्याति कहते हैं। अख्याति अज्ञानरूप ही मानी जाती है। दीक्षित पुरुष में भी आत्मग्रह का अभ्यास होता है। बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति से ही मोक्ष सम्भव है (**तन्त्रालोक**, १.५०)।

शास्त्र दो प्रकार के माने गये हैं- ऊर्ध्वशास्त्र और अध:शास्त्र। ऊर्ध्व वे शास्त्र हैं जिनके अनुशीलन से मोक्ष-लक्ष्मी का साक्षात्कार हस्तामलकवत् अनायास सिद्ध हो जाता है। अध:शास्त्रों के अध्येताओं के विषय में लिखा गया है-

भ्रमयत्येव तान् माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया।

विवेक, १.२१ में उद्धृत

तथा-

अधःशास्त्रेषु मायात्वं लक्ष्यते सर्गरक्षणात्।

तन्त्रालोक, ३७.१५

शैवशास्त्र पारमेश्वरी वाक् के प्रतीक माने जाते हैं-

लौकिकादिरहस्यान्तशास्त्रामर्श-प्ररोहिणी।
वक्त्रागमज्ञरूढ्यात्मा वागियं पारमेश्वरी।।

श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र, ४.३१

स्वयं **श्रीतन्त्रालोक** (१.१५) नामक शास्त्र को शास्त्रकार पूर्णार्था प्रक्रिया मानते हैं-

इत्यहं बहुशः सद्भिः शिष्यसब्रह्मचारिभिः।
अर्थितो रचये स्पष्टां पूर्णार्थां प्रक्रियामिमाम्।।

इसका मुख्य गुण पाशविषापनोदन ही माना गया है। १०, १८ ओर ६४ भेदों के प्रतिनिधि शास्त्र के रूप में त्रिकशास्त्र की ही महत्ता है-

दशाष्टादशवस्वष्टभिन्नं यच्छासनं विभोः।
तत्सारं त्रिकशास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम्।।

वही, १.१८

अन्यत्र स्पष्ट है कि-

वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षः ततः कुलम्।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम्।।

विवेक, १.१८ में उद्धृत

अनेकानेक गुरुजनों, शास्त्रों और प्रतिभाओं से अनन्त अमृत प्रवाह का प्रवर्त्तन हो रहा है। इसे आत्मसात् करने में देर नहीं करनी चाहिये। शास्त्र कहता है कि-

नानागुर्वागम-स्रोतः प्रतिभामात्र-मिश्रितम्।
कृत्वा ज्ञानार्णवं स्वाभिर्विप्रुड्भिः प्लावयेन्न किम्।।

तन्त्रालोक, १३/३४३

त्रिक दर्शन में आतपनात् मोटकान्त गुरुक्रम की विशाल परम्परा के अनन्त शास्त्र और मठिकाओं के क्रम हैं। इसमें उपदेश-दरिद्रता के लिये कोई स्थान नहीं।

मायीय शास्त्र-नियत का विनाश हो जाता है। वह धन्य है, जो प्रोन्मुखीकृत हो कर ऊर्ध्वशास्त्र का अध्येता हो जाता है। **स्कन्दपुराण (नारदखण्ड)** के अनुसार नारद ने सनत्कुमार से त्रिक शास्त्र का अध्ययन किया था-

नारदोऽपि पुरा भ्रान्त्या किरातं गुरुमावहन्।
सनत्कुमारतः पश्चात् शैवीं दीक्षां समाचरत्।।

शास्त्र से भी तीन प्रकार का ही ज्ञान होता है। श्रवण मात्र से श्रुतज्ञान, चिन्तन से चिन्तामय ज्ञान और आत्मसात् करने से भावनामय (वही) ज्ञान उत्पन्न होता है। दीक्षा ज्ञान भी श्रुतज्ञान का ही भेद है।

स्वतः

अध्यवसायमयी साधना से स्वतः ज्ञान उत्पन्न होता है। शास्त्र के अभ्यास में गुरु की अपेक्षा होती है। पुनः शास्त्र के ज्ञान के लिये शिष्य में प्रतिभा की अपेक्षा होती है। कभी ऐसी अवस्था भी व्यक्ति में विकास प्राप्त कर लेती है जहाँ न गुरु की आवश्यकता रह जाती है और न शास्त्र की ही आवश्यकता रह जाती है। ऐसे ज्ञान को शास्त्राचार्यानपेक्षिज्ञान (**श्रीतन्त्रालोक**, १३.१३२) कहते हैं। इस स्थिति में साधक में स्वयम् यह विमर्श स्फुरित होता है कि विश्व की वास्तविकता क्या है? यह जन्मधारण, अवस्थान, प्रौढ़ि, क्षयारम्भ, जर्जरता, जरा और मरण क्या हैं? यह बन्ध क्या है? यह मुक्ति क्या है? चिन्तन के असामान्य आवेश में उसके मस्तिष्क के आकाश में विमर्श की कादम्बिनी कौंध जाती है। तब **आइन्स्टीन** उत्पन्न हो जाता है, तब **विश्वामित्र** की गायत्री फूट पड़ती है और तब **सिद्धार्थ, बुद्ध** हो जाता है। इसे प्रातिभ महाज्ञान कहते हैं। यही सर्वोत्तम ज्ञान है। यह स्वयं होता है। इसीलिये गुरुतः और शास्त्रतः प्राप्त ज्ञान से उन्नत स्वतः ज्ञान की स्थापना **श्रीकिरणासंहिता** ने की।

श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य आलङ्कारिकतामयी शब्दशय्यापर विराजमान सारस्वत पुरुष की भाषा में उद्घोषित करते हैं कि

प्रतिभा चन्द्रिका शान्तध्वान्तश्चाचार्य-चन्द्रमा ।
तमस्तापौ हन्ति दृशं विस्फार्यानन्दनिर्भराम्।।

अर्थात् स्वतः ज्ञान से सम्पन्न वह पुरुष चन्द्रमा के समान अपनी चाँदनी से अज्ञान और दुःख दोनों का विनाश करने में समर्थ होता है। उसे परमानन्द रस पीयूषपान का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है। यह सत्य ही कहा गया है कि-

अयं रसो येन मनागवाप्तः स्वच्छन्दचेष्टानिरतस्य तस्य।
समाधि-योग-व्रत-मन्त्रमुद्रा-जपादिचर्या विषवद्विभाति।।

विवेक, ३.२७० में उद्धृत

स्वतः में सकाररूप षड्साधार वर्ण विद्यमान हैं-

सोमञ्चामृतनाथं च सुधासारं सुधानिधिम्।
सकारं षड्साधारं नामभिः परिकीर्तितम्।।

वही, ३.१६५ में उद्धृत

तथा यह त्रिभुवन व्याप्त तत्त्व हैं- **सार्णेनाण्डत्रयं व्याप्तम्।**

वही, ३.१६५ में उद्धृत

स्वतः प्रतिभा के विकास की अवस्था में गुरु और शास्त्रों के संस्कार क्षीण हो जाते हैं। साधक स्वयं विज्ञान-पारङ्गत हो जाता है (**तन्त्रालोक**, १३.१३८)। सर्वाधिकार सम्पन्न यह साधक अपनी संवित्ति-देवी से अभिषिक्त और करणेश्वरी-देवियों द्वारा दीक्षित होता है। इसे गुरु-दीक्षा की आवश्यकता नहीं होती। गुरु द्वारा दीक्षित और अभिषिक्त कल्पित श्रेणी का आचार्य होता है (**वही,** ४.७०-७३)। इससे उत्कृष्ट कल्पिताकल्पित और उससे भी श्रेष्ठ अकल्पित गुरु हो जाता है। यह समस्त आचार्यों का आचार्य होता है और सर्वशास्त्रार्थ-वेत्तृत्व इसका वैशिष्ट्य माना जाता है। इसके भी निर्भित्ति, सहभित्तिक दो मुख्य भेद होते हैं। इसके लिए किसी मण्डल आदि के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। वह स्वयं सिद्ध, स्वयंभू योगी और दीक्षित होता है। उसकी निर्वाण-गामिनी दीक्षा का महत्त्व शास्त्रों द्वारा समर्थित है (**वही,** ४.४९-५०)। अकल्पित गुरु को ही सांसिद्धिक गुरु कहते हैं। सांसिद्धिक ज्ञानी से आहतज्ञानी अधर श्रेणी में परिगणित होता है (**वही,** ४.७५)। यह प्रचलित है कि पुस्तक में लिपिबद्ध मन्त्रों में वीर्यवत्ता नहीं होती। इसके विपरीत उन मन्त्रों में भी वीर्यवत्ता का विज्ञान जिसे प्राप्त होता है, वही सांसिद्धिक ज्ञानी सर्वोत्तम माना जाता है-

ये तु पुस्तक-लब्धेऽपि मन्त्रे वीर्यं प्रजानते।
ते भैरवीयसंस्कारा: प्रोक्ता: सांसिद्धिका इति।।

तन्त्रालोक, आ. ४, पृ. ७३.

सांसिद्धिक विज्ञान को **चिन्तारत्न** कहते हैं-

सांसिद्धिकं यद्विज्ञानं तच्चिन्तारत्नमुच्यते।

वही, १३.१५०

अन्त में मैं यह निवेदन करना आवश्यक मानता हूँ कि आप भी इस चिन्तारत्न को माँ की कृपा से प्राप्त करें। **काशिकेय तुलसी** ने कहा था-

पायँउ राम नाम चिन्तामनि, उरकर ते न खसैहौं।

मित्रों, आपको भी यह मिले, यही कामना है।

पं. चक्रवर्ती (टिप्पणी)

आचमन करने के बाद सूर्य को अर्घ्य देते हैं। तान्त्रिक दृष्टि में सूर्य को सूर्य न कहकर मार्तण्डभैरव कहते हैं। आगे चलकर द्वादश आदित्य, मार्तण्डभैरव के रूप सिद्ध होते हैं। बाद में द्वादश रूप चार में परिणत हो जाते हैं फिर चार एक में। इसका पूरा वर्णन कौलिक प्रक्रिया में किसी-किसी जगह देखने को मिलता है।

प्रो. कमलाकर मिश्र (टिप्पणी)

ज्ञान का रूप मात्र बौद्धिक है या उसका कोई आध्यात्मिक स्वरूप है। वक्ता ने कहा था कि आध्यात्मिकता ज्ञान का प्राण है।

तन्त्रालोक में दो ज्ञानों की चर्चा है- बौद्ध और पौरुषज्ञान। **तन्त्रालोक** के टीकाकार **जयरथ** ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि शास्त्रादि को पढ़कर जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह बौद्ध ज्ञान है। किन्तु इस ज्ञान की व्यावहारिक उपयोगिता और महत्ता होते हुए भी केवल इसी से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। पौरुष ज्ञान उसे कहते हैं जो ज्ञान चेतना की अवस्था में शुद्धि लाता है और चेतना की दूसरी अवस्था भी ला देता है। स्वप्न से जाग्रत् अवस्था में आना, पौरुष ज्ञान का बदलाव है। दीक्षा आदि के द्वारा गुरु से साधना की बातें जानकर जब व्यक्ति साधना करता है तब चित्तशुद्धि होती है और आणव आदि मल का नाश हो जाता है।

साधना वाले इस ज्ञान के स्वरूप को समझने के लिए अज्ञान का स्वरूप भी समझना आवश्यक है। **अभिनवगुप्त** ने **तन्त्रालोक** (१.३०) में द्वैतप्रथा को अज्ञान कहा है। शाम्भवोपाय अन्तिम ज्ञान होता है। यह भी सर्वात्मभाव वाला

होता है। अर्थात् विश्व से एकता की अनुभूति होती है। यह समस्त विश्व मुझसे उदित हुआ है, मुझमें ही प्रतिबिम्बित हो रहा है और मुझमें ही विलीन होगा, यह शाम्भवज्ञान है अथवा मुझसे अभिन्न है, तीनों का तात्पर्य एक ही है- अभेद।

पं. चक्रवर्ती (टिप्पणी)

बौद्ध ज्ञान के बाद पौरुष ज्ञान का क्रम ठीक नहीं है क्योंकि उससे पहले बौद्ध अज्ञान और पौरुष अज्ञान का उल्लेख है। बौद्ध ज्ञान से अथवा इसके उदय के बाद बौद्ध अज्ञान नष्ट होता है और पौरुष ज्ञान से पौरुष अज्ञान नष्ट होता है। इस प्रकार दोनों ज्ञान स्वविषयक अज्ञान को नष्ट करते हैं।

पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी (अध्यक्ष)

तन्त्रालोक में आणवोपाय आदि का उल्लेख उपाय के रूप में हुआ है, ज्ञान के रूप में नहीं। अनुपाय प्रक्रिया सहजयान से जुड़ी हुई है। शाम्भवोपाय और शाक्तोपाय की प्रक्रियाएँ वज्रयान या कौल पद्धति से जुड़ी हुई हैं। आणवोपाय की प्रक्रिया को नाथ सम्प्रदाय से सम्बद्ध किया जा सकता है।

अभिनवगुप्त के अनुसार उपायों में भिन्नता है, उपेय में नहीं। किसी भी उपाय का अवलम्बन लेने से एक ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है, जैसा कि **पुष्पदन्त** ने कहा है- **रुचीनां वैचित्र्यात्...** (**शिवमहिम्नस्तोत्र,** ७)।

बौद्ध तन्त्र और शैवशाक्त तन्त्र में परस्पर प्रभाव की जो चर्चा यहाँ हुई है उसके बारे में मेरा मत है कि अभी तो तन्त्रागम की परिधि भी स्पष्ट नहीं है। किन्तु वैष्णागमों में जो वैखानस आगम है, पाञ्चरात्र आगम या **भागवत** की जो चर्चा होती है, शैवागमों में चार आगमों की चर्चा जैनागमों में भी मिलती है- सिद्धान्त शैव, पाशुपत, कालामुख और कापालिक। काश्मीर शैव आदि जो अन्य सम्प्रदाय हैं या वीर शैव आदि हैं, ये सब छोटे भेद हैं। इसी प्रकार शाक्त तन्त्र में दस महाविद्या इत्यादि के भेद हैं किन्तु जो मूल तन्त्र हैं- वाम शैव आदि ये सब छोटे भेद हैं। इसी प्रकार शाक्ततन्त्र में दस हजार महाविद्या इत्यादि के भेद हैं किन्तु जो मूल तन्त्र हैं- वाममार्ग और दक्षिणमार्ग उसमें हम इन सबका समावेश कर सकते हैं। वामतन्त्र और दक्षिणतन्त्र जिनकी काश्मीर आगम में चर्चा हुई है वे शिव के वाम और दक्षिणमुख से उद्भूत हुए हैं। शिव के पाँच मुखों में से सिर से ऊर्ध्वाम्नायतन्त्र का, पूर्व मुख से गारुडतन्त्रों का, दक्षिणमुख से भैरवतन्त्रों का प्रादुर्भाव हुआ है। वहाँ वाम और दक्षिण तन्त्रों की प्रकृति भिन्न है जबकि यहाँ ऐसा नहीं है। सारनाथ, पार्श्वनाथ विद्याश्रम और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में गोष्ठियाँ हुई थीं। उनमें विद्वानों से पूछने पर कहा गया कि -

जैन मत में तन्त्र नहीं है...। दक्षिण और वामतन्त्र का भेद नहीं हो पाया। आज तक यह समझ लिया गया है कि पञ्चमकार का जहाँ उपदेश है, वही तन्त्र है। इस दृष्टि से देखने में वीर शैव मत और जैन मत में इनकी सत्ता नहीं है। इसलिए वहाँ तन्त्र नहीं है। किन्तु फिर भी इनमें तन्त्र है- ऐसा माना जाता है। सरलीकरण की प्रक्रिया (मेरे एक लेख में मैंने **तन्त्रों पर वैदिक कर्मकाण्ड का प्रभाव** विषय पर चर्चा की है) में दीक्षा में और मन्त्र के आराधन में अग्निसेवाविधि का प्रसङ्ग है जिसमें अग्नि की आराधना होती है। अग्नि की आराधना वैदिक पद्धति से ही सम्भव है। तन्त्र के बारे में यदि हम सौम्य और रौद्र ये दो शब्द रखें तो यह कहा जा सकता है कि ईसा की चौथी-पाँचवी शताब्दी पहले से इसकी सूचना मिलने लगती है। **डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल** के ग्रन्थ **अष्टाध्यायी और हर्षचरित** में बतलाया गया है कि शैव और वैष्णव दृष्टि कैसे वहाँ आ गई।

छान्दोग्योपनिषद् में **अघोर आङ्गीरस, घोर आङ्गीरस** और **श्रीकृष्ण** का जो संवाद है वह अहिंसा पर आधारित है। **महाभारत** का जो नारायणीय उपाख्यान है वह अहिंसा पर आधारित है। वहाँ पर **वसु उपरिचर** की एक कथा आती है। राजा **वसु उपरिचर** की विशेषता को बताता था। उसे आकाशगमन की सामर्थ्य प्राप्त थी। एक बार **अजैर्यष्टव्यम्** पर अन्न से आहुति देने या जीवन की आहुति देने पर विवाद चला। ऋषि-मुनियों में विवाद चला। वे लोग **वसु उपरिचर** के पास गए। **वसु उपरिचर** ने वहाँ देवताओं के पक्ष में निर्णय दिया। महाभारतकार वहाँ कहते हैं कि उस निर्णय के साथ ही उनकी जो सामर्थ्य थी, आकाशगनम की वह क्षीण हो गई। अत: यदि हमें आगमशास्त्र, तन्त्रशास्त्र का अध्ययन करना है, तो मैं समझता हूँ कि **पाणिनि** के समय से प्रारम्भ करना होगा। **पाणिनि** में आया है कि किस देवता का अर्चित है, प्रत्यय होकर उसमें क्या शब्द बनेगा। इसमें शैव-भागवत दोनों का शिव-भागवत शब्द वहाँ पर आया हो, तो वहाँ से हमको लेना पड़ेगा और उससे भी पहले जो **शतपथब्राह्मण** है उसमें एक पाञ्चरात्र सत्र है। वह भी अहिंसक है। अन्य सत्रों-यज्ञों का जब उल्लेख आता है तो उन सबको हिंसाप्रधान बताया है, केवल पाञ्चरात्र सत्र को छोड़कर। इसी तरह जो **कृष्णयजुर्वेद** की संहिताएँ हैं उनमें पञ्चब्रह्म का उल्लेख है। **शिव** के पाँच मुख हैं, पाँच मन्त्र हैं जिनका वहाँ उल्लेख है। आप आश्चर्य करेंगे कि **पञ्चबुद्ध** भी हैं। उनके लिए **विमलप्रभा** (टीका) का कहना है कि कालचक्रतन्त्र की जो वरिष्ठ व्याख्या मानी जाती है वह अब प्रकाशित हो गई है, उन्होंने वहाँ स्पष्ट किया है कि **अघोर** के प्रतिनिधि वे **अक्षौभ्य** हैं इसी तरह सत्पुरुष के अमुक हैं, अन्य के ये हैं आदि। पाँचों के प्रतिनिधि **पञ्चबुद्ध** के रूप में उल्लिखित हैं।

जैन साहित्य में पञ्चणमोकार मन्त्र पर मुझे बतलाया गया कि भुवनेश्वर में उदयगिरि, खण्डगिरि में **खाखेल** के शिलालेख मिलते हैं। **खाखेल** जैन राजा थे। वहाँ दो का उल्लेख है। इसी प्रकार वैष्णव पाञ्चरात्र आगम, वहाँ पर **पञ्चोपनिषद्** शब्द है। यह संख्या की बात है जैसे हमारे यहाँ कुण्डलिनी है। जैन में **केश्वर** था। इधर जो **चाण्डालिनी, ज्वाला, लक्षण, रसना** और **अवधूती** ये नाम-भेद हैं, वस्तु एक है।

पिण्ड, पदरूप, रूपातीत।

पिण्डं कुण्डलिनी शक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितः।
रूपं बिन्दुरिति ख्यातः रूपातीतं तु चिन्मयम्।।

ये मूलतः कौलदर्शन के शब्द हैं। उसके शास्त्रों में कुब्जिकामत इत्यादि में इनकी चर्चा आई है। आप आश्चर्य करेंगे कि ये ही चार शब्द **शुभचन्द्र** के ज्ञानार्णव में और **हेमचन्द्र** के योगशास्त्र में इन्हीं नामों से मिलते हैं। शब्दों के भीतर जो अर्थ है, उन सबके भीतर एकरसता है जिसे हमें देखना चाहिये।

तात्पर्य यही है कि शब्दों और विधि का भेद होते हुए भी सभी भारतीय तन्त्र-सम्प्रदायों में आपस में गूढ सम्बन्ध और एकात्मता है।

❖ ❖

इति पञ्चविधामेनां कलनां कुर्वती परा।
देवी काली तथा कालकर्षिणी चेति कथ्यते।।

तन्त्रालोक, IV, १७६.

विकल्पो नाम चिन्मात्रस्वभावो यद्यपि स्थितः।
तथापि निश्चयात्मासावणोः स्वातन्त्र्ययोजकः।।

वही, V, ५.

शिशिरकिरणधारी शैलबालाबिहारी भवजलनिधितारी योगिहृत्पद्मचारी।
शमनजभयहारी प्रेतभूमिप्रचारी कृपयतु मयि देवः कोऽपि संहारकारी।।

श्रीपूर्णचन्द्रस्योद्भट्टसागरतः.

न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यं ग्राहको न च।
न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थतः।।

स्पन्दकारिका, I.५.

गुरुर्बुद्धो गुरुर्धर्मो गुरुः संघस्तथैव च।
गुरुर्वज्रधरः श्रीमान् तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

श्रीगुरुरत्नत्रयस्तोत्रम्

आह्निक - ११

तन्त्रालोक का षष्ठ आह्निक (काल-विषयक विचार)

अध्यक्ष - डॉ. बेटिना बॉमर

पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती (प्रधान वक्ता)

तन्त्रालोक में कालविषयक विचार आज का विषय है। किन्तु यह विषय इतना विस्तृत और क्लिष्ट है कि एक गोष्ठी में सम्पूर्णरूप से प्रस्तुत करना असम्भव है।

शैव तन्त्र में पाँच शक्तियाँ मानी गई हैं- विद्या, कला, राग, काल और नियति। यह काल एक अखण्ड शक्ति है। लौकिक काल से इस काल शक्ति में भेद है। लौकिक काल की समाप्ति की बात हम लोक-व्यवहार या वैदिक क्रियाकलाप में करते हैं। जैसे प्राण के द्वारा जप आदि की क्रिया में काल की अवधि समाप्त होती है। इस अवधि की समाप्ति के बहुत से मार्ग **तन्त्रालोक** के षष्ठ आह्निक में बताए गए हैं। इसी प्रकार काल से अकाल या **शिव** तक पहुँचने के भी अनेक मार्ग बताए गए हैं। इन मार्गों में एक दिव्यकाल है और एक अदिव्य काल। इन्हीं को अलौकिक और लौकिक कहते हैं। लौकिक काल खण्ड काल भी कहा जाता है। काल शक्ति के बारे में लोग कम जानते हैं। यह योगियों के लिए उपयोगी है। साधारण लोगों के लिए इसका ज्ञान असम्भव है। इस अलौकिक काल की समाप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

मन्त्र-जप की प्रक्रिया के प्रारम्भ और अन्त के बारह भिन्न-भिन्न स्तर हैं। इनमें बिन्दु, अर्द्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, समना, व्यापनी और अमना ये नौ स्तर हैं। भ्रूमध्य में, जहाँ टीका लगाते हैं वह बिन्दु स्थान है। बिन्दु ईश्वर का स्वरूप है। अमना एक शक्ति है। इसमें जाने के लिए बिन्दु-भेदन होना चाहिये। जब तक बिन्दुभेदन नहीं करते हैं तब तक ऊर्ध्वगमन की सिद्धि नहीं हो सकती।

तन्त्रालोक की जयरथ टीका में इसका वर्णन है। **अभिनवगुप्त** ने संक्षेप में और **जयरथ** ने विस्तार से इसका वर्णन किया है। **अभिनवगुप्त** ने **तन्त्रालोक** की रचना अनेक आगम और तन्त्र-ग्रन्थों के आधार पर की है। उस समय और

आज के समय में बहुत अन्तर है। इसलिए उनके भाव को समझना सरल नहीं है। हम इस ग्रन्थ को पढ़कर अपने पांडित्य का प्रदर्शन भले ही कर सकते हों किन्तु बिना योग-साधना के उसके सही भाव को समझना संभव नहीं है। जब **कविराज जी** के ग्रन्थों को हम पढ़ते हैं तब उनमें इस शास्त्र के रहस्यों का कुछ उद्घाटन मिल जाता है क्योंकि वे उच्च कोटि के योगी और साधक थे। नाद तत्त्व के बारे में **कविराज जी** ने जो कहा है और जिन्होंने उनके मुख से साक्षात् सुना है फिर भी सुनने वाला जब तक वक्ता की दृष्टि से सामंजस्य नहीं रखता है तब तक विषय स्पष्ट नहीं होता है। आज के विद्वान् उन ग्रन्थों का अनुवाद और व्याख्यान करते हैं। किन्तु सही बात यह है कि वे उस विषय की गहराई तक नहीं पहुँच पाते। कुछ विरले साधक ही होते हैं जो उसे समझ सकते हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि एक ही लक्ष्य के कुछ विद्वान् और साधक परस्पर अनुभवों का आदान-प्रदान करें तो कुछ लाभ की आशा की जा सकती है। यही स्थिति छात्र और अध्यापक के बीच विषय के आदान-प्रदान को लेकर है। इस विचार-विमर्श से कई नई बातें सामने आती हैं। किन्तु केवल पुस्तक पढ़ने से वह उद्भास नहीं होता है। इसलिए ऐसे गंभीर विषय को सुनने के लिए दोनों पक्षों का धैर्य आवश्यक है, लाभ की बात तो बहुत दूर है।

संविन्मात्रं हि यच्छुद्धं प्रकाशपरमार्थकम्।
तन्मेयमात्मनः प्रोज्झ्य विविक्तं भासते नभः।। तन्त्रालोक, ६.९

शुद्ध संवित् का वास्तविक स्वरूप प्रकाश है। प्रकाश का स्वरूप क्या है। प्रकाश परमार्थ स्वरूप है। **आनन्दमयी माता** कहती थी- एक प्रकार का झाला है। सम्पूर्ण विश्व उस प्रकाश से व्याप्त है। लेकिन उसे देख नहीं सकते, समझ नहीं सकते। हम विकल्पों की ही कल्पना कर सकते हैं। अनुभवसिद्ध प्रकाश तो संवित् है। जब वह परमप्रकाश विश्व की ओर उन्मुख होता है तो सबसे पहले उसमें चिद्गगनता आती है। **कविराज जी** की भाषा में कहा जाय तो- सूरज के उगने पर जो आकाश दिखाई देता है, वैसा आकाश। वह चिद्गगनरूप प्रकाश है। यह सूर्योदय के पहले का आकाश है। प्रकाश का यह आभासन अन्त-र्निहित मेय का उद्भासन है। वेदान्त में जिस प्रकार प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण की त्रिपुटी मानी जाती है, उससे यह भिन्न है। जो मेय प्रकाश के अन्दर विद्यमान था उसी का बहिराभासन होता है। चिद्रूप आकाश वैसा ही है। बौद्ध इसी को शून्य कहते हैं। तारासाधना के विषय में **साधनमाला** नामक पुस्तक है। इसके अनुसार साधक को सबसे पहले प्रमेयों को शून्य रूप में देखना चाहिए। इस तरह देखने से प्रमेय का दिव्य-स्वरूप सामने आता है। यह दिव्य-दृष्टि मुक्ति की ओर ले जाती है।

व्यापक दृष्टि से इसी को **तारा, विष्णु** अथवा **शिव** कुछ भी कहा जा सकता है। यही वस्तुतः शून्यरूपता है। नेति-नेति के रूप में कही जाने वाली यही योगियों की परादशा है। शून्य, चिद्गगन, परादशा आदि सभी योगियों की दृष्टि से एक ही हैं। इस परादशा का अभ्यास करने में पहले प्राण-स्पन्द की स्थिति आती है। **अभिनवगुप्त** के पूर्ववर्ती **आचार्य कल्लट** ने कहा है कि शून्य पहले प्राण के रूप में आभासित होता है। साधना में प्राण को सम किया जाता है। प्राण के स्पन्द के साथ मन की गति का सामंजस्य किया जाता है। गुरु-कृपा के बिना प्राण-स्पन्द की प्राप्ति कठिन है। यह स्थिति जलतरंगवत् है, भिन्न भी और अभिन्न भी। लहरें एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी वस्तुतः जलरूप में एक ही हैं, जल से बाहर नहीं। इसी प्रकार संसार के सभी पदार्थ उस विश्वात्मा से अभिन्न हैं, उसी में हैं फिर भी भिन्न रूपों में और नानारूपों में दिखाई देते हैं। सभी सांसारिक वस्तुएँ प्रकाशमय हैं किन्तु प्रकाश दिखाई नहीं पड़ता। भिन्न-भिन्न सांसारिक वस्तुएँ ही दिखाई देती हैं। हम वस्तुओं को देखते हैं, प्रकाश को नहीं।

एक दिन **कविराजजी** ने 'क्ष' अक्षर के रहस्य का उद्घाटन किया। यह क और श से बनता है। यह उस प्रकाश को हमारे समक्ष खींच कर लाता है। अधिक कहना विषयान्तर होगा।

अद्वैत से द्वैत की ओर उन्मुख होने में प्रथम अवस्था प्राण-स्पन्द है, यही ऊर्मि है। यह काल से अकाल की स्थिति में पहुँचना है। इसके बाद काल-संकर्षिणी स्थिति आती है। (**तन्त्रालोक,** सप्तम आह्निक) पहले प्राण-स्पन्द और फिर स्पन्दातीत दशा। स्पन्दातीत स्थिति में काल का ग्रास हो जाता है। काल संकर्षिणी का विषय छठे आह्निक से प्रारम्भ होकर सप्तम आह्निक तक चलता है। काल को संकर्ष करने वाली शक्ति का नाम ही कालसंकर्षिणी है, ऐसा **कविराजजी** कहते थे। इसी को **काली** कहा जाता है। वह सदा ग्रास-ग्रहण करने की मुद्रा में रहती है। प्राण, वायु के रूप में आ जाता है। इसी का नाम प्राणना शक्ति है। इसी के भिन्न-भिन्न नाम हैं- अन्तरोद्योग, दोहद, स्पन्द, विश्रान्ति, सुयत्ता, जीव, रेत, प्रतिभा आदि। जब यह पाँच रूपों में विभक्त हो जाती है तब व्यक्ति अपने को विजित मानता है (प्राण, व्यान, उदान, अपान, समान)। इसी को बौद्धों ने पानापान नाम दिया है। प्राण और अपान की सन्धि का नाम-समान है। यह प्राण और अपान का संतुलन है। इस स्थिति को पाना बहुत कठिन है। चलना और खड़े होने के बीच की स्थिति का नाम समान है। यह एक सूक्ष्म दशा है जिसके बिना चलन और स्थिरता दोनों संभव नहीं है। यद्यपि समान को जानना भी कठिन है। किन्तु इससे भी कठिन उदान को जानना है।

उदान, प्राण की ऊर्ध्व गति है। समान से आगे उदार की ऊर्ध्व दशा आती है। उसके बाद व्यान अर्थात् सर्व व्यापक प्राण आता है। अद्धा अर्थात् अदनशील शक्ति, इसी को अध्व अथवा Path कहते हैं। यह ग्रास करने वाली शक्ति है। यह साधारण नहीं, ग्रास करने वाला मार्ग है। इस शास्त्र में छ: प्रकार के अद्धा हैं- वर्ण, मन्त्र, पद, कला, तत्त्व और भुवन। प्रथम तीन वाचक स्थिति हैं और शेष वाच्य स्थिति को दर्शाते हैं। ये सभी छ: अद्धा प्राण में स्थित हैं अर्थात् प्राण में वाच्य और वाचक स्थिति भी है। इस अवधारणा को समझना अधिक कठिन है। यह अवधारणा यथा पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड के भाव को व्यक्त करती है।

वर्ण ५० हैं और उनका सामान्य रूप नाद है। इसीलिए कहा गया है-

एको नादात्मको वर्णः, सर्ववर्णाविभागवान्।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इहोदितः।। तन्त्रालोक, ६.२१७.

संगीत और परमार्थशास्त्र के इस नाद में कुछ भिन्नता भी है। दोनों को एक करने का प्रयत्न उचित नहीं है। यहाँ नाद एक प्रकार के प्रकाश का रूप है। **अभिनवगुप्त** कहते हैं- **एकोऽवर्णः बहुधा शक्तियोगात्**। जब हम शब्द को उच्चारित करते हैं तो उसमें क्या नाद अनुस्यूत नहीं रहता? नाद के अनुस्यूत रहने के कारण ही वह वर्ण बनता है। सभी शब्दों के साथ जो सूक्ष्म ध्वनि अनुस्यूत है, वही नाद है। यह नाद सूक्ष्म दृष्टि से है। स्थूल दृष्टि से राम में आ और अ की जो ध्वनि है वह नाद का स्थूल रूप है। किन्तु जो जप, अन्त:संजल्परूप होता है उसमें नाद ध्वनि कहाँ है? वह यद्यपि बाहर नहीं सुनाई पड़ता किन्तु भीतर सुनाई पड़ता है। वह योगियों के द्वारा अुनभवगम्य है। यह नाद ही वास्तविक प्रकाश है। एक वाचक और एक वाच्य है। दोनों स्थितियों का प्राण में अनुभव करने का प्रयत्न किया जाता है। योगी साधारण प्रयास से इसको जान लेते हैं। किन्तु साधारण व्यक्ति के लिए इसे समझना कठिन है।

कविराजजी से एक साधक ने कहा कि मैंने सभी मातृकाओं का अच्छा अभ्यास कर लिया है और वह मुझे स्पष्ट दिखाई देती हैं। **कविराजजी** ने पूछा- दिखाई पड़ने से क्या होता है? किस लिपि (अँग्रेजी/बाँग्ला) में दिखाई देती है? उत्तर सन्तोषजनक प्राप्त नहीं हुआ। साधक का उद्देश्य काल से अकाल की ओर अग्रसर होना है। श्वास-प्रश्वास की गति को दिन और रात के दो भागों में विभाजित किया जाता है। प्राण, अपान को क्रमशः दिन और रात्रि के रूप में देखा जाता है। एक कथन है- **न दिवा पूजयेत् देवीम् न कथञ्चन रात्रौ**। अर्थात् श्वास और प्रश्वास जब प्रवाहित नहीं होता तब पूजा करना चाहिये। अलौकिक स्थिति

को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है। **कविराजजी** जिज्ञासुओं को क्षण का महत्त्व बताते थे और क्षण को पकड़ने को कहते थे। **योगशास्त्र** में एक ही क्षण में सभी परिणामों को प्राप्त करने की बात कही गई है। कुछ संकेत किया गया है। **न ये तदा न तदा...**।

समना के बाद उन्मना स्थिति में साधक की नाव किनारे पहुँचने पर भी लक्ष्य से दूर रहती है। अन्ततोगत्वा **शिव** का शक्तिपात ही इसका उद्धार करता है। **अभिनवगुप्त** और **जयरथ** ने अपने ग्रन्थों में इस विषय को संक्षेप में बताया है किन्तु **योगिनीहृदय** और **भास्करराय** के ग्रन्थों में इसका सचित्र वर्णन है। **योगिनीहृदय** पर **अमृतानन्द** की टीका है। **शारदातिलक** में भी ध्यान के विषय में गंभीर विचार प्रस्तुत किया गया है–

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसम्।
रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम्।।
पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानम्।
विश्वाद्यं विश्वरूपं निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम्।।

१८.१४

डॉ. हृदयरञ्जन शर्मा (प्रश्न)

प्राण की गति कैसी है?

पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती (उत्तर)

प्राण का खंडित रूप ही उदान आदि है। ऊर्ध्व गतिशील प्राण को ही उदान कहते हैं। प्राण में ही अष्टदल कमल है।

प्रो. विश्वनाथ भट्टाचार्य (टिप्पणी)

साधना के विषय साधना के द्वारा ही ग्रहण करने योग्य होते हैं।

डॉ. त्रिनाथ शर्मा (टिप्पणी)

क्षण का एक अर्थ उत्सव भी किया गया है।

डॉ. बेटिना बॉमर (अध्यक्षीय)

अभिनवगुप्त के अनुसार आत्मा में क्रम-अक्रम दोनों हैं। प्रधान वक्ता के व्याख्यान से ये दोनों पक्ष स्पष्ट हुए हैं। शास्त्र और अनुभव का उचित सामञ्जस्य आवश्यक है। इसी सामञ्जस्य के द्वारा विद्या का विकास और लोककल्याण संभव है।

❖ ❖

आह्निक - १२

तन्त्रालोक में प्रतिपादित आणवोपाय

अध्यक्ष - ज्ञानसिंहासनाधीश्वर डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य

डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास (संयोजक द्वारा प्रस्तुत पूर्वपीठिका)

- **वर्णविशेशावमर्शप्रधानः आणवः।**

  विज्ञानभैरववृत्तिः, पृ. १९.

- उपाय वह साधना है जिसका पहले उपादान किया जाता है और फिर परित्याग-
  उपादायापि ये हेयास्तान् उपायान् प्रचक्षते। वाक्यपदीय, २.३८
- आणवमल के निवारण का उपाय आणवोपाय है।
- आणवोपाय में चित्त को स्वात्मभिन्न वस्तुओं पर स्थिर करके उसमें **शिव**-भावना की जाती है। इसमें क्रिया अंश प्रधान होता है और ज्ञान अंश गौण। इसीलिये इसे क्रियायोग, क्रियोपाय या भेदोपाय भी कहते हैं।
- **उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः।**
  यो भवेत्स समावेशः सम्यगाणव उच्यते।। तन्त्रालोक, १.१७०.
- **अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवं शाक्तमुच्यते।**
  भेदाभेदात्मकोपायं भेदोपायं तदाणवम्।। वही, १.२३०.
- **नीले पीते सुखे दुःखे संविद्रूपमखण्डितम्।**
  गुरुभिर्भाषितं तस्मादुपायेषु विचित्रता।। वही, ५.१५४-५.
- **उपायजालं न शिवं प्रकाशयेत्,**
  घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः।। तन्त्रसार, पृ. ९.
- **उपायैर्न शिवो भाति, भान्ति ते तत्प्रसादतः। विवेक**, आह्निक ।।

पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी (विषय की पृष्ठभूमि)

- संस्कृत भाषा को धर्म से जोड़ना भारतीयता का अपमान है।
- भारतीयता के लक्षण का गहराई से विवेचन आवश्यक है।
- नाम के आधार पर भारतीय संस्कृति की उपेक्षा करना अनुचित है।

प्रो. कमलाकर मिश्र (प्रधान वक्ता)

पं. ब्रजवल्लभ द्विवेदीजी ने कहा था कि शास्त्र के विषयों की ऐसी व्याख्या की जानी चाहिये जिससे सामान्य व्यक्ति को भी यह स्पष्ट हो जाए कि वह उपयोगी है और आज भी संसार का कल्याण करने की सामर्थ्य रखता है। यही बात तन्त्र पर भी लागू होती है। इसलिए मैं अपनी बात पारिभाषिक शब्दावली के सहयोग से कहने के बजाय Popular style में कहना चाहता हूँ। इसलिए विद्वानों से क्षमा माँगते हुए मैं कहना चाहता हूँ कि मैं विद्यार्थियों या सामान्य वर्ग के लिए बोल रहा हूँ। दूसरी बात यह भी है कि मैंने **तन्त्रालोक** को क्या-कैसा समझा वह मैं बोलना चाहता हूँ। **तन्त्रालोक** स्वयम् अपने आप में क्या है- इसको समझने-समझाने का दावा मैं नहीं करता। जो जिस ग्रन्थ को जैसा समझेगा वह वैसा ही बोलेगा- यह स्वाभाविक है। इस विधा में गलती हो सकती है किन्तु विश्वास है कि विद्वज्जन उसको ठीक कर देंगे।

तन्त्रशास्त्र, प्रत्यभिज्ञाशास्त्र, काश्मीर शैव शास्त्र आदि जिसे कहते हैं उसका शास्त्रीय नाम तो त्रिकशास्त्र है। बाद में यह प्रत्यभिज्ञादर्शन के नाम से प्रचलित हुआ। इस शास्त्र के सभी आचार्य एवं ग्रन्थ काश्मीर के हैं इसलिये पाश्चात्य विद्वानों, विशेषरूप से आधुनिक विद्वानों ने इसे काश्मीर शैव दर्शन नाम दिया। नाम कुछ भी हो, इस सिद्धान्त का मूल ग्रन्थ **वसुगुप्त** का **शिवसूत्र** ही है।

शिवसूत्रों का विभाजन उपायों में हुआ। अतः यह मूल ग्रन्थ ही आगम-ग्रन्थ है और कहना यह चाहिये कि यह शैव शास्त्र उपाय शास्त्र है। अस्तु, शास्त्रों में वर्णन का क्रम कुछ भी हो किन्तु हम नीचे के क्रम में हैं, आणवावस्था में हैं, इसलिये यहीं से अर्थात् आणवोपाय से चर्चा करना उचित है।

आणवोपाय के विषय में मैं कुछ बातें ऐसी करना चाहता हूँ जो स्पष्ट रूप से शास्त्रों में भले ही न मिले किन्तु मैं अपनी समझ के अनुसार उन्हें कह रहा हूँ। आणवादि तीन उपायों को क्रमशः Physical, Mental and Spiritual कह सकते है। आणवोपाय बाह्य वस्तुओं से, शरीर से सम्बद्ध है। शरीर एवं बाह्य वस्तु दृष्ट है, स्थूल है इसलिये यह उपाय भी वैसा ही है।

उपेय के अनुसार ही उपायों का उपयोग किया जाता है। तन्त्रोपासना की यह विशेषता है कि इसमें भोग और मोक्ष की खाई को पाटा गया है। दोनों में सामरस्य की दृष्टि अपनाई गई है। अन्य साधना-पद्धतियों में भौतिकता का लोप किया जाता है किन्तु यहाँ उसके प्रति भेद दृष्टि नही अपनाई गई है। तन्त्र

की मुक्ति भौतिकी का अध्यात्मीकरण है। इसलिये इसे भौतिक मार्ग में भी सफल माना गया है। इसमें अधिकाधिक आत्मानुभूति की व्यवस्था है। इसके अनुसार प्रतिभा (शक्ति) ही सफलता की कुंजी है।

ब्रह्म द्रव एक तरह से गंगाजल है। कहा गया है-

राम नाम इक अंक है,
सब साधन हैं सून,
अंक गए कुछ हाथ नहीं,
अंक रहे दस गून (१०)।

डॉ. बेटिना बॉमर (प्रश्न)

उपाय शब्द का इतिहास क्या है?

पं. चक्रवर्ती (टिप्पणी)

उपाय हेय नहीं। उनका भी परिशोधन करना है जैसे मूलाधार से सहस्राधार।

पं. जगन्नाथ शास्त्री तैलंग (प्रश्न)

उपायों का वर्गीकरण द्वैत दृष्टि से किया गया है फिर अद्वैत कैसे?

प्रो. कमलाकर मिश्र (उत्तर)

जैसे वेदान्त में असत्य से सत्य की ओर आगे बढ़ा जाता है।

पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी (टिप्पणी)

- **मालिनीविजयोत्तर** में उपाय का लक्षण बताया गया है।।
  - अनुपाय सहजयोग, सहजसमाधि।
  - आणवोपाय के तीन स्थान-
  - प्राण - देह या बाह्य।
  - उच्चार - प्राणोच्चार।
  - स्थान ... चक्रोदय।

ज्ञानसिंहासनाधीश्वर डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य (अध्यक्षीय)

विचारणीय है कि उपेय की प्राप्ति के बाद उपाय को छोड़ना चाहिये या नहीं। वैदिक दृष्टि संकल्पपूर्ति तक यज्ञ कर्म का विधान करती है।

प्रपञ्च सत्य और असत्य दोनों हैं। तन्त्र में तत्त्वात्मक सृष्टि की बात कही गई है और तत्त्व है- **अनारोपितं रूपं तत्त्वम्।**

डॉ. हृदयरञ्जन शर्मा (टिप्पणी)

सत्य युग में श्रौत, त्रेता में श्रौत्र कर्म, द्वापर में स्मार्त और कलिकाल में उपासना-पद्धति का प्राधान्य रहा है। किन्तु तन्त्र में इन सभी का समावेश है।

वेददृष्टि से उपाय विधि भाग हैं। सायण ने उपाय को इष्टप्राप्ति और अनिष्ट के परिहार का साधन बतलाया है।

❖ ❖

मलमायादिपाशानां विश्लेषः क्रियते यया।
ज्ञानं च जन्यते शिष्ये सा दीक्षेत्यभिधीयते।।

तन्त्रालोक, ६०७ (सद) - ८ (अब).

दीयते येन विज्ञानं क्षीयते पाशबन्धनम्।
तस्मात् संस्कार एवायं दीक्षेत्यपि च कथ्यते।।

शिवपुराण (वायवीय संहिता, भाग ११ अ. २)

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयन्ते पशुवासनाः।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता।।

विवेक, I.४३.

परीक्ष्य पृष्ट्वा वा शिष्यं दीक्षाकर्म समाचरेत्।

वही, XV/२० सद.

यस्तु दीक्षाविहीनोऽपि शिवेच्छाविधिचोदितः।
भक्त्याश्नाति स संपूर्णः समयी स्यात्सुभावितः।।

वही, XVI/३१.

नास्ति दीक्षासमो मोक्षो न विद्या मातृका परा।
न प्रक्रियापरं ज्ञानं नास्ति योगस्त्वलक्षकः।।

स्वच्छन्दतन्त्र, ११.१९८.

आह्निक - १३

आणवोपाय एवं शाक्तोपाय के सन्दर्भ में उच्चार का स्वरूप

डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास (संयोजक द्वारा पूर्वपीठिका)

आणवोपाय के अन्तर्गत प्राणतत्त्व के समुच्चार का विधान है। प्राण की वृत्ति प्राणन कही जाती है और इसी प्राणवायु के कुम्भक, रेचक से अनुत्तर तत्त्व का विकास होता है। प्रमाता अपने आनन्दरूप में स्थित रहता है और इसी आनन्दावस्था से आनन्दातीत या निरानन्द की अवस्था को प्राप्त करता है। वह प्रमेय में भी आनन्द की अनुभूति करता है अर्थात् प्रमेय को आनन्दरूप में अनुभव करता है और इस प्रकार दोनों को आनन्दरूप या एकरूप मानकर पूर्णता की ओर अग्रसर होता है। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान सभी में आनन्दात्मकता का अनुभव करके शिवत्व की प्राप्ति करता है। इस अवस्था में सभी प्रकार के विकल्प शान्त हो जाते हैं अर्थात् सभी प्रकार की उपाधियाँ शान्त हो जाती हैं। इसीलिए इसे निरुपाधि, महाव्याप्ति, व्यानावस्था, व्यानदशा आदि कहते हैं। इसमें जड़-चेतन का भेद नहीं रहता। यह पूर्ण चैतन्य की अवस्था है अथवा इसे पूर्ण स्वातन्त्र्य या अमृतावस्था भी कहते हैं। इस अवस्था में साधक को सृष्टि आदि का स्वयं को मूल मानकर उच्चार करना चाहिए और इस अनुत्तर अवस्था में स्थिर रहना चाहिए। इस प्रकार यह स्वरूप छः प्रकार के प्राणों के उच्चार से प्राप्त होता है-

अथ प्राणस्य या वृत्तिः प्राणनाद्या निरूपिता।
तदुपायतया ब्रूमो अनुत्तरप्रविकासनम्।। स्वच्छन्दतन्त्र, ५/४३

अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभावमुच्यते।
अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गताः।।

वही, ४/२९२-३

निरुपाधिर्महाव्याप्तिर्व्यानाख्योपाधिवर्जिता।
तदा खलु चिदानन्दो यो जडानुपबृंहितः।।

तन्त्रालोक, ५.४९

उक्त विश्रान्ति को ही अनुत्तरमयी दशा कहते है। अर्थात् यही सर्वोच्च स्थिति है और इसके ऊपर कोई स्थिति नहीं है अथवा इससे श्रेष्ठ कोई स्थिति नहीं है। यद्यपि स्वात्मा की तेजस्विता के कारण हृदय का एक ही स्वभाव होता है और हृदय से लगाकर द्वादशान्त तक अथवा इससे ऊपर भी ऐसी कोई दशा नहीं होती जो हृदय से भिन्न हो। फिर भी संकोच और विस्तार के भेद के अनुसार सामान्य और विशेषरूप से छः प्रकार के प्राण का प्राणनादि उच्चार होता है। यही आत्मोच्चार है। यह एक प्रकार का दण्डप्रयोग है अर्थात् जैसे दण्ड से प्रताड़ित होने पर सर्प दण्डाकार बन जाता है। उसी प्रकार गुरु के द्वारा जगाये जाने पर जागा हुआ शिष्य गुरु की इच्छानुसार आचरण करता है।

प्राणोच्चार का प्रतिपादन करने के बाद **आचार्य अभिनवगुप्त** विस्तार से इनके फलों का वर्णन करते हैं। इन सब उपायों का मुख्य लक्ष्य साधक को उसके हृदय में प्रवेश कराना है।

प्राणतत्त्व समुच्चार के बाद चिदात्मा के उच्चार का क्रम बताया गया है- (**तन्त्रालोक,** ५/६२-६३) प्राणवृत्तिसमुच्चार (**वही,** ४३-५१) हृदयोच्चार (**वही,** ५२) नाम, जप, भजन से उच्चार का भेद-शब्द के अभ्यास से शब्दातीत का अनुभव इत्यादि।

पं. परमहंस मिश्र (प्रधान वक्ता)

यह संसार भेदयुक्त है। आणवोपाय में यह अभेद में डूबने के लिए व्याकुल हो जाता है। उपाय का तात्पर्य यह है कि हम लोग परमेश्वर में जाने के लिए और जिस अवस्था में हैं वहीं रहकर जाने के लिए तैयार हैं। इसलिए हमें ऐसा उपाय चाहिये जो हमें प्रभामण्डल से भर दे। जिस प्रभामण्डल में हम बैठेंगे उससे हमारा प्रभावित होना सुनिश्चित है। जब इस प्रभामण्डल से निकलने वाली किरणें हमारे शरीर को पूर्णतः ओत-प्रोत कर लेती हैं उस समय हम अपने में नहीं रहते। यह महानन्द है, ब्रह्मानन्द से भी ऊपर। लेकिन इसके बाद भी एक स्थिति है जिसे तन्त्रशास्त्र बतलाता है।

वस्तुतः तन्त्र की ये स्थितियाँ सुनने की नहीं, साधना की विषय हैं, आनन्द लेने की विषय हैं। शास्त्र की बात जब क्रियारूप में परिणत होती है तो उसे क्रियायोग कहते हैं। आणवोपाय में जो भेदोपाय है, वह क्रियायोग है।

पातञ्जलयोग (२.१) में भी क्रियायोग बतलाया गया है- **तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः**। आपका यहाँ बैठना ही तप है। स्वाध्याय

का महत्त्व बताते हुए कहा गया है- **स्वाध्यायान्मा प्रमदितव्यम्**। अन्य विषयों में प्रमाद क्षम्य है किन्तु स्वाध्याय में नहीं। स्वाध्याय में पढ़ना पड़ता है। यह प्रवृत्ति आधुनिक युग में क्षीण होती जा रही है। पातञ्जलयोग में समस्त आनन्दों की अनुभूतियाँ सोपान-परम्परा से प्राप्त होती हैं।

यह समस्त सन्दर्भ **तन्त्रालोक** के पञ्चम आह्निक में विस्तार से मिलता है। जैसे क्रियायोग का स्वरूप, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान आदि हैं। प्रभामण्डल में बैठने पर जिस आनन्द की अनुभूति होती है वह चिदानन्द कहा जाता है। तन्त्र में परमात्मा को सच्चिदानन्द नहीं, चिदानन्द ही मानते हैं। सत् तो उसका स्वभाव है। सत् से वह व्याप्त है। चित् से इसलिये प्रारम्भ करते हैं कि चिति स्वतन्त्र है और विश्वसिद्धि का हेतु है- **चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः। (प्रत्यभिज्ञाहृदय)**। चिदानन्द में स्वातन्त्र्य भाव का अनुभव करते हैं। इसमें भेदोपाय अभेदोपाय में परिणत होने लगता है। इसमें दोनों (भेद व अभेद) झिलमिलाते हैं। उनमें एकता की प्रक्रिया होने लगती है जैसे चीनी जल में घुल रही है। अब रस बनने के लिए तैयार है। इसके बाद महान् आनन्द आता है। परमात्मा में प्रवेश हो जाता है। भेदोपाय समाप्त हो जाता है। यह जगदानन्द है जो आनन्द की सातवीं भूमि है। यह आणवभाव का उच्चारयोग है।

हम अपने व्यावहारिक दैनिक जीवन में श्वास के साथ खिलवाड़ करते हैं। सारा विश्व प्राण के साथ खेल कर रहा है। प्राण के प्रति हम गम्भीर होकर सोचें, अनुभव करें कि प्राण कहाँ जा रहा है। लम्बोदर बनिये। हमें शुण्डादण्ड में चलना है। हम सोचें यह प्राण प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी से क्रमशः आते हुए अमावस्या में विलीन हो गया है। एक-एक घंटा प्रतिदिन करने से चालीस घंटे या चालीस दिन में आपको बुद्धत्व की प्राप्ति हो जाएगी- यह सुनिश्चित है। यह साधना है, प्राण-साधना। इसको **भगवान् बुद्ध** ने **प्राणापानसति** कहा है। **बुद्ध** की साधना का स्वरूप **प्राणापानसति** था। इसलिए हमारा लक्ष्य है क्रियायोग के माध्यम से परमात्मा के अद्वयभाव में प्रवेश। तब हमें लगेगा कि हम जीव नहीं, स्वयं शिव हैं।

शाक्तोपाय में उच्चार का स्वरूप

भेद से अभेद में पहुँचने के बाद अब उतरना है शक्तिवाद में। **शिव** शक्ति के बिना नहीं रह सकता- यह सब जानते हैं। **शिव** से इकार निकलने पर वह शव हो जाएगा क्योंकि इकार शक्ति है।

भगवान् पाणिनि तान्त्रिक थे। इतना बड़ा शैव दार्शनिक कोई नहीं हुआ। **स्वतन्त्रः कर्ता** जैसा सूत्र और शास्त्र किसी ने लिखा नहीं। यह स्व का तन्त्र

है। इसे हम स्वबोधसत्य कहते हैं। स्व में आधा स् है। यह विसर्ग से बनता है। **विसर्जनीयस्य सः**। विसर्ग (:) का प्रथम बिन्दु **शिव** है, दूसरा शक्ति। इनके मिलने पर विसर्ग सृष्टि होती है। तब इसमें तीन अण्ड (पृथिवीअण्ड, प्रकृतिअण्ड और मायाअण्ड) आ जाते हैं। फिर यह आधा स् व में मिलता है। व उ, और अ से बनता है। उ अर्थात् उन्मेष और अ मतलब अ, इ, उ, ण्। अ-इ-उ इस क्रम का भी महत्त्व है। उ अथवा उन्मेष जब अ अथवा अनुत्तर **शिव** में मिलता है तब दोनों को मिलाकर व बनता है। इस स् और व के योग से स्व बनता है। स्व अर्थात् परमपिता परमात्मा या अनुत्तर भाव जिससे ऊपर या श्रेष्ठ कुछ भी नहीं। यही शिवभाव है।

स्व का तन्त्र तभी चलता है जब हम क्रियाशील होकर सारे संसार को बनाते हैं। यही स्वातन्त्र्य है जिसे तन्त्र में स्वातन्त्र्यवाद कहा जाता है। इसमें शक्तिवाद अन्तर्गर्भित है।

हम आणवभाव में या भेदभाव में बैठे हैं। हमारे चारों ओर भेद व्याप्त है। इसी में दुनिया की सारी क्रियाएँ आती हैं, इसलिए इसे क्रिया का नाम देते हैं। किन्तु शक्तिभाव में जाने का तात्पर्य भेद एवं अभेद दोनों हैं। भेदाभेद दोनों की उत्पत्ति शक्ति से ही होती है। शक्ति इन दोनों के बीच की कड़ी है। यह दोनों का समन्वय करती है। अतः शाक्तभाव भेदाभेदोपाय कहलाता है।

आणवभाव को उच्चार-करण-ध्यान-वर्ण और स्थानप्रकल्पन- इन पाँच भागों में बाँट दिया। किन्तु शाक्तभाव के लिए **अभिनवगुप्त** ने लिखा है **उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव प्रकल्पयन्**। अतः शाक्तभाव में प्रवेश के लिए उच्चार का परित्याग आवश्यक है। अब आप एक सीढ़ी आगे बढ़ रहे हैं। हवाई जहाज को छोड़कर उपग्रह में चढ़ रहे हैं।

उच्चाररहितं वस्तु में वस्तु का अर्थ प्रमेय नहीं है। इसका अर्थ है अहन्ता से लेकर तनुता इन्दता जहाँ विद्यमान रहती है वह सदाशिवभाव, सदाशिवभाव से लेकर क्षितिपर्यन्त। इस उच्चाराहित्य में ३४ तत्त्व आ जाएँगे। उच्चार में भेदोपाय को जीतकर शाक्तभाव में प्रवेश करेंगे और वहाँ वस्तु को इस रूप में देखेंगे, मात्र वस्तुरूप में नहीं। समस्त वस्तु हमारी है।

उदाहरण के लिए एक गाँव का परिचय पाने के लिए हम उसका घर-घर देखते हैं, प्रत्येक के नम्बर आदि देखते हैं। फिर घरों, मनुष्यों, पशु-पक्षियों का आंकड़ा तैयार करते हैं। किन्तु यह ग्राम-दर्शन का एक (अपूर्ण) स्वरूप है।

दूसरा स्वरूप है गाँव को पहाड़ की ऊँचाई से देखना। इसे तन्त्र में समग्रवाद कहते हैं। यह सर्वेक्षण है। शाक्तवाद भी सर्वेक्षण है। समग्रवाद में पूरा विश्व निहित है।

वस्तु को चित्त से, चैतस् से देखा जाता है- **चेतसैव विचिन्वयन्।** बिना चित्त के कोई चिन्तन, कोई दर्शन नहीं होता। प्रत्येक क्रिया की पृष्ठभूमि में चित्त होता है। इच्छा निर्विकल्प होती है, सविकल्प नहीं। फूल विकल्प है किन्तु फूल का प्रथम क्षण का दर्शन निर्विकल्प है। यही संवित् है। दूसरे क्षण में इस पुष्प का सविकल्पात्मक ज्ञान होता है। यह आणवभाव में चेतस्-विचिन्तन का क्रम है। अब विचारणीय है शाक्तभाव में चेतस्-विचिन्तन का क्रम।

चेतस् शब्द की व्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में **प्रत्यभिज्ञाहृदयम्** (५) में कहा गया है- **चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम्।** अर्थात् चिति चेतन के पद से नीचे आई। **शिव**, स्वरूप-गोपन करके जीवभाव में आ गए। वस्तु को देखने के लिए बीजभाव से चलकर अङ्कुरभाव में, फिर शाखा-प्रशाखाओं के माध्यम से वृक्ष को देखना- यह वस्तु का चेतस्-विचिन्तन समग्रवाद में हुआ। साधक शाक्तभाव में, आनन्दभाव में बैठा हुआ है। भेदाभेदोपाय के कारण भेद-अभेद दोनों को देख रहा है। दोनों संस्थितियाँ उसके सामने हैं। समधृततुलापुटन्याय से वह कहता है- **इदमप्यस्ति इदमप्यस्ति**। साथ ही वह यह भी कहता है मैं भी हूँ।

पूर्वरूप सर्वत्र होता है। सृष्टि के समस्त सन्दर्भों का पूर्वरूप है। आयुर्वेद में पूर्वरूप होता है, तभी रोग होते हैं। यह सब मयूराण्डरसन्याय से समझने का विषय है। बीज में वृक्ष का सारा वैचित्र्य विद्यमान है।

अत: प्रमेयवाद से शाक्तोपाय भिन्न है। इसमें उच्चार का स्वरूप काट दिया। क्रिया से प्रत्येक वस्तु के प्रति हमारी धारणा बनती है। भेदाभेद दोनों भावों में क्रिया है। शाक्तभाव की क्रिया ज्ञान-योग में परिणत हो जाती हैं। इसे ज्ञानोपाय भी कहते हैं। यद्यपि आगे चलकर **तन्त्रालोक** में ज्ञान और क्रिया में अन्तर नहीं माना- **यद् ज्ञानं सा क्रिया, या क्रिया तद् ज्ञानम्**। चेतसिक स्थिति में ज्ञान और क्रिया एक में मिले हुए होकर भी उनके दोनों स्वरूपों का ज्ञान होता है। क्रियांश का जहाँ प्राधान्य होता है वहाँ भेदोपाय या आणवोपाय होता है और ज्ञान का जहाँ प्राधान्य होता है वहाँ भेदाभेदोपाय या शाक्तोपाय होता है। अत: क्रिया दोनों जगह है। इसलिए भेदोपाय से भी परमात्मा में जाते हैं और भेदाभेदोपाय से भी। उपेय तो केवल **शिव** है। सबको मनुष्यरूप में नहीं, शिवरूप में देखें और मानें।

डॉ. श्वेता खन्ना (प्रश्न)

१. आधुनिक विज्ञान एवं चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से श्वास फेफड़ों तक जाती है और वहीं से प्राण-अपान वायु की क्रिया होती है। किन्तु भारतीय दृष्टि से नाभि तक श्वास की गति है। अतः दोनों दृष्टियों में क्या कोई सङ्गति है?

२. प्राण की दृष्टि से अनुभूतियों में अन्तर आता है और अनुभूति की स्थिति बदलने से प्राण की गति बदलती है। इस पर भी टिप्पणी की प्रार्थना है।

पं. परमहंस मिश्र (उत्तर)

श्वास केवल फेफड़ों तक जाता है, हम इसको नहीं मानते हैं। हमारी अनुभूतियाँ इसे स्वीकार नहीं करतीं। क्योंकि प्राण सुषुम्ना के द्वारा नाद तक जाता है। हमारी साधना के आज्ञाचक्र में ह और क्ष दो दल हैं। ह केवल व्यञ्जन नहीं है, प्राण माना जाता है। क्ष को जीव कहते हैं। लेकिन प्राण और जीव दोनों आज्ञा-चक्र के द्विदल में बैठे हुए हैं।

पाणिनीय व्याकरण में **माहेश्वरसूत्रों** की ह से लेकर ह तक ही समाप्ति होती है जो स्पर्श वर्ण है। पहला ह न स्वर-प्रकरण में है, न व्यञ्जन प्रकरण में। यह ह स्वरवत्ता व व्यञ्जनवत्ता दोनों का सन्दर्भ देता है। दोनों का सन्दर्भ लेकर के शक्तिभाव से वहाँ विद्यमान है। इसलिए इस शाक्तभाव में ह वहाँ बैठा है। क से श मिलाकर के क्ष बनता है। **उर्दू में क क़ाफ (ک) और (ش) शीन मिलाकर क्ष (کش) बोलते हैं।** क़ाफ बोलते हैं सीन बोलते हैं, तब क्ष और अंग्रेजी में KSH इसी तरह का होता है। क्ष को चक्रेश्वर वर्ण कहते हैं। यह चक्रेश्वर समस्त व्यञ्जनों का एक प्राण है। यह समस्त चक्रेश्वरता और समस्त चक्रवाद आज्ञाचक्र में बैठा हुआ है और बीच में ओंकार बैठा हुआ है। यह ओम् हमारा वैदिक दृष्टि का ऊँकार नहीं है। हमारा यह त्रयोदश भाव है जिस समय हम वर्णमाला का प्रयोग करें तो क्रमशः चलें अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः। इसमें ओ त्रयोदश भाव में है। इस त्रयोदश भाव को ओ और औ को चतुर्दशधाम कहते हैं। इस चतुर्दशधाम में बड़ा अन्तर है। उ और अ को मिलाकर जब गुण होता है तो ओ बनता है। उ उन्मेष मिलता है। अनुत्तर **शिव** विद्यमान है और उसमें बिन्दु जो म है वह उसमें विद्यमान है। बिन्दु प्राण होता है। इस दृष्टि से ओम् जो वहाँ विद्यमान है उसमें अ उ म यह तो सामान्य अक्षर हैं लेकिन ओम् यह उनका निचोड़ है। वह बिन्दु और

उसके चन्द्रबिन्दु। इस तरह ओम्कार में पाँच क्रम हैं। इस पाँच क्रम को पार कर योगी बिन्दु में पहुँचता है। बिन्दु की स्थितियाँ दो प्रकार से चलती हैं। दो धाराओं में प्राण आगे बढ़ता है। बिन्दु से एक तो क्षेप (फेंकाव) के द्वारा नाद में पहुँच जाता है। दूसरे क्रम में क्षेप और चन्द्रबिन्दु और चन्द्रबिन्दु के बाद आती है निरोधिका शक्ति। निरोधिका शक्ति रोकती है। निरोधिका का काम ही रोकना होता है। एक-एक बिन्दु कर दें तो रेखा बन जाती है। रेखा का तात्पर्य है बिन्दुओं का क्रम। बिन्दुओं के क्रम में साधक को बैठकर प्रार्थना करनी पड़ती है। तब फाटक खुलते हैं। फाटक खुलते हैं तो शुद्ध-विद्या के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। वहाँ पहली चीज मिलती है नाद और नाद तक पहुँचाकर सुषुम्ना का व्यापार शान्त हो जाता है। इस प्रकार प्राण-तत्त्व नाद के माध्यम से सुषुम्ना तक पहुँचता है। यह हमारा तन्त्र का सिद्धान्त है। इसकी प्रक्रिया संक्षेप में यह है- **प्राक्संवित् प्राणे परिणता** पहले संवित् प्राण में परिणत होती है। किसी चीज को किसी चीज में परिणत होने के लिए कितना समय लगता है आप इस पर विचार करें।

संवित् शक्ति अपने स्वरूप से अवरोह की ओर चलती है। इस में सदैव स्फुरण होता है। जिस प्रकार आधुनिक वैज्ञानिक मानते हैं कि परमाणु में इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन दो बिन्दु ऐसे होते हैं जो हमेशा स्फुरण करते हैं। हमेशा जो स्फुरण होता है उसे तन्त्रशास्त्र में स्फुरण कहते हैं। तन्त्रशास्त्र का स्पन्द महास्फुरत्ता है। संवित् शक्ति में वह महास्फुरत्ता विद्यमान रहती है। उसकी हलचल नीचे आती है। जब गंगावतरण नीचे की ओर होने लगा तो अनुभव कीजिए कि **शिव** के जटाजूट में हलचल हुई, **ब्रह्मा** के कमण्डल में हलचल हुई, **विष्णु** के पैर में हलचल हुई, क्या-क्या सारी बातें हो गईं! सारा सन्दर्भ वहाँ आ गया। प्राण की ओर संवित् चल रही है। पूर्वरूप आप ग्रहण कीजिए तो प्राणवत्ता का, स्पन्दन का स्वरूप आते-आते प्राण और अपान में परिणत हो गया। इतने में जो सूक्ष्मता का सन्दर्भ है, वही सूक्ष्म प्राण है। सूक्ष्म प्राण को वैज्ञानिक नहीं जानते हैं, तान्त्रिक जानते हैं। संवित् प्राण के परिणत होने की स्थिति में पहुँचता है और उसमें बैठकर आनन्द का अनुभव करता है। इस स्थिति में अनुभूति का जो स्वरूप है वह दो सन्दर्भों में आयेगा। एक संवित् से प्राण की ओर चलने की अनुभूतियाँ अलग और दूसरे प्राण में परिणत हो जाने के अवसर की अनुभूतियाँ अलग। सबसे पहले प्राण चौथे महीने में गर्भ में आता है और जिस समय प्राण गर्भ में आता है, चलता है तो माता को बड़ा आनन्द आता है। यह गर्भ का चलना स्फुरत्ता है, प्राणवत्ता

है, संवित् शक्ति का स्पन्द है। चलते-चलते संवित् शक्ति का प्रोच्छलन कोई नहीं समझेगा। माता भी क्या समझेगी? उस भ्रूण में किस प्रकार की प्राणवत्ता आने लगती है कि उस मांस-पिण्ड में अँगुलियाँ बनने लगती हैं, उसमें फेफड़ा बनता है, उसमें छेद हो जाता है, जीव निकल आता है। क्या सन्दर्भ है? इस संवित् शक्ति का, प्राणवत्ता का और इसमें प्रवेश का जो सन्दर्भ है वह आधुनिक वैज्ञानिकों को दुर्लभ है। आधुनिक वैज्ञानिकों से आह्वान करते हैं कि वे समस्त शास्त्रों का अध्ययन करें, तो हमको आशा है कि इस सन्दर्भ में वे आ जाएँगे और उनका विज्ञान कुछ काम कर सके तो वे आगे बढ़ सकते हैं। क्योंकि जैसे उन्होंने आधुनिक जीव से मानव बनाने का उपक्रम कर लिया और उसमें जो बढ़ा देते हैं, प्राणसत्ता बढ़ने लगती है। उस प्राणसत्ता के बढ़ाव में उसका कोई उपयोग नहीं है। उसमें तो संवित् शक्ति का उपयोग है। वैज्ञानिक चाहते हैं कि जो गाय आदि का माँस-पिण्ड है वह बकरी, मुर्गी आदि में बदल जाए। किन्तु यदि वैज्ञानिक तान्त्रिकों के साथ बैठें तो इस सन्दर्भ में वे बहुत काम कर सकते हैं।

प्रो. रमेशचन्द्र शर्मा (धन्यवाद)

विद्वान् वक्ताओं के धरातल से निम्न धरातल पर निवेदन करना चाहूँगा। प्राण और Lungs वाली बात है वह वायु का Store house है। भारतीय दृष्टि इन्द्रियों से परे भी कुछ देखना चाहती है। यदि हम श्वास-प्रक्रिया को फेफड़ों तक ही सीमित करेंगे तो प्रत्येक Artery और vain में जो स्पन्दन होता है वह बिना वायु के नहीं हो सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि वायु का कोई सूक्ष्म रूप हमारे शरीर के सूक्ष्म तत्त्वों में प्रवेश करता है जिससे शरीर सञ्चालित होता है। ऑक्सीजन के माध्यम से जो स्पन्दन होता है, वह वायु का सूक्ष्म रूप है और वह हमारे पूर्ण शरीर को क्रियाशील बनाता है। हम देखते हैं कि अगर वह नाड़ी स्पन्दित नहीं हो रही है तो व्यक्ति मृत हो जाता है। वह Lungs तक नहीं है बल्कि उससे आगे बढ़ा है। इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि नाड़ी में रक्त का सञ्चार ही नहीं होता। पूरे शरीर की क्रिया वायु पर निर्भर है। हम इसकी अनुभूति करते हैं। बहुत-सी चीज़ें ऐसी हैं जिनकी हम अनुभूति नहीं कर पाए। इसलिए आत्म-तत्त्व तक नहीं पहुँच पाए। आज के वैज्ञानिक युग में हमें यह सीढ़ी मिलती है कि हम वायु को नासिका और रन्ध्र तक सीमित न करके उसका जो सूक्ष्म-तत्त्व शरीर में प्रवेश करता है, शरीर को अनुप्राणित करता है, स्पन्दित करता है वहाँ तक हम पहुँचने की चेष्टा करें। लेकिन यह एक सीढ़ी है। यह अन्तिम

सीढ़ी नहीं है। इसके अतिरिक्त भी जो स्पन्दन होता है। वह कहाँ से सञ्चालित होता है और उसे सञ्चालित करने वाली शक्ति की अनुभूति हम कर सकते हैं। क्या- यही हमारे तन्त्र का विषय है?

पुस्तक लेकर बैठना स्वाध्याय नहीं है। सूत्रों को समझना, उसके मर्म को जानना बाह्य प्रक्रिया हो सकती है। लेकिन वास्तविक स्वाध्याय स्व का अध्ययन है, अपनी स्थिति और गति का अध्ययन है। यही **शिव** तक पहुँचने का मार्ग है।

❖ ❖

शाम्भवोपाय

संविदात्मनि विश्वोऽयं भाववर्ग; प्रपञ्चवान्।
प्रतिबिम्बतया भाति यस्य विश्वेश्वरो हि सः।।२६८।।
एवमात्मनि यस्येदृगविकल्पः सदोदयः।
परामर्शः स एवासौ शांभवोपाय मुद्रित;।।२६९।।
पूर्णाहन्तापरामर्शो योऽस्यायं प्रविवेचितः।
मन्त्रमुद्राक्रियोपासास्तदन्या नात्र काश्चन।।२७०।।
भूयोभूयः समावेशं निर्विकल्पमिमं श्रितः।
अभ्यैति भैरवीभावं जीवन्मुक्त्यपराभिधम्।।२७१।।
इत एव प्रभृत्येषा जीवन्मुक्तिर्विचार्यते।
यत्र सूत्रणयापीयसुपायोपेयकलपना।।२७२।।
निर्विकल्पे परामर्शे शाम्भावोपायनामनि।
पञ्चाशद्भेदतां पूर्वसूत्रितां योजयेद्बुधः।।२७४।।
धारामेवाविकल्पेन स्वात्मनि प्रतिबिम्बताम्।
पश्यन्भैरवतां याति जलादिष्वप्ययं विधिः।।२७५।।
यावदन्तो परं तत्त्वं समस्तावरणोर्ध्वगम्।
व्यापि स्वतन्त्रं सर्वज्ञं यच्छिवं परिकल्पितम्।।२७६।।
मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रातिबिम्बितम्।
मदभिन्नमिदं चेति त्रिधोपायः स शाम्भवः।।२८०।।
तदस्मिन् परमोपाये शाम्भवाद्वैत शालिनि।
केऽप्येव यान्ति विश्वासं परमेशेन भाविताः।।

तन्त्रालोक, III, २८८

आह्निक - १४

आणवसमावेश में करण, ध्यान, वर्ण एवं स्थानप्रकल्पन

पं. परमहंस मिश्र (प्रधान वक्ता)

आदिमुखा कादिकरा टादिपदा पादिपार्श्वयुङ्मध्या।
यादिहृदया भगवती संविद्रूपा सरस्वती जयति।।

रहस्यपञ्चदशिका, श्लोक २.

अकार परमशिव का स्वरूप है। इ, अ के संयोग से य बनता है। इकार विश्व की समस्त इच्छाओं का बीज है। उ, विश्व के उन्मेष का बीज है। उ से अ मिलने पर वकार बनता है। ऋ और ऌ इकार के विजृम्भण हैं। इकार की क्षिप्रता से ऋकार की उत्पत्ति होती है। ऋ वास्तव में स्वर नहीं है किन्तु बाद में उसकी स्वर के रूप में गणना की जाती है। ल, धरा का बीज माना जाता है। धरा का तात्पर्य है- अत्यन्त स्थिर। व्यापक अर्थ के अनुसार जहाँ-जहाँ स्थिरता है, वहाँ-वहाँ धरात्व है। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ धृतित्व है वहाँ-वहाँ शिवत्व है। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ शिवत्व है वहाँ-वहाँ धरात्व है। धराभाव शिवभाव है अथवा **शिव** का शाक्तभाव है। हृदय का विशेष महत्त्व है क्योंकि उसे परमेष्ठि का हृदय कहा गया है- **सा स्फुरत्ता महासत्ता हृदयं परमेष्ठिनः...**। समस्त केन्द्र मूलाधार से चलते हैं। मूलाधार के बाद स्वाधिष्ठान आता है। इसके बाद मणिपूर और फिर अनाहत। अनाहत मेरुदण्ड में होता है, जो विश्व का केन्द्र है, यही **शिव** का केन्द्र है। इस केन्द्र में समाहित होना हृदय की स्थिति है। यकार आदि **जगदम्बा** के हृदय हैं।

तन्त्रशास्त्र के अनुसार जीव मृत्यु का प्रतिक्षण साक्षात्कार करता है। मृत्यु के बिना जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। जीवन का सम्बन्ध व्यक्त की चिन्ता से है। तन्त्रशास्त्र के स्वाध्याय के लिए जीवन से सावधानी आवश्यक है। जीवन, मृत्यु का सन्दर्भ है।

अभिषेक- प्रत्येक व्यक्ति का प्रतिक्षण अभिषेक हो रहा है। किन्तु इसकी ओर उसका ध्यान नहीं जाता। जिस समय प्राण, अपान ऊपर जाता है, प्राण के पास सोम रहता है और जब यह सोम विगलित होता है तो अभिषेक की क्रिया सम्पन्न होती है।

रुद्र में निश्चला भक्ति का लक्षण है- **अकस्मात् सर्वशास्त्रत्वं यत्स जायते।** **शङ्कराचार्य** ने अपने शिष्य को तोटक कहा क्योंकि वह तोटक छन्द में बोलता हुआ आया। उसमें अकस्मात् सरस्वती प्रकट हुई।

आणवसमावेश में पाँच प्रकार की धाराओं का समावेश है। अणुता से सम्बन्ध रखने वाले को आणव कहते हैं। अणु अर्थात् सूक्ष्मता। अणुता, परमात्मा का ही स्वरूप है। बिन्दु भी अणु ही है। बिन्दु अर्थात् **सर्वं वेत्ति इति बिन्दुः।** यह ब्रह्म का प्रतीक है जो सब कुछ जानता है। तन्त्र में बिन्दु जड़ता का प्रतीक है। **शिव** जब स्वयं को अत्यन्त लघुरूप में आच्छादित कर लेता है तो वह अणु बन जाता है। अणुभाव ही जीव कहा जाता है। सम्पूर्ण विश्व अणुभाव में है।

उच्चार-सूर्यसोमात्मकं जगत्। प्राण के साथ अपान अनिवार्य रूप से जुड़ा है। ८४ अंगुल का शरीर अणु है। किन्तु जब हम ९६ अंगुल के शरीर में पहुँचते हैं तो हमारी अहन्ता का विस्तार होने लगता है। १०८ अंगुल का शरीर बनने पर सूर्य (प्राण) सोम (अपान) के साथ मिलने से व्यक्ति के हृदय में अमृत की धारा का प्रवाह होता है जिसका अनुभव साधक ही साधना में कर सकता है।

करण (इन्द्रियाँ) करणेश्वरी भूमियाँ– ये प्रसन्न होने पर दीक्षित भी करती हैं। शिवत्व का सभी इन्द्रियों में आधान करना अथवा उन तथाकथित अचेतन इन्द्रियों में शिवत्व को देखना ही शक्ति का समावेश है। आणवभाव में इन्हीं करणेश्वरी देवियों की प्रधानता होती है। इन्द्रियों में शक्ति का समावेश होने से ही उनमें जागृति आती है।

करण एक पारिभाषिक शब्द है। आगमशास्त्र में बोधपूर्वक अभ्यास को ही करण कहते हैं। व्याकरणशास्त्र में तो करण साधकतम कारण ही होता है। **पाणिनि** यही परिभाषा स्वीकार करते हैं (**अष्टाध्यायी** १/४/४२)। यही दृष्टि आगम की भी है। उपेय की प्राप्ति में अभ्यास ही साधकतम व्यापार होता है। शरीर-विज्ञान में करण इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियों के माध्यम से ही ज्ञान और कर्म की प्रक्रिया पूरी की जाती है। आगमिक अभ्यास भी इन्द्रियों द्वारा ही सम्पन्न होता है।

उच्चारप्रक्रिया द्वारा जब चितिकेन्द्र से प्राण जीवन-तत्त्व लेकर चलता है, तो योगयुक्त साधक उस जीवन तत्त्व से चक्षु को चाक्षुषप्रत्यक्ष करने की शक्ति, नासिका को गन्ध ग्रहण करने की शक्ति, त्वक् को स्पर्श-शक्ति, कानों को शब्द-श्रवण-शक्ति प्रदान करता हुआ पूर्णिमा केन्द्र में प्रवेश करता है। प्रति प्राणापानवाह में इस प्रकार शक्तिवितरण करने से ही जीवन जीवन्त रहता है।

बोधपूर्ण अभ्यास में छः अध्वा भी आते हैं- १. वर्ण, २. पद, ३. मन्त्र, ४. कला, ५, तत्त्व और ६. भुवन। इसी के कारण ही यह त्रिकदर्शन 'षडध्व दर्शन' कहलाता है। इन सभी प्रक्रियाओं के माध्यम से साधक देह को शक्तिमन्त रखता हुआ अद्वैत की अदेह प्रक्रिया पूरी करता है। जहाँ तक करण का प्रश्न है, यह आणवसमावेश का दूसरा बिन्दु है। उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण और स्थानप्रकल्पन के क्रम में उच्चार के बाद इसी का क्रम **मालिनीविजयोत्तर तन्त्र** (२/२१) और **श्री तन्त्रालोक** (१/१७०) दोनों स्वीकार करते हैं। इस करणयोग के अन्तर्गत ही सारी चक्रसाधना और कुण्डलिनी-योग भी परिगणित हैं।

श्री तन्त्रालोक के पञ्चम आह्निक में उच्चार की स्थिति को समझाने के बाद आणवोपाय के महत्त्वपूर्ण योग करणयोग का वर्णन **त्रिशिरःशास्त्र** के अनुसार ही किया गया है।

ग्राह्य-ग्राहक-चिद्व्याप्ति-त्यागाक्षेपनिवेशनैः।
करणं सप्तधा प्रोक्तमभ्यासं बोधपूर्वकम्। तन्त्रालोक, ५/१२९

अर्थात् ग्राह्य, ग्राहक, चिद्व्याप्ति, त्याग, आक्षेप और निवेशन भेद से करण सात प्रकार का माना गया है। यह बोधपूर्वक अभ्यासरूप होता है। जहाँ बोध प्रधान हो और बोध्य गौण हो, वहाँ की अनुभूति पर ध्यान देना आवश्यक है। मैं वह हूँ, जिसका वैभव ही यह विश्व है। इस वाक्य में बोध की प्रधानता है और विश्वात्मक विकल्परूप वैभव की बात भी स्पष्ट है। बोध्यरूप महेश्वरता यहाँ गौण हो गयी है। इसी कारण से इसे आणवसमावेश का अङ्ग माना गया है। इन पर अलग-अलग विचार करना प्रासङ्गिक होगा-

१. ग्राह्य- द्रव्यत्व का ज्ञान। यह एक द्रव्य है। इस रूप में ग्रहण करने योग्य।

२. ग्राहक- कर्त्ता- ग्रहण करने-कराने वाला। ग्राहक में ग्रहण और त्याग की भावनाएँ रहती भी हैं और नहीं भी रहती हैं। यह ग्राहक ही अणु होता है और आणवसमावेश में जीता है।

३. चित्- संवित्तितत्त्व। यह व्यक्त-अव्यक्त सबमें व्याप्त होता है। आणवसमावेश में अव्यक्तरूप से व्याप्त होता है।

४. व्याप्ति- सर्ववस्तुतत्त्व में वस्तुत्व के उल्लास की वृत्ति।

५. त्याग- यह ग्राह्य है- इस वृत्ति की अस्वीकृति।

६. आक्षेप- निवृत्ति के निषेध के साथ उसकी प्राप्ति की वृत्ति।

७. निवेशन- वस्तु स्वरूप के विभव का विचार। स्वात्म की विस्मृति में वस्तु के प्राधान्य की स्थिति।

ये सातों वैचारिक अभ्यास के वे बिन्दु हैं, जहाँ साधक में बोध की वृत्ति का अभ्यास सतत रहता है और विकल्पात्मकता भी बनी रहती है।

ग्राह्य- ग्राहकरूप से पदार्थ के अर्थ का ज्ञानविचार भी सरणि में बराबर बना रहता है। अर्थ की प्रतीति के परिपक्व होने पर मन्त्रवर्णों में व्याप्त वीर्यवत्ता का बोध होने लगता है। **श्री तन्त्रालोक** में इस योग का विशद वर्णन किया गया है। विशेषरूप से २५वें और आगे के आह्निकों में इस विषय की चर्चा की गयी है। ये सारे विमर्श रहस्यात्मक हैं। इसीलिये छिटपुट रूप से कहीं- कहीं वर्णन के विषय बनाये गये हैं। आगम की यह मान्यता है कि- **नातिरहस्यमेकत्र ख्याप्यम्। न च सर्वथा गोप्यम्।** यह तन्त्र की गुरुपरम्परा है।

जो कुछ भी हो बोधपूर्वक अभ्यास के अतिरिक्त भी साधकतम ही करण हो सकता है, इस विषय में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। मेरे मत में करण-सम्बन्धी **त्रिशिरःशास्त्र** के सातों भेद ज्ञानेन्द्रियों द्वारा व्यक्त ग्राह्यग्राहकविज्ञान की दृष्टि से भी व्याख्यायित किये जा सकते हैं। इन्द्रियों को तन्त्रशास्त्र करणेश्वरी देवियों के रूप में ख्यापित करता है। ये करणेश्वरी देवियाँ इन्द्रियाँ ही हैं। कोई साधक अपनी उच्चार-साधना के साथ ही अपनी करणेश्वरी देवियों से संपृक्त रहता है।

चिति शक्ति की चेतना की चिनगारियाँ जब अभ्यास के बल पर बोधवह्नि बन जाती हैं तो यह निश्चित है कि सारे विकल्प उसमें भस्मसात् होंगे ही, इसमें सन्देह नहीं है। ये सब साधना के विषय हैं। इन पर गुरुदेव के सान्निध्य में, उन्हीं के तत्त्वावधान में इस सम्बन्ध में विचार करना चाहिये। करण के रूप में मुद्राओं के प्रयोग भी मान्य हैं। मुद्राएँ भी साधना की अभ्यास-प्रक्रिया में उपाय मानी जाती हैं।

ध्यान- अध्यात्मभूमि भारत के सभी सम्प्रदाय ध्यान को विशेष महत्त्व देते हैं। ध्यान को साधने की कला अपने तरीक़े से सभी सिखाते हैं। किन्तु तन्त्रशास्त्र मानता है कि चिन्ता से व्याकुल रहने वाले मन को साधक यदि शिवता में तल्लीन कर दे तो उसकी चिन्ता दुःखदायी न होकर मणि के रूप में बदल जाती है। चिन्ता को मणि के रूप में बदलने की साधना ही तन्त्र में ध्यान है।

ध्यान, एक प्रकार का चिन्तन है। ध्यान व्यक्ति को भूत और भविष्य में ले जाता है। आणवभाव को किस प्रकार महाभाव में परिवर्तित कर सकते हैं इसका चिन्तन करना **(तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु)** ध्यान है। दर्शन में ध्यान,

मानसिकता, विचार आदि का स्वरूप विचारणीय है। भारतीय दर्शन अनुभव पर आधारित है। इसलिए जीवनदर्शन है। यहाँ बौद्धिकता को प्रश्रय नहीं दिया जाता। मन अमरबेलि है। मन कहता है काम दो नहीं तो आत्मा को मार डालूँगा। मन नौकर है। वैचारिक ऊहापोह से छुटकारा आवश्यक है।

चिदाकाशमये स्वाङ्गे विश्वालेख्य विधायिने।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।।

ज्ञान को विस्मृत कर अबोध बनने पर ध्यान होगा। आणवभाव-प्रधान होकर आत्मा संकुचित हो जाती है। तन्त्र- सांसारिक शास्त्र से ऊपर उठने की विद्या है।

शिवभाव का विश्वात्मरूप में चिन्तन करना ध्यान है। इस अवस्था में चेतना का समुद्र उमड़ता है। ऐसा सत् या वर्तमान में बैठने से या चिन्तन करने से होता है।

वर्ण- आणवसमावेश का चौथा बिन्दु वर्ण है। इससे पूर्व उच्चार, करण और ध्यान है। यह चेतना की तरङ्गिणी का द्वीप है। इसका उद्भव कैसे होता है यह जानने के लिए एक उदाहरण दिया जा सकता है। **पाणिनि** तपस्यारत थे। **शिव** ने डमरू बजाया। **पाणिनि** की चेतना का प्रवाह नाद में चला गया। नादानुसन्धान हुआ और सर्वप्रथम अ इ उ की उत्पत्ति हुई जो मूल स्वर हैं।

नाद से वर्णरूप बिन्दु आया, बिन्दु से आश्यान बन गया। नादानुसन्धान से वर्ण बनता है। मेरुदण्ड सीधा करके समस्त चक्रों को पार करते हैं तब आज्ञा चक्र को भी पार करके, आज्ञा में रहने वाले अ उ म को पार करते हैं तो बिन्दु वहाँ आता है। बिन्दु से लेकर निरोधिका तक का पूरा का पूरा क्षेत्र नाद के अन्तर्गत आता है। नाद से नादान्त जाते हैं, नादान्त से शक्ति, फिर व्यापिनी, समना फिर उन्मना में प्रवेश करते हैं। फिर शैव सद्भाव में अवस्थित होते हैं। तब कुछ करणीय नहीं है। वह आनन्द, महानन्द, निरानन्द की अनुभूति है। उस आनन्द की परिभाषा सांसारिक भाषा में नहीं दी जा सकती।

यह वर्ण नहीं वस्तुतः अवर्ण है। व = यादि हृदय है। व अर्थात् सारे उन्मेष का आदितत्त्व में जब प्रवेश हो जाता है तो वर्ण में या अर्ण में आ जाता है। ऋ धातु माने गमन, ऋ की गतिशीलता नाद में जब आई तो व भी आ गया। ये चिन्तन की स्थितियाँ हैं, नादानुसन्धान है।

वर्ण केवल **पाणिनि** के पास नहीं था। यह तो भगवान् ने पहले ही शरीर में डाल दिया था- यथा मयूराण्डरसन्याय।

शरीर की रचना विचित्र है। इसे वही जान सकता है जो तन्त्रशास्त्र का प्रवीण विद्वान् हो। जिस समय तक ब्रह्म का अभ्याकर्षण नहीं होगा तब तक ऋषित्व सिद्ध नहीं होगा। गर्भ कैसे बना यह देखना संभव नहीं है। रज-वीर्य के मिलन के क्षण में ही ब्रह्म का सद्भाव आता है। ४ माह बाद उसमें प्राणबल आता है। यह आणवभाव है। श्वास चार माह बाद आती है। तब गर्भ डोलने लगता है। वह गर्भ क्या है? चेतना की या नदी की धारा में एक घड़ियाल रहता है। गर्भ में या जल में निश्चिन्त रहता है। उस गर्भ को भूख नहीं लगती। वह आनन्द की चरमावस्था में रहता है। उसमें सहस्रार आदि सभी विद्यमान हैं। उसमें एक हजार वर्णों का न्यास होता है। कैसे? वर्णमाला के ५० वर्ण। १६ स्वर, ३४ व्यञ्जन। ५०×२० = १००० ये रेखाओं में क्रमश बंटे हुए हैं।

गायत्री में महाव्याहृतियाँ बोली जाती हैं। क्यों? यह आवश्यक है, क्योंकि शरीर में ही तीन महाव्याहृतियाँ होती हैं। इनके बिना शरीर नहीं रह सकता।

कमर से नीचे भू तत्त्व है। ऊपर भुव तत्त्व (पृथ्वी और अन्तरिक्षभाव को भुवलोक कहते हैं) में प्राण रहता है। प्राण अर्थात् सूर्य।

नाद तक **स्वर्लोक** था। भुवर्लोक में उतरने पर विशुद्ध चक्र में आते हैं। इसमें सब १६ स्वर आ जाते हैं। विशुद्ध चक्र के १६ दल हैं। इसके साथ व्यञ्जन भी आए। **कठोपनिषद्** का सारा तत्त्व अनाहत चक्र में है। कठ प्रत्याहार है अनाहत चक्र। इसके बाद मणिपुर में डढण तथा तथदधन, पफ। मूलाधार में शषस इत्यादि। ये पूरे वर्ण आपके शरीर में विद्यमान हैं। इस वर्णता का अनुसन्धान आणवभाव में करना है। इस आणवता से, इस भूर्भुवलोक से स्वर्लोक में जाना है और उसमें वर्ण के माध्यम से जाना है। जो व्यक्ति वर्ण के मार्ग से जाएगा वह निश्चय ही परमात्मा की प्राप्ति करेगा। हमारा सौभाग्य है कि हम अणुता में रहते हुए भी परमात्मा का चिन्तन कर पाते हैं।

वर्ण साधारण नहीं है। वर्ण से होने वाला उच्चार है। वर्ण ब्रह्म की चिनगारियाँ हैं। वर्ण में स्वयं को आत्मसात् करने पर व्यक्ति या साधक खिल जाता है। यह वर्णों की खिलखिलाहट है। अ से क्ष तक बोलने का अपना आनन्द है। निवृत्ति-कला में एक ही वर्ण है क्ष। यह निवृत्ति-कला में रहता है। क से क्ष तक ३५ वर्ण होते हैं। इनमें ह की गणना नहीं होती है।

स्थान प्रकल्पन

सभी उपाय आपस में मिले हुए हैं। स्थान शब्द स्था धातु से बनता है जहाँ हम स्थित हैं वह स्थान है। स्थान का प्रकल्पन आणवसमावेश की दृष्टि से करना है।

प्रलयकाल में वर्ण सटे रहते हैं और सृष्टिकाल में उच्चारण द्वारा विभक्त हो जाते हैं।

कविराजजी (भारतीय संस्कृति, पृ. ३२७-३०) ने साधना के कुछ प्रकार बताए हैं-

नामसाधना- वैदिक, वैष्णव, शैव, शाक्त, ईसाई, सूफ़ी, बौद्ध, जैन आदि सभी में किसी न किसी रूप में नामसाधना का विधान है।

मन्त्र साधना- गुरु का दायित्व है कि वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण-देह के अध्यास से मुक्त करके शिष्य को स्वरूपलाभ कराए।

भावसाधना- यह स्वभाव अथवा निजभाव की साधना है। इससे भावरूप देह की प्राप्ति होती है।

जपसाधना- इसमें शब्द से शब्दातीत ब्रह्म की प्राप्ति का लक्ष्य रहता है। इसे अनुत्तरमयी दशा कहते हैं। जप दो प्रकार का होता है बाह्य और आभ्यन्तर। विकल्पात्मक संजल्प वैखरी जप है। पहले हृदय (मध्यमा मार्ग) में प्रवेश, फिर नाभि में और फिर मूलाधार में प्रवेश को आभ्यन्तर जप कहते हैं।

- **शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धिनी।**
- **वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे, वाच इत् सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्।**

हम तो आनन्द में रोते हैं। यह चिद् रस का योग है। योग अर्थात् समूह। अर्थात् जैसे छोटा गुब्बारा फूल के बड़ा हो जाता है वैसे अणुत्व ही फैलकर इतने बड़े शरीर में हो गया। **आश्यानं चिद्रसस्यौद्यं साकारत्वमुपागतम्। (विवेक, ८.२ में उद्धृत)।**

उस देह को यदि इस रूप में आप देखिए तो किसी साधन की आवश्यकता नहीं। यह स्थान का महत्त्व है। शाक्तधारा पहले प्राण में आई, फिर देह में आई। यह देह का महत्त्व है। यह देह तो साक्षात् भैरव है। हम इसको देहरूप में मानते हैं, यह हमारा दुर्भाग्य है। चलते रहिये। रास्ता है, **शिव** चल रहा है। देखिए

आनन्द की धारा कितनी उच्छलित हो जाती है। चलते रहिए कि लोगों को दिखे, कृपा-करुणा की वर्षा कीजिए कि अभी इन लोगों को ज्ञान नहीं है, इन्हें ज्ञान होना चाहिए। हमारे इन शिवरूपों को जो अणु में हैं, इनको प्रसाद मिलना चाहिए। इन पर कृपा की वर्षा कीजिए।

बाह्य को मेय भाव में देखेंगे। देखेंगे कि इस मेय का प्रमाण क्या है, इसका प्रमाता कौन है और प्रमाता-प्रमेय भाव में बाहर को देख लेंगे। इसके बाद बाहर की समस्त चीजों को मयूराण्डरसन्याय से उसी में समाविष्ट देख लेंगे तो बाह्य जगत् भी हमारे अन्दर समाविष्ट हो जाएगा।

मैं जब अपने उद्यान में बैठता हूँ तो ऐसा लगता है कि सारी सुगन्धि, सारा सौन्दर्य मुझमें समा रहा है। प्रकृति मुझे स्नान करा रही है। यह बाह्यभाव का समावेश है। बाह्यभाव को आप अन्तर्भाव में लसित कर दीजिये।

पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती (टिप्पणी)

आपने अपने अनुभव से शास्त्रीय परम्परा को हमारे सम्मुख उपस्थित किया। यह सर्वथा प्रशंसनीय है। किन्तु ऐसे बहुत से विषयों का अवतरण भी किया जो मुख्यतः **तन्त्रालोक** पर आधारित नहीं हैं। **तन्त्रालोक** में जो षट्‌चक्र का विवरण है वह बिल्कुल भिन्न है। वह **पूर्णानन्द**-विरचित **षट्चक्रनिरूपण** से कोई मेल नहीं खाता है, मुझे ऐसा अनुभव है। मूलाधार शब्द यद्यपि है। अधिष्ठान, विशुद्ध अनाहत आदि का कोई विवरण पूरे **तन्त्रालोक** में या **जयरथ** के **विवरण** में प्रस्तुत नहीं किया गया है। शायद उस समय का वैदुष्य इस प्रकार का था नहीं कि वह षट्‌चक्र है। लेकिन वह षट्‌चक्र भिन्न है। **पूर्णानन्द** के **षट्चक्रनिरूपण** में जो छः चक्रों का विवरण है या **पूर्णानन्द** के पूर्ववर्ती अन्य ग्रन्थों में जो है उनमें भी **तन्त्रालोक** के अनुसार या ऐसा वर्णन नहीं है। इसलिए दोनों का मिलान कितना ग्रहण योग्य है यह विचारणीय है। इस प्रकार के एक सुन्दर गाने की प्रस्तुति जब हुई तो उसमें जो सौन्दर्य और चमत्कारिता है उसके रहते अन्य सुर में बात करना बहुत खराब लगता है। इस प्रकार का तर्क प्रस्तुत करना कितना उपयोगी है यह आप लोगों के समक्ष मैंने अपना निवेदन प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार का विवरण प्रस्तुत किया गया है उससे लगता है थोड़ा-बहुत जटिल हो गया है। सीधे मार्ग को छोड़ करके पेचीदा मार्ग को उपस्थित कर दिया है। वह पेचीदा मार्ग कितना अनुभवगम्य है, दूसरे के अनुभव तक पहुँचाने का जो प्रयास **जयरथ** ने अपने परम अनुभव से, वैदुष्य से और जिस प्रकार से प्रस्तुत किया

और आधुनिक विद्वानों के विचार में उससे हम दूर हट जाते हैं वह कितना सहनीय है, अनुकरणीय है इसका विद्वान् स्वयं निर्णय करें।

पं. परमहंस मिश्र (उत्तर)

आप लोग शब्दों के प्रपञ्च में न पड़ें। आदरणीय **पं. चक्रवर्ती जी** साधक हैं। ये साधक-परिवार के सदस्य हैं।

मैं स्वयं को विद्वान् नहीं मानता। मैंने **तन्त्रालोक** और उसके विषय पर जो कुछ लिखा और कहा वह माँ जगदम्बा का प्रसाद है। वर्ण का प्रसार है। पठन और फिर लेखन। लेखन में कुछ वैयक्तिकता भी आती है। लेखन अपने व्यक्तित्व को उसमें पिरो देता है। इसी को विमर्श कहते हैं।

जो विषय **तन्त्रालोक** में प्रस्तुत किया गया है वह विषय केवल उसी का नहीं है। **सोमानन्द** इत्यादि की परम्परा भी उसमें है। मेरे वक्तव्य की मूल भित्ति **तन्त्रालोक** है और इसके अतिरिक्त स्वाध्याय है। मैंने **सोमानन्द, उत्पल** की रचनाओं के अलावा **स्वच्छन्दतन्त्र** भी पढ़ा है। इसलिए यदि दूसरे ग्रन्थों के आधार पर भी बोलूँ तो इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये। मेरा अपने वक्तव्य के प्रति कोई दुराग्रह भी नहीं है। मैंने जो कुछ कहा यदि श्रोताओं को अच्छा लगे और वे अपने अन्दर प्रवेश की प्रेरणा ले सकें तो यही मेरे वक्तव्य की सार्थकता है।

सभी विचारक हैं **सोमानन्द, उत्पलदेव** और यहाँ तक कि **आचार्य रजनीश** भी। **ओशो** ने तो तन्त्रशास्त्रीय ग्रन्थों पर सैकड़ों प्रवचन किये हैं। मैं स्वयं अपनी बात स्वीकार करता हूँ। पहली बार **विज्ञानभैरव** पढ़ने पर समझ में नहीं आया। किन्तु जब इस पर **रजनीश** के **तन्त्रसूत्र** नामक आठ खण्ड गोरेगाँव में जाकर प्राप्त किये, देखे-पढ़े। मुझे तब अनुभव हुआ कि **विज्ञानभैरव** पर जितनी भी प्राचीन टीकाएँ हैं, सारी गलत हैं। **विज्ञानभैरव** पर अनुभववाली कोई टीका नहीं है। सारी टीकाएँ वैचारिक स्तर की हैं।

तन्त्र कहता है कि आप बदलिये। आप सत् में आइये। आप स्वयं को **शिव** समझिये। बस, यही मेरा तात्पर्य है।

प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी (टिप्पणी)

काश्मीर शैव दर्शन पर लिखा गया अन्तिम ग्रन्थ **आचार्य रामेश्वर झा जी** का है। इसमें समस्त त्रिकशास्त्र का सार है। मैं उनके ग्रन्थ से प्रसङ्गानुसार कुछ

श्लोक प्रस्तुत कर रहा हूँ। इसके बाद इस विवाद के बारे में सब शङ्काएँ मिट जाएँगी। **आचार्य पं. मिश्र** और **पं. चक्रवर्ती जी** ने जो बातें कहीं वे सब अपनी जगह पर ठीक हैं।

समावेशोऽपि त्रिविधः शैवः शाक्तस्तथाणवः।
इच्छाज्ञानक्रियायोगादुत्तरोत्तर सम्भृतः।।७४।।

उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः ।
आणवोऽपि समावेशः फलभेदविवर्जितः।।७७।।

प्राणव्यापार उच्चार उच्यते जीवनात्मकः।
देहाद्यचेतनस्यापि चैतन्यप्रतिभासकः।।७८।।

चिद्रूपस्य स्थितिर्येयं सामान्यस्पन्दनात्मिका।
प्राणना सैव विज्ञेयाऽविकल्पामर्शरूपिणी।।७९।।

स्वातन्त्र्यारोपसारत्वात् पुनः प्राणादिरूपताम्।
भासयन्ती विशेषेण भजते पञ्चरूपताम्।।८०।।

इत्थं द्विविध उच्चारः स्थूलसूक्ष्मविभेदतः।
सामान्यसंज्ञकः सूक्ष्मो विशेषः स्थूलसंज्ञकः।।८१।।

अपि द्विधा चिदुच्चारः प्रधानेतरभेदतः।
चितोऽस्ति मुख्यतया क्वापि विमर्शस्यैव कुत्रचित्।।८२।।

ग्राह्य-ग्राहक-चिद्-व्याप्ति-त्यागाक्षेप-निवेशनैः।
प्रकारैः सप्तभिर्भिन्नमभ्यासं बोधपूर्वकम्।।९२।।

बोधमेव परं प्राहुः करणं तद्विदो जनाः।
ज्ञातव्यं तच्च गुरुतोऽन्योऽर्थोऽस्याप्यधुनोच्यते।।९४।।

मनोजा गुरुवक्त्रस्था वाग्भवा मन्त्रसम्भवा।
देहोद्भवाङ्गविक्षेपैर्मुद्रेयं त्रिविधा स्मृता।।१००।।

यदेतत्सर्वतत्त्वान्तरभूतं तत्त्वं परं स्वराट्।
तस्यैव भावनं ध्यानं बुद्धिव्यापार एव तत्।।१०१।।

सृष्टिसंहारबीजात्मा सूक्ष्मप्राणे सदा स्फुरन्।
अव्यक्तानुकृतिप्रायो ध्वनिर्वर्णपदाभिधः।।१०२।।

त्रिकोणकन्दहृत्कण्ठभ्रूमध्यद्वादशान्तकम् ।
स्थानशब्दसमाख्येयं यदभ्यासाच्छिवात्मता।।१०३।।

देहे स्थानमिदं प्रोक्तं तथा प्राणे बहिस्तथा।
अतः स्थानं त्रिधैवास्ति शिष्टभेदोऽपि चेदृशः।।१०४।।

अन्तर्बाह्यविभेदेन प्राणोऽयं द्विविधस्तथा।
प्राणादिप्रतिभेदेन पञ्चधास्ति स्थितस्तनौ।।१०५।।

एकादशविधं बाह्यं मण्डलस्थण्डिलादिकम्।
प्रतिमामूर्तिप्रस्तादितूरलिङ्गाक्षसूत्रकम् ।।१०६।।

पुस्तकञ्च पटः पात्रं स्थितं स्थानं विभेदतः।
इत्याणवस्य संक्षेपाद् भेदः स्पष्टं प्रदर्शितः।।

पूर्णताप्रत्यभिज्ञा।। १०७।।

संक्षेप में भाव यह है कि पूर्व-पूर्व उपाय उत्तरोत्तर को प्राणवत्ता प्रदान करता है। अर्थात् आणव समावेश में शाक्त और शाम्भव समावेश का सूक्ष्म रूप भी है।

मुद्रा से तात्पर्य है- **मुदं राति अर्पयति इति मुद्रा**। तन्त्र में मुद्रा का बड़ा भारी महत्त्व है। वह करण है और जैसा स्वरूप भीतर रहेगा वैसा ही देह बन जायेगा अथवा आन्तर बाह्य रूप में प्रतिबिम्बित होगा। इसलिए मुद्रा के दोनों तरह से अर्थ किये गये हैं- **मुदं राति अर्पयति या देहे स्वरूपलाभजं तस्मात् तत् प्रतिबिम्बं वा बिम्बं मुद्रोच्यते बुधैः**। इस प्रकार मुद्रा को उपाय और उपेय दोनों रूपों में परिभाषित किया गया है।

शास्त्र की व्याख्या के दो विधान हैं व्यास और समास। तन्त्रालोक में इन दोनों विधियों का उपयोग किया गया है।

पं. परमहंस मिश्र (उत्तर)

आचार्य **श्रीलक्ष्मणजू** से दीक्षा लेने वालों में **ठाकुर जयदेव सिंह** और **पं. रामेश्वर झा** के अतिरिक्त मैं भी हूँ। ये मेरे गुरु भाई हैं। **ठाकुर जयदेव सिंह जी** ने दीक्षा के बाद ही **प्रत्यभिज्ञाहृदयम्** पर अपनी पुस्तक लिखी। मैंने **तन्त्रसार** पर लिखा जिसको दिखलाने पर महान् साधक और विद्वान् झा जी ने कहा था कि तुम तो माध्यम हो। तुमसे कोई शक्ति लिखवा रही है।

इन तन्त्र गोष्ठियों का मुख्य उद्देश्य यह है कि हम तन्त्र की ओर प्रवृत्त हों। इसलिये मैं निवेदन करता हूँ कि तन्त्र का रस और निष्कर्ष ग्रहण करें। यहाँ तन्त्र की एक भूमिका बन रही है। **तन्त्रालोक** उसमें सहायक है।

डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास (टिप्पणी)

इन तन्त्रगोष्ठियों का उद्देश्य यह भी है कि तन्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों से जुड़े साधक और आचार्य एक मंच पर एकत्रित होकर सद्भावपूर्वक आपस में संवाद स्थापित करें। इन गोष्ठियों में सक्रियरूप से भाग लेने वाले वक्ताओं ने ही निर्णय किया था कि आगे इन गोष्ठियों में विचार का प्रधान आधार **तन्त्रालोक** होगा। फिर भी मैं संयोजक के नाते मानता हूँ कि वक्ता उस ग्रन्थ में प्रतिपादित विषयों की व्याख्या और अभिव्यक्ति के लिए, अपनी शैली के लिए पूर्ण स्वतन्त्र है। इसलिए स्पष्ट है कि यह तन्त्रयात्रा न केवल रहस्यमयी है अपितु कठिन और अनेक चुनौतियों-समस्याओं से परिपूर्ण भी है।

श्रोताओं की उल्लेखनीय उपस्थिति इस बात का प्रमाण है कि इन दुर्लभ विषयों को सुनने के लिए बहुत जिज्ञासा है, श्रद्धा है। इस यात्रा में आने वाली कठिनाइयों का कारण यह है कि हम आणव समावेश की भूमिका में हैं, पशुभूमि पर खड़े हैं। जैसा कि **प्रो. त्रिपाठी जी** ने कहा जैसे-जैसे उपायों के क्रम में उत्तरोत्तर आगे बढ़ेंगे, संकोच छूटते जाएँगे और चेतना का विस्तार होता जाएगा।

प्रो. रमेशचन्द्र शर्मा (धन्यवाद)

तीन घंटे की इस गोष्ठी में काल का अतिक्रमण तो हुआ ही है।... **आचार्य परमहंस जी** के व्याख्यान विचार-स्तर के न होकर अनुभव-स्तर के हैं। यह पथ भी हमारे लिए सौभाग्यकारक है। तन्त्र, साधना, अनुभूति और मनन का विषय है। मनन से मेरा तात्पर्य ऐसे चिन्तन से है जिसमें मन न रहे। मन के अभिमान से हटकर मनन हो।

तन्त्र-साधना सरल नहीं है। उसमें कीलकों का आना स्वाभाविक है। इसमें तत्काल फल या लाभ की आशा व्यर्थ है।

❖ ❖

सर्वे वर्णात्मका मन्त्रास्ते शक्त्यात्मकाः प्रिये।
शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका।।

तन्त्रसद्भाव.

आह्निक - १५

तन्त्रालोक में प्रतिपादित शाक्तोपाय

डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास (संयोजक द्वारा पूर्वपीठिका)

शैव तन्त्र में उत्तरोत्तर क्रम से आणवोपाय के बाद शाक्तोपाय का वर्णन मिलता है। **आचार्य अभिनवगुप्त** ने शाक्तोपाय का **तन्त्रालोक** के चतुर्थ आह्निक में विस्तार से प्रतिपादन किया है और इसे उपायमण्डल कहा है। शाक्तयोग, ज्ञानोपाय, भावनोपाय, भेदाभेदोपाय आदि इसी के नामान्तर हैं।

इस उपाय के अन्तर्गत अशुद्ध विकल्पों के संस्कार को शुद्ध विकल्पात्मक ज्ञान के अभ्यास से नष्ट किया जाता है। शरीर आदि को अपना मानना और शुद्ध संवित् को न मानना अशुद्ध विकल्प है। मैं शुद्ध संवित् और पूर्ण परमेश्वर हूँ तथा यह विश्व मेरी ही अभिव्यक्ति है- इस प्रकार की भावना शुद्ध ज्ञान है। दूसरे शब्दों में, यह उपाय वास्तविक सत्य को बुद्धि-भूमिका में विकल्पात्मक ज्ञान-परम्परा के द्वारा लगातार जानते रहने का अभ्यास है। अतः इसे ज्ञानोपाय भी कहते हैं।

उपर्युक्त शुद्ध ज्ञान के अभ्यास के मुख्य प्रकार हैं- याग, होम, जप, व्रत और योग तथा अन्य प्रकार हैं स्नान, पूजन और ध्यान। **तन्त्रालोक** और अन्य शैव ग्रन्थों में इन सबकी स्पष्ट परिभाषा दी गई है।

अपने आपके विषय में परिपूर्ण शिवभाव की कल्पना से लगातार किये जाने वाले इस अभ्यास को भावनायोग भी कहते हैं।

शिवानन्दनाथ नाम के एक सिद्ध महापुरुष ने शाक्तोपाय की एक सरल और सुकर प्रक्रिया का आविष्कार करके उसका प्रचार किया। तदनुसार उन्होंने इस सुविशाल ब्रह्माण्ड को भावना के द्वारा अपने चित्स्वरूप में विलीन करने की प्रक्रिया को खोजा और योग्य अधिकारियों को भी सिखा दिया।

इस प्रक्रिया के अनुसार समस्त विश्व को पहले तीन वर्गों क्रमशः प्रमातृ-वर्ग, प्रमाणवर्ग और प्रमेयवर्ग में भावना के द्वारा विभक्त करना होता है। पुनः

उन तीन की भावना उनकी चार-चार अवस्थाओं- क्रमशः सृष्टि, स्थिति संहार और अनुत्तर परमतत्त्व में सदैव ठहरे रहने की स्थिति के आधार पर की जाती है। तब एक-एक वर्ग को बारी-बारी से लेकर उसी को भावना के द्वारा अपने चित्स्वरूप में विलीन करने का अभ्यास करना होता है। इस तरह से विश्व के इन बारह वर्गों पर शाक्ती साधना का अभ्यास एक साथ न करते हुए क्रम से ही करना होता है। इसीलिए इसे 'क्रमनय', 'क्रमयोग', 'क्रमप्रक्रिया' आदि नाम दिए गए हैं।

विश्व के उन बारह वर्गों को आत्मसात् करने के लिए अपनी उसी चिन्मयी शक्ति को जगाना होता है जो समस्त् जगत् का आभास कराती है। आभास कराने वाली उस शक्ति को **काली** कहते हैं।

शाक्तोपाय की इस क्रमनय प्रक्रिया के अभ्यास में साधक पहले तो अपनी स्वभावभूता पराशक्ति को उसके उन बारह स्वरूपों को क्रम से लेकर के जमा देता है। तीव्र और सतत भावना के ही अभ्यास से यह कार्य सिद्ध हो जाता है।

तदनन्तर काली के उन बारह स्वरूपों में से एक-एक के द्वारा एक-एक करके जगत् के उपर्युक्त बारह वर्गों को अपने चिन्मय स्वरूप में क्रम से समा लेने के अभ्यास से यह तथ्य उसके साक्षात् अनुभव में आ जाता है कि जगत् का अमुक वर्ग मुझसे आभासित होता है। इसी दृष्टि से इन बारह कालियों की स्तुति में उनके द्वारा विश्व को निगल जाने की क्रिया का बहुधा वर्णन किया जाता है। इस तरह से यह **काली** उपासना त्रिकाचार के शाक्तोपाय की एक मुख्य साधना है।

तन्त्रालोक के चतुर्थ आह्निक में शाक्तोपाय के अन्तर्गत द्वादश **काली**, गुरु-स्वरूप और प्रकार, सृष्टिबीज, संहारबीज, विधि-निषेध, प्रतिभज्ञान, दीक्षा आदि का भी प्रतिपादन किया गया है।

आणवोपाय में चित्त से भिन्न विषयों पर चित्त स्थिर करके भावना के द्वारा उनको आत्मपरमेश्वररूप में देखा जाता है जबकि शाक्तोपाय में चित्त को ही आलम्बन बनाया जाता है।

शैव ज्ञानयोग का वेदान्त और बौद्ध के ज्ञानयोग से भेद है क्योंकि यह उपाय अपेक्षाकृत सरल, सुगम, सुबोध और सरस है।

कतिपय आवश्यक उद्धरण

उपायत्रय

अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवं शाक्तमुच्यते।
भेदाभेदात्मकोपायं भेदोपायं तदाणवम्।।

तन्त्रालोक, १.२३०

शाक्तोपाय

उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन्।
यं समावेशमभ्येति शाक्तः सोऽमत्राभिधीयते।।

मालिनीविजयतन्त्र, २.२२

कौलिकज्ञानोपाय

मातृमण्डलसंबोधात् संस्कारात्तपसः प्रिये।
ध्यानाद्योगाज्जपाज्ज्ञानान्मन्त्राराधनतो व्रतात्।
संप्राप्य कुलसामान्यं ज्ञानं कौलिकसिद्धिदम्।।

तन्त्रालोक, ४.५७.५८ (ब्रह्मयामल)

शुद्धविद्या के प्रकार

शुद्धविद्यापरामर्शो यः स एव त्वनेकधा।
स्नानशुद्धार्चनाहोमध्यानजप्यादियोगतः।।

वही, ४.११४

तर्पण

विश्वमेतत्स्वसंवित्तिरसनिर्भरितं रसात्।
आविश्य शुद्धो निखिलं तर्पयेदध्वमण्डलम्।।

वही, ४.११५.

स्नान

उल्लासिबोधहुतभुग्दग्धविश्वेन्धनोदिते।
सितभस्मनि देहस्य मज्जनं स्नानमुच्यते।।

वही, ४.११६-१७.

पूजोपकरण

यत्किंचिन्मानसाह्लादि यत्र क्वापीन्द्रियास्थितौ।
योज्यते ब्रह्मसद्धाम्नि पूजोपकरणं हि तत्।।

वही, ४.१२०.

पूजा

पूजा नाम विभिन्नस्य भावौघस्यापि संगतिः।
स्वतन्त्रविमलानन्तभैरवीयचिदात्मना ।।

तन्त्रालोक, ४.१२१.

स च एवंरूपः समस्तेभ्यः परिच्छन्नस्वभावेभ्यः शिवान्तेभ्यस्तत्त्वेभ्यो यदुत्तीर्णम् अविच्छिन्न-संविन्मात्ररूपं तदेव च परमार्थः...। तदेव चाहम्। अतो विश्वोत्तीर्णौ विश्वात्मा चाहम् इति।।

तन्त्रसार, आह्निक ४.

पं. परमहंस मिश्र (प्रधानवक्ता)

शाक्तोपाय, एक महत्त्वपूर्ण तान्त्रिक प्रक्रिया है। शाक्तोपाय का एक स्तर है जो आणवोपाय विज्ञान को आत्मसात् करने के बाद प्रयोग में लाया जा सकता है। केवल वाणी के द्वारा इसका प्रयोग करना, व्यक्त कर देना अत्यन्त दुष्कर है। तन्त्र का नियम है कि **नात्यन्तं रहस्यम् उद्घाटनीयम् क्वचित् क्वचित् उद्घाटनीयञ्च**।

शक्ति का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है- शारीरिक शक्ति, वैज्ञानिक शक्ति आदि। किन्तु शक्ति के स्वरूप के मर्म में जाने की प्रवृत्ति कम दिखाई देती है। इस विषय के लिए अन्तरमुखता आवश्यक है। बाह्य दृष्टि से विचार करने वाले समाज में यह संभव नहीं है। विषय की गहराई में जाने का तान्त्रिक प्रक्रिया का जो विधान है वह अन्य शास्त्रों में कम दिखाई देता है।

शाक्त स्थिति कैसे आ सकती है, विशेषरूप से आणवभाव में रहने वालों के लिए, यह विचारणीय है। अणुता, **शिव** के द्वारा स्वीकृत है। **शिव एव गृहीतपशुभावः (परमार्थसार)**। शक्ति और शक्तिमान् दो हैं। शक्ति को शक्तिमान् से अलग करके कैसे देखा जाए, यह गूढ़ विषय है। अग्नि से दाहक और पाचक शक्ति को हटाकर अग्नि को कैसे देखें? दाहकता क्या है? दाहकता और पाचकता में अग्नि का क्या स्वरूप है- इस पर विचार आवश्यक है। इसके बिना अग्नि और उसकी शक्तियों के सम्बन्ध में विचार नहीं कर सकते। संसार में हमारे पास शक्ति के सन्दर्भ में क्या है? हमारी शक्ति की क्या अवस्थाएँ हैं? हम विभिन्न शक्तियों से समन्वित होकर कार्य करते हैं। तन्त्रशास्त्र में बतलाया गया है कि हम सब विश्व के जन्तुओं और मनुष्यों की स्थिति चार अवस्थाओं में व्यतीत होती है- शासन, रोधन, पालन और पाचन। इन अवस्थाओं से होकर मनुष्य गुजरता है (ऐसा **पं. गोपीनाथ कविराज** कहते थे)।

शासन- शासन अनुशिष्ट धातु की नदी बहती है। उसका वहाँ कोई अनुशास्ता नहीं है। किन्तु श्वास हम लेते हैं उसका अनुशासन है। जीवन शासन से चलता है। श्वास कहाँ से आता है, कहाँ जाता है, किस सन्दर्भ में अपने समस्त परिवेशों को लेकर चलता है और शरीर की रक्षा कैसे करता है, इसका सारा नियन्त्रण शासन से होता है। यह शासन यत्नज नहीं, अयत्नज है। यह एक ऐसा व्यापार है जो हमारे वश की बात नहीं है। एक अपरिमित शक्ति के द्वारा संचालित शासन में हम अवरुद्ध हैं।

रोधन- रोधन अर्थात् निरोध की प्रक्रिया। जैसे नदी का रोधन बांध। सभी यौगिक प्रक्रियाएँ रोधन की प्रक्रियाएँ हैं। इससे हम शक्ति का संवर्धन करते हैं। अणुशक्ति को आणवभाव से आगे बढ़ाने की चेष्टा करते हैं। यह हमारे लिए एक उत्तम मार्ग है। इसमें प्राणायाम, हठयोग आदि की वृत्तियों के द्वारा कई प्रकार के शासन चलते हैं, रोधन चलते हैं। गुरु के अनुशासन के द्वारा पालन आदि सभी हमारे जीवन में सारगर्भित रूप से निहित हैं।

पालन- यह **विष्णु** का व्यापार है। **विष्णु** एक व्यापक शक्ति है। वह जीवन को रक्षित करती है। उसका पालन करती है। एक ही पदार्थ किसी को प्रिय, किसी को अप्रिय लगता है फिर उसके उपभोग का परिणाम क्या होता है? यह समस्त प्रक्रिया पालन के अन्तर्गत है।

पाचन- विश्व की समस्त वृत्तियों को जो अनुकूल और प्रतिकूल हैं उन्हें देखकर आत्मसात् करते हुए, शत्रु-मित्र के व्यवहारों को सहते हुए, उद्वेग और अनुद्वेग की अवस्थाओं में चलते हुए, ये सभी वृत्तियाँ पाचन के अन्तर्गत हैं। यह सब आणवभाव की सामर्थ्य है। किन्तु इस आणवभाव में संकोच है, पाशबद्धता है।

शिव के पाँच गुण हैं- सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह। सर्वज्ञ, सर्वकर्तृत्वसम्पन्न, परिपूर्णता, कला से अकवलित, सर्वव्यापकता। विद्या से सर्वज्ञता, कला से सर्वकर्तृत्व। साधना स्वरूप का परिष्कार है। पूर्णता को राग से संकुचित किया जाता है। काल से अकाल सीमित होता है। नियति से सर्वव्याकता संकुचित होती है। इस संकुचित **शिव** का पूर्ण शरीर १०८ अंगुल का होता है।

शाक्तोपाय में व्यापकता को संकुचित करने वाली शक्तियों का निराकरण करना पड़ता है। समष्टिरूप में इस व्यष्टि सत्ता को समाप्त या विलीन करना पड़ता है। अन्यथा साधना व्यर्थ है। आणवभाव की रहस्यवादिता को पार करने के बाद ही शाक्तभाव में प्रवेश कर सकते हैं। आज का सामाजिक परिवेश और विशेषरूप

से नगरों का, ध्यान के अभ्यास के अनुकूल नहीं है। निरोधिका शक्ति साधक को उत्तर अवस्था में पहुँचने से रोकती है। निरोधिका को हटाने के लिए भी शक्ति आवश्यक है। **शिव** की पाँच शक्तियाँ हैं- चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया।

विसर्ग सृष्टि। **विसर्जनीयस्य सः**। सः सीत्कार है। स्व- स्+व (उन्मेष) स्वातन्त्र्य का इससे सम्बन्ध है। स्वातन्त्र्य अर्थात् अवभास की सामर्थ्य। अ से अन्य सभी वर्ण कैसे बनते हैं इसका विवेचन तन्त्रविद्या का बहुत बड़ा वरदान है। **विश्वरूपां वाणीं** (वैखरी) **पशवः वदन्ति**। आनन्द के चमत्कार को इच्छाशक्ति कहते हैं। स्वर व्यञ्जन को उत्पन्न करते हैं, व्यञ्जन अर्थात् विश्व। **शिव** की आमर्शता ज्ञान शक्ति है। शाक्तभाव के लिए **सोऽहम्** में जाना पड़ेगा। अवग्रह आमर्श है। वह अहम् का अकार है। **सर्वाकारयोगित्वम् क्रियाशक्तिः** अर्थात् सभी आकारों में बदल जाने की शक्ति। **उच्चाररहितं वस्तु...**। अर्थात् शाक्तोपाय में व्यक्ति को श्वासजित् होना होगा। चेतस-प्रकल्पन को जानना आवश्यक है। **चितिरेव चेतनपदादवरूढा...(प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, ५)**। सभी प्रमेय चैत्य हैं। **शिव** की भाँति शक्ति भी कीलित होती है। चिति संकोचिनी अवस्था चेतस् है। चेतस् अवस्था में प्रकल्पन शुरु होने पर यह साधना का विषय बनता है। चिति जो संकोच में पड़ी हुई है उसे इस संकोच से अलग हटावें, चित्त की स्थिति को चिति के रूप में पहुँचावें तब चेतस् के स्तर पर हम उसको समझ सकते हैं। इतनी भूमिका के बाद हम शाक्तोपाय के सन्दर्भ में बैठने के अधिकारी बनते हैं।

डॉ. नरसिंह पण्डा (शंका)

शिवसूत्र (२.६) में कहा गया है- **गुरुरुपायः**। **परमार्थसार** में कहा गया है- **शिव एव गृहीतपशुभावः**। अन्यत्र **अभिनवगुप्त** ने कहा है कि इन उपायों की क्या आवश्यकता है? **उपाय-जालं न शिवं प्रकाशयेत्। घटेन किं भाति सहस्त्रदीधितिः (तन्त्रसार, २.६)**। उपायों की आवश्यकता क्या है?

पं. परमहंस मिश्र (उत्तर)

प्रश्न उत्तम है। स्तरीयता का भी प्रश्न है। तन्त्र का निष्कर्ष है- मनुष्य एक आवेश में रहता है। यह आणव आवेश है। दीक्षाएँ कई प्रकार की हैं। त्रिक दर्शन में समावेश दीक्षा दी जाती है। समावेश को समझें, फिर इसे उपाय बनाएँ, फिर ज्ञानरूप में लें और ज्ञान के माध्यम से समावेश में जाएँ। आणव, शाक्त, शाम्भव तीन समावेश हैं। चौथा अनुपाय- समावेश नहीं, विज्ञान है। इन समावेशों के माध्यम से विज्ञान की प्राप्ति करते हैं। समावेशों को उपाय बना देते हैं। समावेश

स्वस्थिति है। आपकी स्थिति समावेश की दशा है। तीनों समावेशों से व्यक्ति शिवभाव को पा सकता है, केवल एक को ही उपाय नहीं माना गया।

आणव उपाय के भी पाँच भेद बताए गए थे। उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण, स्थानप्रकल्पन। इन पाँचों से आणव समावेश को तोड़कर **शिव** में पहुँचा जा सकता है। शाक्त समावेश में चेतस् स्थिति में पहुँचेंगे तो सब सरल हो जाता है, शाम्भव समावेश में तो और सरल है। उसमें कहते हैं कि **अकिञ्चित् चिन्तकस्यास्य (तन्त्रालोक,** १.७१)। वहाँ तो चिन्तन रहता ही नहीं। अब समझिए कि चिन्तन नहीं रहना कौन-सी दीक्षा होगी? दिमाग में विमर्श सदैव होता है। विमर्श स्वभाव है। इसको पार करने पर चिन्तन-शून्यता आती है।

ऐसी स्थिति के लिए **अभिनवगुप्त** कहते हैं- **उपायजालं न शिवं प्रकाशयेत्**। यह साधारण बात नहीं है। गुरु से शास्त्र पढ़ा, शास्त्र से सत्तर्क आया। सत्तर्क से चार चीजें आती हैं- सत्तर्क, सदागम, सदगुरुत्व और उसकी पहिचान। तब उपायजाल व्यर्थ लगता है। **कालेन अकलितः, देशेन अपरिच्छिन्नः**, अनुपाय में तीनों पूर्व समावेशों को पार किया जा चुका है। आप उपाय में हैं, इसलिए आप नहीं कह सकते कि उपाय के बिना काम हो सकता है। बिना उपाय के पानी नहीं पी सकते, बोल नहीं सकते।

प्रो. रमेशचन्द्र शर्मा (टिप्पणी)

अरविन्द ने कहा है- The Man is controlled by the lower vision but he should always make efforts to go up and control. A stage will come when he will feel that his actions are not only controlled but initiated by the higher vision. He will feel the super bliss and Joy.

डॉ. कमलेश झा (टिप्पणी)

शिव उपायों से प्रकाशन का विषय नहीं है। **शिव** को कर्म बनाना और स्वयं को कर्ता बनाना उचित नहीं है। वस्तुतः **शिव** ही कर्ता है, वही कर्म है, वही उपायजाल है। वही वक्ता, श्रोता, प्रश्न-उत्तर सभी है। सब **शिव** हैं।

पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी (अध्यक्षीय)

ये गोष्ठियाँ **तन्त्रालोक** पर आधारित हैं। इसलिए विषय की चर्चा इसी ग्रन्थ तक सीमित रहना उचित है।

उपायजाल के द्वारा **शिव** के प्रकाशन को अनुदरा कन्या के सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए। यहाँ बिना उदर की कन्या, यह तात्पर्य न होकर कृश उदर है। मीमांसाशास्त्र में अर्थवाद को भी इसी भाव से लिया जाता है। जो उक्तियाँ अन्य वाक्यों से सङ्गति नहीं रखती हैं अथवा उनके अर्थ से टकराती हैं, उनके प्रसङ्ग में यह समाधान किया गया है कि समर्थक युक्तियाँ प्रवृत्ति की प्रेरणा देती हैं और निषेधपरक उक्तियाँ प्रवृत्ति से रोकती हैं। उपनिषद् भी कहते हैं **न मेधया न बहुना श्रुतेन...**। वस्तुतः क्रिया ही विविध उपाय हैं। बिना उपाय के तो योग्यता नहीं आती। इसलिये ये उपाय व्यक्ति की भिन्न-भिन्न मानसिक स्थिति और मन की गति के अनुसार हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि व्यक्ति को यह अभिमान नहीं होना चाहिये कि मैं उपायों से उसे प्राप्त कर सकता हूँ क्योंकि इस प्रसङ्ग में ईश्वर की इच्छा ही मुख्य है।

शाक्तोपाय का मुख्य विषय है- विकल्प का शोधन। विकल्प के शोधन में **धर्मकीर्ति** का स्मरण आवश्यक है। **धर्मकीर्ति** ने विकल्प का लक्षण दिया है। विकल्प व्यापार से रहित प्रत्यक्ष है- कल्पना और भ्रान्ति से रहित को प्रत्यक्ष कहा है- **कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्** (**प्रमाणवार्तिक**)। प्रत्यक्ष सही कैसे है, इसका निर्धारण वहाँ नहीं हुआ है। शाक्तोपाय की प्रक्रिया से यह देखा जा सकता है कि कैसे विकल्प का शोधन हो।

अभिनवगुप्त ने **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** में कहा है कि- प्रत्यभिज्ञादर्शन में तीन तत्त्व हैं। अविद्या को शक्ति का रूप दिया गया है। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का यह एक वैशिष्ट्य है। आगमशास्त्र द्वैतवादी या द्वैताद्वैतवादी है। जो २८ सिद्धान्तशास्त्र हैं उनको **जयरथ** द्वैतवादी अथवा द्वैताद्वैतवादी मानते हैं, अद्वैतवादी नहीं मानते हैं। किन्तु **अभिनवगुप्त** कहते हैं कि हमने उसकी अद्वैतपरक व्याख्या की है। तीसरा तत्त्व- बौद्धों के क्षणिक विज्ञान को नित्य आत्मेश्वरवाद में बदला है अथवा इस रूप में स्थापित किया है। बौद्ध दृष्टि विकल्प के प्रसङ्ग में पूरी तरह से वहाँ जाग्रत् है। विज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं है, वे ऐसा कहते हैं। शैव दर्शन या शाक्तोपाय में **शिव** ही अपनी शक्तियों का संकोच करके अणु आत्मा बन जाता है। इससे उसकी अणुता संकुचित हो जाती है और वह त्रिविध मलों से आवृत हो जाता है। बौद्ध में ऐसे प्रसङ्ग में मणि का उदाहरण दिया जाता है। वह ज़मीन से निकलने पर मलिन रहती है। कुछ प्रक्रिया से वह उज्ज्वल हो जाती है। किन्तु यह उज्ज्वलता कहीं बाहर से नहीं आती। इसी प्रकार मनुष्य आणवावस्था में मलिन

हो जाता है। इस मलिनता को शाक्तोपाय से हटाना चाहिए। यह प्रक्रिया कैसी है, इसका वर्णन **तन्त्रालोक** के चतुर्थ आह्निक में विस्तार से किया गया है।

तन्त्र की मान्यता जब आ गई तो इनको सबने स्वीकार कर लिया। अष्टाङ्ग-योग की जगह षडङ्गयोग आ गया। इस षडङ्गयोग में **पातञ्जलयोग** से भिन्नता नहीं है। किन्तु वहाँ पर यम, नियम और आसन इन तीनों को हटा दिया, शेष ५ में एक तर्क को यह कहकर जोड़ दिया गया- **तर्को योगाङ्गमुत्तमम्।** तर्क के स्थान पर वैष्णवों, बौद्धों और जैनों ने दूसरा नाम दिया है। जितनी भी तन्त्र की शाखाएँ हैं, उन सभी में षडङ्गयोग है।

महामहोपाध्याय **काणे** ने **धर्मशास्त्र का इतिहास** में तन्त्र पर भी एक खण्ड लिखा है। वहाँ उनसे एक गलती हो गई। बौद्धों के वज्रयान में यम, नियम का कोई स्थान नहीं है। इसलिए इन्होंने उन दोनों को निकाल दिया, किन्तु ऐसी बात नहीं है। **गीताभाष्य** में, उपनिषदों में भी षडङ्गयोग है। यम, नियम, का पालन करने के बाद ही आगे अधिकारी होता है या जैसा कहा गया है- **देवो भूत्वा देवं यजेत्। रुद्रो भूत्वा रुद्रं यजेत्।** देवता कैसे होगा, इसका उत्तर **शतपथ ब्राह्मण** में भी है- **अनृतं वै मनुष्याः ऋतं देवाः**। असत्य से सत्य में आना, यम-नियम की सहायता से ही होगा। आसन वहाँ पूजा का अङ्ग हो गया। वहाँ हटा नहीं है किन्तु जैसा बताया गया है, ये सभी अङ्ग तत्त्व के प्रकाशन में समर्थ नहीं हैं। वह संवित् ही प्राणों में परिणत होती है। प्राण में जब संवित् परिणत होती है तब आणवभाव का आलम्बन करती है। **प्रभाकर** मीमांसक भी मानते हैं कि संवित् ही जगत् के रूप में दिखाई देती है। यह विज्ञानवाद का ही एक रूप है। तन्त्रशास्त्र में बताया गया है कि संवित् ही तत्त्व के रूप में परिणत होती है। वह विकल्पात्मक है। उसे शुद्ध स्वरूप में फिर संवित् तत्त्व में ले आवें तो उस शुद्ध तत्त्व से हमें प्रत्येक वस्तु शिवमय दिखाई देने लगेगी (देती है)। अशुद्ध विकल्प हटकर शुद्ध संवित् के रूप में भासित होगा।

प्रसङ्ग से हटकर मैं एक अन्य विषय की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। इसके लिए कुछ लोग मुझे अपराधी भी कहेंगे।

किसी ने कहा कि **मोहम्मद साहब** का और **आचार्य शङ्कर** का आविर्भाव लगभग एक ही समय में हुआ। मेरे मत में **आचार्य शङ्कर** का काल जो आठवीं-नवीं शताब्दी माना जाता है और जिसे सरकार ने भी मान लिया है वह अप्रामाणिक

है। ऐसे तो धर्म-निरपेक्षता को भी मान लिया गया है। किन्तु भारतीय संस्था धर्म से निरपेक्ष नहीं अपितु धर्म से अनुप्राणित है। इसमें धर्म चार पुरुषार्थों में से एक है। वही अर्थ और काम पर नियन्त्रण भी करता है। अस्तु, मेरा तात्पर्य यह है कि **अभिनवगुप्त** और **शङ्कर** के बाद जो इस्लाम है वह पूरे विश्व में फैल गया और जो हमारा ज्ञान है वह हमारे भीतर भी सुरक्षित नहीं रहा। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में इस शास्त्र के उत्कृष्ट ज्ञाता हुए और उनके रहते-रहते यह सब कुछ हो गया। इसलिए मेरी प्रार्थना है कि हम अपने ज्ञान पर केवल गर्व ही न करें बल्कि यह भी सोचें कि उसके रहते हुए भी हमारी यह स्थिति क्यों हो गई? कहीं ऐसा न हो कि हम भीतर ही भीतर देखते रहें और हमारा ज्ञान-समुद्र जो चारों ओर फैला है, नष्ट हो जाए।

हमें सामयिक प्रश्नों पर भी ध्यान देना चाहिए। आज का बुद्धिजीवी अर्थ को अधिक महत्त्व देता है। किन्तु प्राचीन भारत का विद्या-वैभव, अर्थ और काम से मुक्त होकर चलता था। इसलिए वह जब अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होगा तभी हमें विश्व में उचित स्थान और सम्मान प्राप्त होगा। बिल्ली के आने पर कबूतर जैसे आँख बन्द कर लेते हैं वैसे हम अपने ज्ञान के प्रति भयाक्रान्त होकर आँख बन्द न कर लें। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं झूठे अभिमान की बात कर रहा हूँ।

हमें पूरी सत्य-निष्ठा के साथ वेदों से लेकर सन्तों के वचन और साहित्य तक का अध्ययन करना चाहिए और उसके आधार पर भारतीय संस्कृति के वास्तविक स्वरूप को दुनिया के सामने रखना चाहिए। इसके बिना धर्म-निरपेक्षता, धर्मान्तरण जैसी बातें चलती रहेंगी। **नैषधकार** के इस वचन का स्मरण यहाँ आवश्यक है- **अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः...**। इनके बिना हम इस दुनिया में रहने लायक नहीं रहेगें।

विद्वान् वक्ता ने तान्त्रिक साहित्य के आधार पर जो कुछ कहा उस पर आवाह और उद्वाह (मीमांसा के शब्द) की नीति से यह सोचा जाना चाहिए कि किसकी निरन्तरता बनी रहनी चाहिए। आचार्य **नरेन्द्र देव** समाजवादी थे। किन्तु उन्होंने बताया कि इस भारतीय संस्कृति में अनेक ऐसे तत्त्व हैं जो त्रिकालाबाधित हैं। ऐसे तत्त्वों को हम न छोड़ें। आजकल प्राचीन विचारों से सम्बद्ध व्यक्ति को 'बुरजुआ' कहने की प्रवृत्ति है। आचार्य जी का ज्ञान अब उन लोगों की (हमारी)

सहायता नहीं कर रहा क्योंकि हमें अपने ज्ञान पर विश्वास नहीं है। हमें परीक्षण की दृष्टि अपनाना चाहिए और **कालिदास** के इस वचन को नहीं भूलना चाहिए-

पुराणमित्येव न साधु सर्वं,
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते,
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।। मालविकाग्निमित्रम्, १.२

वक्ता ने जिस परम अनुभूति की बात कही है वह सबमें नहीं आ सकती। अनुभूति का एक क्षेत्र है। यह व्यक्तिगत गुण है। आज व्यक्तिगत गुण के साथ सामूहिक धर्म की आवश्यकता है।

पं. परमहंस मिश्र (उत्तर)

पं. ब्रजवल्लभ द्विवेदीजी के वक्तव्य से दृढ़ असहमति व्यक्त करता हूँ और इसे विषयान्तर मानता हूँ।

प्रो. रमेशचन्द्र शर्मा (धन्यवाद)

यह विचार-यज्ञ है। इसमें सभी अपने विचार व्यक्त करने के लिए स्वतन्त्र हैं। बौद्ध शून्यवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि निराशा की ओर ले जाते हैं किन्तु इनमें कुछ वास्तविकता भी है। हर एक व्यक्ति साधक और ज्ञानी नहीं हो सकता-

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।। गीता, ७.३

तन्त्रालोक को समझना और उसकी व्याख्या करना किसी एक के बस की बात नहीं है। उसकी रसानुभूति में अवगाहन करने की क्षमता सबमें नहीं है।

❖ ❖

न भवति श्रिये तेषां शिलायामुप्तबीजवत्।
देवीदीक्षाविहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गतिः।।

रुद्रयामलम्, III, १४

अदीक्षितोऽपि मरणे रौरवं नरकं व्रजेत्।
तस्मादीक्षा प्रयत्नेन सदा कार्या च तान्त्रिकात्।।

वही, १६

आह्निक - १६

तन्त्रालोक में प्रतिपादित क्रमदर्शन के अन्तर्गत शाक्तोपाय

डॉ. विनीता पाण्डेय (पूर्व पीठिका)

डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने शैव दर्शन की आठ प्रमुख शाखाओं का उल्लेख किया है- पाशुपत द्वैतवाद, सिद्धान्त शैवद्वैतवाद, लकुलीश पाशुपत द्वैताद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत शैवमत, विशेषाद्वैत अथवा वीरशैवमत, नन्दिकेश्वर शैवमत, रसेश्वर शैवमत और अद्वैतवादी काश्मीरी शैवमत।

अद्वैतवादी काश्मीर शैवदर्शन के अन्तर्गत ही तीन शाखाएँ मानी गई हैं- क्रम, कुल और प्रत्यभिज्ञा। इनमें क्रमशाखा सर्वाधिक प्राचीन है जिसका आरम्भ सातवीं शती का अन्त अथवा आठवीं शती का प्रारम्भ माना जा सकता है। कुलशाखा मध्यवर्ती और प्रत्यभिज्ञा शाखा अन्तिम है। इन तीनों ही शाखाओं के मतों में साम्य के साथ वैषम्य भी है। इनमें से प्रत्येक शाखा का अपना इतिहास है, गुरुपरम्परा है। ग्रन्थों की भिन्न-भिन्न सरणि है तथा परमतत्त्व के स्वरूप के विभिन्न विचार हैं। **अभिनवगुप्त** ने तीनों ही शाखाओं के मतों का उल्लेख किया है और **तन्त्रालोक** इसका सर्वोत्तम प्रमाण है। **डॉ. पाण्डेय** के अनुसार **अभिनवगुप्त** ने क्रमदर्शन की परम्परा को न केवल **लक्ष्मणगुप्त** से अपितु **भूतिराज** और सम्भवत: उनके पुत्र **हेलराज** से ग्रहण किया था। **तन्त्रालोक, तन्त्रसार, मालिनीविजयवार्तिक** और **महार्थमञ्जरी** में **भूतिराज** का उल्लेख प्राप्त होता है। **अभिनवगुप्त** अपने पिता **चुखुलक** से भी अधिक **भूतिराज** का सम्मान करते थे और उन्हें **शिव** का अवतार मानते थे।

डॉ. पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ में और **प्रो. नवजीवन रस्तोगी** ने क्रमदर्शन पर अपने स्वतन्त्र ग्रन्थ **The Krama Tantricism of Kashmir** में इसके प्रादुर्भाव और विकास, ग्रन्थ, सिद्धान्त और वैशिष्ट्य पर विस्तार से विचार किया है। इस सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थों में **तन्त्रालोक** के अतिरिक्त अन्य उल्लेखनीय हैं- **क्रमसद्भाव, क्रमसिद्धि, ब्रह्मयामल, क्रमसूत्र, क्रमोदय, पञ्चषटिका, सार्द्धषटिका,** क्रमस्तोत्र, **महानयप्रकाश, क्रमकेलि, क्रमसूत्र,**

देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र, क्रमवासना, ऋजुविमर्शिनी, महार्थमञ्जरी, महार्थोदय आदि।

द्वादशकालियों (सृष्टिकाली, रक्तकाली, स्थितिनाशकाली, यमकाली, संहारकाली, मृत्युकाली, रुद्रकाली अथवा भद्रकाली, मार्तण्डकाली, परमार्ककाली, कालानलरुद्रकाली, महाकालकाली, महाभैरवचण्डोग्रघोरकाली) तथा चक्र का इस दर्शन में विशेष महत्त्व है। शैव दर्शन में मान्य चार मोक्षोपायों में शाक्तोपाय का क्रमदर्शन से विशेष सम्बन्ध है। इस उपाय में सत्तर्क को योग का सर्वोत्तम भाग माना गया है। इस उपाय से विकल्पात्मक ज्ञान के संस्कारों का शोधन होता है और शुद्ध तथा निर्विकल्पक ज्ञान का अनुभव होता है जो स्वयं शिवरूप है।

पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती (प्रधान वक्ता)

तन्त्रशास्त्र के साथ एक तथ्य यह जुड़ा है कि उसे गोपनीय रखा जाता है। किन्तु यदि तन्त्र के सभी विषयों को गोपनीय रखा जायगा तो उनके लुप्त होने का खतरा है। वैसे भी हमारे बहुत से शास्त्र लुप्त हो चुके हैं। आयुर्वेद में नाड़ीशास्त्र पर एक छोटी-सी पुस्तक है, उसमें मण्डूकप्लुति और सर्पप्लुति का उल्लेख है। नाड़ी के स्पन्दन में किस प्रकार मण्डूकप्लुति होती है और किस प्रकार सर्पप्लुति होती है, इसका ज्ञान गुरु के द्वारा साक्षात् बताए जाने पर ही होता है। इसी प्रकार विशेषज्ञ नाड़ी देखकर किसी के बारे में बता सकते हैं कि उसने आज प्रातः क्या भोजन किया। किन्तु इस प्रकार के जो ज्ञान शास्त्रों में हैं वे तभी गुरु-परम्परा से शिष्यों तक और आगे की पीढ़ियों तक पहुँचाए जा सकते हैं जब वे शिष्य के भी अनुभव के विषय बनें। इस प्रकार का गूढ़ ज्ञान और उसकी परम्परा को बहुत कुछ भुलाया जा चुका है तथा कुछ ही संस्कृतज्ञ बचे हैं जो उस परम्परा को जानने, समझने और अनुभव करने का प्रयत्न करते हैं। उनका प्रयास कितना सफल होगा, कहना कठिन है। किन्तु आज क्रम-दर्शन पर मेरा व्याख्यान आप सुनकर समझ ही जायेंगे कि वक्ता का उसमें कितना प्रवेश है क्योंकि मैं सरल स्वभाव का पण्डित हूँ। यह विषय ऐसा है कि जिसमें मेरी तो बात ही क्या, मेरे गुरु **पण्डित गोपीनाथ कविराजजी** भी ऐसा अहंकार नहीं रखते थे कि इस विषय का ज्ञाता केवल मैं ही हूँ। मैं ऐसा अभिमान भी नहीं करता कि इस विषय में मैं आप सबको कोई अभिनव ज्ञान देने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य में साधना-सम्बन्धी साहित्य का अभाव दिखाई देता है। ऐसा संभवतया इसलिए भी है कि साधना परमगोपनीय है। यह

सभी के समक्ष चर्चा के योग्य विषय नहीं है। गुरु के उपदेशमात्र से तथा निजी प्रतिभा से अपने स्वरूप में लोगों में करने योग्य विषय नहीं है और न ही यह लिखने योग्य है, न पुस्तकों के माध्यम से प्रकट करने योग्य है और न ही सार्वजनिक प्रदर्शन का विषय है। मूल ग्रन्थों के टीकाकारों ने अपने-अपने ढंग से इस विषय को उद्घाटित करने का प्रयास अवश्य किया है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि उनकी टीकाएँ साधना के गूढ़ विषय को प्रदर्शित करने अथवा उद्घाटित करने में वस्तुतः कितनी सफल हुई हैं। वह परम्परा दीपक के समान क्या हमारे हृदय में आज भी प्रज्वलित है अर्थात् विषय का प्रकाशन कर रही है जो विषय लुप्तप्राय हैं उसे कैसे उजागर किया जाए, यह एक गम्भीर समस्या है।

हमारा जो परमसत्य स्वरूप है उसका अनुभव कैसे हो सकता है? उसके मार्गों का नाम काश्मीर शैवदर्शन में उपाय रखा गया है। इसे विशेष दृष्टि से तीन भागों में बाँटा गया है- (१) आणव, (२) शाक्त और (३) शाम्भव। चौथा भी एक उपाय है जो न होता हुआ भी एक उपाय कहा जाता है, इसे अनुपाय कहते हैं। अतितीव्र महाशक्ति का संज्ञान (शक्तिपात) जिन महानुभावों पर होता है, वे ही इन उपायों के माध्यम से अपने स्वरूप को प्राप्त करते हैं। इन्हें पर, अपर और परापर इन तीन नामों से बताया जाता है। आणवोपाय, अपर, शाक्तोपाय, परापर तथा शाम्भवोपाय पर उपाय है। इन शक्तियों को क्रमशः सृष्टि, स्थिति, लय, तुरीय से जोड़ा जाता है।

बंगाली होने के नाते मेरा सम्बन्ध शाक्त परम्परा से है। कालीक्रम और श्रीक्रम के नाम से दो क्रम प्रचलित हैं। कुछ श्रीविद्या के उपासक होते हुए भी कालीक्रम को अपनाते हैं। मूर्तियों में जो **काली** दिखाई देती हैं, केवल उसी को यहाँ **काली** नहीं माना जाता है। श्रीविद्या की उपासना में हकार आदि क्रम दिखाई देता है। भारत के पूर्वी क्षेत्रों (असम, उड़ीसा, बंगाल) में **काली**-उपासना के कुछ क्रम प्रचलित हैं। उनमें तुलना करने का प्रयास मुझे उचित नहीं लगता है। इसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि को लोग उतना नहीं जानते हैं। काश्मीर शैवदर्शन अज्ञात ही था। **सर्वदर्शनसंग्रह** में उल्लिखित प्रत्यभिज्ञादर्शन से लोगों को इसका कुछ परिचय मिलता है। यही नहीं, बाद में भी प्रत्यभिज्ञादर्शन तक ही सीमित ज्ञान था। पहिले **प्रत्यभिज्ञाहृदयम्** को अंग्रेजी अनुवाद सहित पाठ्यक्रम में स्थान दिया गया था, किन्तु इससे अधिक लोग नहीं जानते थे। बाद में धीरे-धीरे इसको जानने वालों की संख्या का विस्तार हुआ। **पण्डित कविराजजी** ने १९२०-२२ में किसी

पत्रिका की भूमिका (बंगाली में) लिखी थी। इसका अनुवाद हिन्दी में हो चुका है। इसके बाद **जे.सी. चटर्जी, के.सी. पाण्डेय** आदि की पुस्तकें आईं।

काली की दार्शनिक पृष्ठभूमि भिन्न है। उसको संहारक रूप में देखा जाता है। सम्प्रदायों की भिन्नता के कारण कालियों की संख्या कहीं १३ भी है। **अभिनवगुप्त** ने इसकी संख्या १२ मानी है। क्रमदर्शन में जो कलन-क्रिया निरन्तर करती रहती है, जो भैरवरूप है, जो विश्व का कलन करती है। इसलिए उसे **काली** कहते हैं-

कालस्य कालि देहं विभज्य मुनि पञ्चसंख्यया भिन्नम्।
स्वस्मिन् विराजमानं तद्रूपं कुर्वती जयसि।।

विवेक, आ. VI.१७३

काली कालदर्शिनी पाँच भागों में विभाजित कर प्रतिबिम्ब के समान अपनी अभिन्नता बनाए रखकर विराजमान रहती है। कलन शब्द के अर्थ की व्याख्या करते हुए **तन्त्रालोककार** ने बताया है कि-

क्षेपो ज्ञानं च संख्यानं गतिर्नाद इति क्रमात्।।
स्वात्मनो भेदनं क्षेपो भेदितस्याविकल्पनम्।
ज्ञानं विकल्पः संख्यानमन्यतो व्यतिभेदनात्।।
गतिः स्वरूपारोहित्वं प्रतिबिम्बवदेव यत्।
नादः स्वात्मपरामर्शशेषता तद्विलोपनात्।।

तन्त्रालोक, आ. ४.१७३-१७५

कलन पाश है जो खेल... नाद है। इसका अर्थ खेल या भेदन है। यह अन्तःसत्ता का बाह्य उल्लासन है। इसे भी विकल्परहितरूप में ग्रहण करना है। अर्थात् निजस्वरूप से अभिन्नता। संख्यान का अर्थ है जिन-जिन विषयों को बाहर अवभासित किया जाता है उन्हें परस्पर भिन्नता के साथ विकसित करना। इस प्रकार कलन समाप्ति के बाद यह जो बाहरी प्रमेय वर्ग है उसे आत्मस्वरूप की ओर ले जाना है जो अन्त में मेरा ही स्वरूप है, मुझसे भिन्न नहीं है। इस प्रकार स्वात्मपरामर्श (ज्ञान) ही नाद है। प्रकाशस्वरूप **शिव** से अभिन्न जो विमर्श है उसी का स्वरूप नाद है। इन पाँच प्रकार की कलनाओं को करने के कारण वह देवी **काली** या कालकर्षिणी के नाम से प्रसिद्ध है। **काली** की कलन-लीला है- सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्या। यह क्रम से अपना कार्य करती है। शक्ति, चार प्रकार की कलनाएँ और परादि तीन शक्तियाँ मिलकर बारह प्रकार हुए।...

महार्थमञ्जरी में इसकी परम्परा कुछ भिन्न है। **चिद्गगनचन्द्रिका** क्रम-दर्शन का एक विशिष्ट ग्रन्थ है। इसका सम्पादन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के एक विद्वान् ने किया है। यह ग्रन्थ उपलब्ध है। सम्पादक स्वर्गीय है अन्यथा ग्रन्थ के इस पक्ष का विशेष अध्ययन हो सकता था। **चिद्गगनचन्द्रिका** पर मद्रास की टीका उपलब्ध है। इसकी व्याख्या वेदान्त की दृष्टि से भी की गई है, जो भ्रष्ट है। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि वेदान्त और काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टियों में बहुत भिन्नता है। दोनों में भिन्नता स्वतन्त्र चर्चा का विषय हो सकती है।

बंगाली परम्परा में पूजन करते हुए देवी का ध्यान करते हैं। स्पष्ट रूप से बताना कठिन है क्योंकि यह एक गोपनीय क्रिया है। ...उसके बाद पुस्तक को मस्तक पर रखकर भावना की जाती है। मण्डल आदि की तरह पुनः ध्यान किया जाता है। यह प्रक्रिया अन्दर से बाहर के अवभासन की है।... सूर्य, **शिव**, अग्नि, आदि को नमन करते हुए एक-एक कलनाओं की पूजा की जाती है। सूर्य, सोम और अग्नि तीनों को उसी में स्थापित करते हैं। उसको विशेषार्घ कहते हैं। सूर्य, सोम और अग्नि क्रमशः प्रमाता, प्रमेय और ज्ञानरूप हैं। अलग-अलग परम्पराओं में इसकी प्रक्रियाएँ भिन्न-भिन्न हैं और उनका अध्ययन पुनः अपेक्षित है।

परम्परा का प्रत्येक शास्त्र में महत्त्व है और उनका तुलनात्मक अध्ययन भी एक विषय है। किसी ग्रन्थ में **इत्यागमे** का उल्लेख है जिसको किसी बौद्ध छात्र ने अपनी आवश्यकतानुसार उद्धृत किया था। बौद्ध और शैवों ने एक दूसरे की परम्पराओं को बहुत प्रभावित किया है और उनमें आदान-प्रदान के प्रमाण मिलते हैं। शैवों और बौद्धों के इस आदान-प्रदान पर अनुसन्धान करने से बहुत-सी नई बातें सामने आ सकती हैं। सूर्यादि तीन और प्रमाणादि के परम्पर सम्बन्ध पर ग्रन्थों में विचार पर्याप्तरूप में मिलते हैं। प्रमाता का मुख्य कार्य है- भेदरूप ईंधन को जलाना। यही उसको अग्नि कहने की सार्थकता है। प्रमाता के कई (सात) प्रकार हैं। प्रमाता ही स्वयं को प्रमाण और प्रमेय के रूप में अभिव्यक्त करता है। इसमें कोई विच्छेद नहीं है। जबकि अन्य परम्परा में विच्छेद है। यह दृष्टि सांख्य से भिन्न है। प्रकाश ही स्वयं को विमर्श के रूप में आभासित करता है। यहाँ संकोच और विकास तो है किन्तु विच्छेद नहीं है। **माता आनन्दमयी** कहती थीं **भालो आलोक** (उत्तम प्रकाश)। जैसे लिपटा हुआ और फैला हुआ कालीन, कालीन के रूप में एक ही है उसी प्रकार **शिव** और विश्व एक ही है। भेद केवल संकोच और विकास का है। व्यवहार में प्रकाश के नाना रूप दिखाई देते हैं। किन्तु वास्तव में प्रकाशरूप में वह एक ही है।

एक अन्य तथ्य को मैं **कविराजजी** की दृष्टि से रखना चाहता हूँ- हमारी परम्परा में षोडश संस्कार पूर्णता के प्रतीक माने जाते हैं। साधना में योगी की कलाओं की पूर्ति अलग-अलग होती है। साधक बीच में ही अपनी कला के फल का प्रदर्शन करना प्रारम्भ कर देते हैं, जो एक विकृति है। साधक को चाहिए कि वह जब तक सोलह कलनाओं के लक्ष्य को प्राप्त न कर ले तब तक उसे साधना के फल को किसी को देना नहीं चाहिए। षोडशी होने पर साधक विश्व को आनन्दमय रूप में देखता है। अर्थात् उसकी दृष्टि में सभी समान या अद्वयरूप हो जाते हैं। मन में करुणा का उदय तभी होता है जब उसका पात्र सामने उपस्थित होता है। आनन्दमय स्थिति के रूप में विश्व को देखने पर दुःख की स्थिति स्वतः समाप्त हो जाती है। तब न कोई देने योग्य रहता है और न कोई लेने योग्य। इससे भी ऊपर की अवस्था है जिसे सप्तदशी कहते हैं। इसका नाम **कविराजजी** ने इच्छाशक्ति कुमारी रखा है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

इत्यादि उपनिषद्-वचन में यही भाव है। यह एक गोपनीय विषय है और इस पर कुछ लिखने के प्रसंग में **कविराजजी** की मान्यता थी कि इस गूढ़ विषय पर कुछ लिखना उचित नहीं है। शैव साधना में ऐसे भी विचार मिलते हैं कि देने वाले साधक की क्षति होती है और लेने वाले का लाभ।

प्रमेय सोमरूप है जिसके सोलह भाग हैं, जिसके १६ अंगों से विश्व का प्रमेयमण्डल व्याप्त है। प्रमाण अग्निरूप है। जब बर्हिमुखरूप अपनाते हैं उस समय सोममण्डल में अग्नि की दहनक्रिया निरन्तर चलती रहती है, उसमें सोम की धारा बहने लगती है और उसके परिणामस्वरूप पञ्चभूतात्मक विश्व अवभासित होने लगता है। पञ्चभूतात्मक शरीर में भी सोममण्डल है। नाभि में अग्निमण्डल है। अग्निमण्डल की ज्वाला निरन्तर ऊपर की ओर उठती रहती है। सोममण्डल से शरीर का नाश हो जाता है। सोम की धारा अगर निरन्तर रहे तो शरीर की क्षति नहीं होगी, यह दूसरी बात है। एक आसन है जो सोम को पान करने की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। लोग शीर्षासन करते हैं और वहाँ जीभ में एक छिद्र है जिसे बन्द कर देते हैं। सोम की धारा शरीर पर पड़े तो उसे स्थायी बनाया जा सकता है। **पण्डित नेहरु** शीर्षासन बहुत करते थे ताकि उनका शरीर दीर्घजीवी

रहे। हठयोग की प्रक्रिया में यह अवधारणा है जिसका इस धारा के साथ इतना सामञ्जस्य नहीं है। यह है सृष्टि-प्रक्रिया का एक संक्षिप्त विवरण।

आरोह-क्रम में प्रमेयों का प्रमाण में, तदनन्तर उन्हें प्रमाता में उपसन्धि करने की जो प्रक्रिया है, यही शाक्तोपाय है जो एक गम्भीर विषय है। इसी प्रकार इस स्थिति का उपसंहार हो सकता है और जीवन्मुक्त की अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है। इस क्रम में मुख्यतया भावना और अन्तरपूजनक्रम परिलक्षित होते हैं जो कि गुरु के उपदेश से जानने योग्य हैं। **अभिनवगुप्त** ने कहा कि शुद्धविद्या का परामर्श जो शुद्धविकल्परूप है, उसके द्वारा निरन्तर भावना करके अशुद्ध विकल्प को दूर किया जाना चाहिए। इसको इस श्लोक में दिखाया गया है- **विश्व भोगात्....**। शाक्तोपाय के आह्निक में इस विषय पर और भी विचार मिलते हैं। संविद्रूप सभी प्रमाताओं में मातृसद्भाव वर्तमान रहता है। उस अमृतसागर में उस परम प्रमाता की भावना करने पर समस्त विश्व शुद्ध रूप में दिखाई देता है और उसी रस के द्वारा अध्वमण्डल का तर्पण होता है। शाक्तक्रम में इस प्रकार की भावना का उल्लेख है। इसमें इस प्रकार के जप आदि वर्जित हैं। वहाँ शुद्ध-अशुद्ध आदि के बारे में बहुत-से विचार व्यक्त किये गए हैं।

अग्नि-प्रमाताओं में संवित् मातृसद्भाव अर्थात् मातृका नाम से वर्तमान रहती है। द्वादश देवियों का समुचित अयन अर्थात् आभासन करने वाली संवित् का यथायथ परामर्श होने पर प्रमाता का स्वरूप समझ में आ सकता है। इस प्रकार तत्त्व के हृदयंगम होने पर (जो स्वतन्त्र प्रकाश-विमर्शरूप से अभिन्न है) उपाय से तथ्य का सही अधिगम होता है। अन्त में जिसका अनुभव होता है वह क्रम-अक्रम आदि से परे है। उसका पूजन उसके साथ अभिन्नता का अनुभव करते हुए किया जाता है। इसका पूजन करने में आह्वान आदि बाह्य क्रियाओं की अपेक्षा नहीं होती है। इस पूजन में परावाग्रूप नाद ही मन्त्र है जो अहंपरामर्शरूप है। बोधरूप चैतन्य में स्थित रहकर विश्व-सर्जन की स्थिति में विश्वात्मता को ग्रहण करने वाला बन जाता है और संहार के समय **द्रावी, गाली** (पारिभाषिक शब्द), द्रावन और फिर गालन होता है। इसी को **स्पन्दकारिका** में उन्मेष और निमेष नाम से कहा गया है। वह सामान्य स्पन्दन है।

क्रमदर्शन में सूक्ष्म दृष्टि से भावना-क्रम का जो संकेत प्राप्त होता है, उसका उल्लेख यहाँ प्रासंगिक है। तन्त्र में अदीक्षित के समक्ष किसी रहस्यात्मक विषय का उद्घाटन उचित नहीं माना जाता। दीक्षा, शब्द या स्पर्श किसी भी माध्यम से

सम्भव है। **आनन्दलहरी** की टीका में **लक्ष्मीधर** ने कहा- मैंने श्रीविद्या की टीका सबके लिए लिखी है। किन्तु श्रीमन्त्र मैं किसी को नहीं दे सकता। ग्रन्थ के माध्यम से सब पाठक दीक्षित हो गए हैं। इसलिए उन्हें विषय का ज्ञान कराया जा सकता है। **अभिनवगुप्त** ने स उ व आदि कहकर उसका उल्लेख किया है।

आरोहक्रम और अवरोहक्रम अर्थात् सृष्टि और विलय। क्रम-सृष्टि में एक क्रम है जिसका प्रत्यक्ष होतां है किन्तु वह क्रम वास्तविक नहीं है। ३६ तत्त्वों में क्रम दिखाई पड़ता है। यह क्रम समझने वालों के लिए है। **शिव** तो अपने आप को अक्रम से ही उद्घाटित करता है। परमशिव अखण्ड प्रकाश है और सदाशिव, माया आदि उसी में विद्यमान हैं। साधना में आरोह-क्रम की आवश्यकता होती है। इसमें स्थूल तत्त्व क्रमशः सूक्ष्म में विलीन होते जाते हैं। इसी को तान्त्रिक प्रक्रिया में भूत-शुद्धि कहते हैं। दूसरा चित्तशुद्धि है। दोनों शुद्धियों के बिना आरोहक्रम सिद्ध या पूर्ण नहीं होता है। अशुद्ध तत्त्व को पहिले शुद्ध तत्त्व में मिलना चाहिए। तान्त्रिक दृष्टि में शुद्ध-अशुद्ध वास्तव में **शिव** की ही सृष्टि है। जल और अग्नि से व्यवहार में शुद्धीकरण की प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है। किन्तु यदि ये भी अशुद्ध हों तब व्यवहार में भी शुद्धि कैसे होगी? इसलिए वास्तव में अशुद्ध कुछ नहीं है। अग्नि, जल आदि की शुद्धि के बारे में व्यवहार में लोगों के दृष्टिकोण अलग-अलग हैं। कोई चिता की अग्नि को अशुद्ध मानता है और किसी की दृष्टि में वह सर्वाधिक शुद्ध है। अग्नि के साथ ज्वालाएँ हैं। वैदिक कर्मकाण्ड में भी सभी अग्नियों में आहुति नहीं दी जाती है। वहाँ किसी विशेष अग्निशिखा में ही आहुति दी जाती है। इसका तात्पर्य है कि अग्नि की शिखाओं में भेद किया जातां है। इसलिए अग्नि का शोधन वायु के द्वारा माना जाता है। इसलिए शुद्धता-अशुद्धता का विचार धर्मशास्त्र का विषय है। किन्तु साधनाशास्त्र के विषयों में शुद्धि-अशुद्धि का कोई भेद नहीं है। बंगाली पञ्चमकारी तान्त्रिक माने जाते हैं और उन्हें ब्रह्मचारी भी कहा जाता है। संसार से विपरीत आचरण करने वाले वामाचारी कहे जाते हैं। वाम मार्ग में बाँए अंगुष्ठ से तर्पण करना चाहिए, ऐसा नियम है। इसमें जल अथवा अन्य वस्तु के द्वारा वामकर से तर्पण किया जाता है। वामाचार के लिए वैदिक कर्मकाण्ड में प्रायश्चित भी बताए गए हैं।

आरोह-अवरोह की इस समस्त क्रीड़ा का नाम स्पन्द है। इस स्पन्द की प्रक्रिया को मात्र सुनकर आत्मसात् नहीं किया जा सकता। इसके लिए क्रिया अथवा व्यवहार आवश्यक है। इस भावना में स्थित होने पर साधना फलदायिनी होती है। भावनाक्रम का उपदेश भी शाक्तक्रम का विशेष अवदान है। इस भावना में परिणत होना ही जीवन का उद्देश्य होना चाहिए (**शिव** में शक्ति और

शक्ति में **शिव** का होना ही लोलीभाव है)। भौतिकवादी इससे असहमति रखेंगे और संसार के त्याग को उचित नहीं मानेंगे। किन्तु यह साधना कहती है कि संसार को लीलाभाव से देखना चाहिए, उसका त्याग करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

पं. परमहंस मिश्र (प्रश्न)

यह क्रमदर्शन मूल्यरहित है क्या?

पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती (उत्तर)

योग का उद्देश्य है- प्रकृति से छुटकाना पाना। मायातीत होना भी एक प्रकार से माया से छुटकारा पाना है। महामाया से भी आगे छुटकारा पाने की बात की जाती है। अन्त में शिवमय स्थिति अर्थात् निष्कला अवस्था को प्राप्त किया जाता है। इसमें विश्व भेदरूप में दिखाई नहीं देता। किन्तु इसका आशय विश्व का त्याग नहीं है। क्योंकि विश्व भी उसी **शिव** की ही रचना है। शाक्त परम्परा में विश्वातीत रूप को अपनाया जाता है। भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि होने के बाद इसमें शरीर को भी चिन्मय बना लिया जाता है। किन्तु सभी चिन्मय दिखाई दें, यह आवश्यक नहीं है। शरीर के बाद विश्व को चिन्मय स्थिति में पहुँचाना है। इसमें कुछ प्रक्रिया की आवश्यकता होती है। विश्व को चिन्मय बनाना ही जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। स्वयं उस स्थिति को प्राप्त करते हुए भी अपनी मुक्ति का स्वप्न इसमें नहीं देखा जाता है। **अभिनवगुप्त** के अनुसार अपने लिए कुछ करना महत्त्वपूर्ण नहीं है। सबकी मुक्ति अभी तक एक स्वप्नमात्र है।

बेटिना बॉमर (प्रश्न)

शाक्तोपाय का सम्बन्ध महायान या विज्ञानवाद से क्या है?

प्रो. रमेशचन्द्र शर्मा (टिप्पणी)

शाक्तोपाय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के लिए स्वतन्त्र अध्ययन और विचार की आवश्यकता है।

प्रो. कमलाकर मिश्र (प्रश्न, टिप्पणी)

पद्धति में वक्ता ने थोड़ा परिवर्तन किया है। बहुत-सी साधनाएँ गुप्त रखी जाती हैं क्योंकि पात्रता की समस्या आ जाती है। दुरुपयोग से भी उसे बचाना है। गोपनीयता की रक्षा में गोप्य वस्तु ही समाप्त न हो जाय, इस ओर वक्ता ने भी संकेत किया है। फिर भी उसका एक सामान्यरूप हो सकता है जो सबके लिए व्यवहार में उपयोगी है। शास्त्र का विषय और ज्ञान यदि सामान्यजन तक

नहीं पहुँचता है तो यह उचित नहीं कहा जा सकता। जैसे गङ्गा यदि **शिव** की जटाजूट में ही रह गई होती तो उसका लाभ सामान्य-जन को कैसे मिलता? वक्ता की शैली ऐसी थी जिसमें शास्त्रीय विषय सामान्यजन तक पहुँच सके।

एक बार **पं. रामेश्वर झा** जी से आरोह-अवरोह क्रम के बारे में पूछा गया था। प्रमाता से प्रमेय का सृष्टिक्रम है और प्रमेय से प्रमाता क्रम साधनाक्रम है। यह शब्दावली तो ठीक है, किन्तु यहाँ प्रमेय आदि को प्रमाता में डालने का क्या तात्पर्य है? मन में समस्त सांसारिक वस्तुओं के प्रति चैतन्य की भावना करना ही समावेश है। पृथिवी आदि को जलतत्त्व में और फिर सभी जलादि में चैतन्य की अनुभूति करना समावेश है। प्रमेय को प्रमाता में ले आना, यही अन्तिम लक्ष्य है। **पं. झा** कहते थे कि सारी साधना संहार-साधना है। भगवान् सृष्टि करता है और साधक संहार करता है अर्थात् सबको चिन्मयरूप में देखकर उससे स्वयं को अभिन्न मानने की भावना करता है। शाक्तोपाय, भावना का उपाय है। बिना भावना के सीधे अद्वय की स्थिति का साक्षात्कार तो शाम्भवोपाय है। शाक्तोपाय में क्रम का महत्त्व है और द्वैतभाव के दहन की क्रिया यहाँ क्रमिक रूप में सम्पन्न होती है।

एक दूसरा प्रश्न यह है कि इस प्रकार की अद्वय भावना का बार-बार अभ्यास करने से बाह्य जगत् पर भी या साधक के बाह्य व्यवहार पर भी कोई प्रभाव पड़ता है? **द्विरूपाक्षपञ्जिका** के संकेतानुसार पर्वतादि बाह्य में अद्वयभाव के अभ्यास से उनको भी हल्का बनाकर इच्छानुसार संचालित किया जा सकता है। सर्वात्मभाव की अन्तिम स्थिति में (**सर्वो ममायं विभवः, चेतनरहिताः मन्त्राः।**) बिना चैतन्य के जप करने से अपेक्षित लाभ नहीं हो सकता। मन्त्र में शक्ति चैतन्य से ही आती है। (**मननात् मन्त्रः**)। विशेष स्थिति में पहुँचा हुआ साधक जो बोले वही मन्त्र हो जाता है। साधना का प्रभाव बाह्य जगत् पर भी दिखाई देता है और इसीलिए यह माना जाता है कि एक साधक की साधना से दूसरा व्यक्ति और समाज भी अवश्य ही लाभान्वित होता है।

प्रो. हृदयरञ्जन शर्मा (प्रश्न)

(१) चेतना शब्द जिस भाव को व्यक्त करता है उसके लिए कोई अन्य वैकल्पिक शब्द भी हो सकता है क्या? (२) चेतना का अर्थ क्या है? (३) अन्तश्चेतना का सम्बन्ध क्या स्वरविज्ञान से जोड़ा जा सकता है?

पं. चक्रवर्ती (उत्तर)

बोध, चैतन्य का पर्यायवाची शब्द है। समग्र विश्व जिसमें तृप्त हो जाए ऐसी भावना करने का नाम तर्पण है। तृप्ति की भावना करने पर तर्पण का अधिकार

आ जाता है। यह भावना है कि समग्र विश्व शिवरूप है और उसी का तर्पण किया जा रहा है। अथवा अपने में पूर्ण तृप्ति का भाव आना ही तर्पण है। दूसरे शब्दों में, शिवरूप आत्मस्वरूप को तृप्त करना ही तर्पण है।

तन्त्रसारकार **(अभिनवगुप्त)** और **जयरथ** ने स्वर-सम्बन्धी श्रुतियों की चर्चा की है। जैसे अ से दीर्घ आ बनता है। किन्तु सीधे आ में क्यों नहीं पहुँचा जाता? ऊ सीधे ॠ में क्यों नहीं पहुँचता है? अ से आ में जाने के बीच में २२ श्रुतियों की मान्यता है।

❖ ❖

भैरवस्तवः

(अभिनवगुप्तपादानाम्)

व्याप्तचराचरभावविशेषं चिन्मयमेकमनन्तमनादिम्।
भैरवनाथमनाथशरण्यं त्वन्मयचित्ततया हृदि वन्दे।।१।।

त्वन्मयमेतदशेषमिदानीं भाति मम त्वदनुग्रहशक्त्या।
त्वं च महेश सदैव ममात्मा स्वात्ममयं मम तेन समस्तम्।।२।।

स्वात्मनि विश्वगते त्वयि नाथे तेन न संसृतिभीतिकथास्ति।
सत्स्वपि दुर्धरदुःखविमोहत्रासविधायिषु कर्मगणेषु।।३।।

अन्तक मां प्रति मा दृशमेनां क्रोधकरालतमां विनिधेहि।
शङ्करसेवनचिन्तनधीरो भीषणभैरवशक्तिमयोस्मि।।४।।

इत्थमुपोढभवन्मयसंविद्दीधितिदारितभूरितमिस्रः ।
मृत्युयमान्तककर्मपिशाचैर्नाथ नमोस्तु न जातु बिभेमि।।५।।

प्रोदितसत्यविबोधमरीचिप्रेक्षितविश्वपदार्थसतत्त्वः।
भावपरामृतनिर्भरपूर्णे त्वय्यहमात्मनि निर्वृतिमेमि।।६।।

मानसगोचरमेति यदैव क्लेशदशाऽतनुतापविधात्री।
नाथ तदैव मम त्वदभेदस्तोत्रपरामृतवृष्टिरुदेति।।७।।

शङ्कर सत्यमिदं व्रतदानस्नानतपो भवतापविदारि।
तावकशास्त्रपरामृतचिन्ता स्यन्दति चेतसि निर्वृतिधाराम्।।८।।

नृत्यति गायति हृष्यति गाढं संविदियं मम भैरवनाथ।
त्वां प्रियमाप्य सुदर्शनमेकं दुर्लभमन्यजनैः समयज्ञम्।।९।।

वसुरसपौषे कृष्णदशम्यामभिनवगुप्तः स्तवमिममकरोत्।
येन विभुर्भवमरुसन्तापं शमयति जनस्य झटिति दयालुः।।१०।।

समाप्तं स्तवमिदमभिनवाख्यं **पद्यनवकम्।**

आह्निक - १७

शाक्त समावेश के अन्तःसन्दर्भ

पं. परमहंस मिश्र (प्रधान वक्ता)

आणव आदि उपायों का विभाग केवल बौद्धिक स्तर पर है। वस्तुतः ये सभी उपाय एक दूसरे से इस तरह मिले हुए हैं कि इन्हें अलग नहीं किया जा सकता।

शिव में निरन्तर एक ऐसा विमर्श चलता रहता है जिसके कारण उसे प्रकाश कहा जाता है। निर्विमर्श प्रकाश का अस्तित्व नहीं है। यह विमर्श संसार में व्याप्त है और हमारे शरीर में श्वास के रूप में उन्मेष व निमेष के माध्यम से व्यक्त है। यह वास्तव में शाम्भव समावेश है किन्तु हम इसको समझते नहीं। इस नासमझी का कारण हमारी अणुता है। विचित्र बात यह है कि यह अणुता भी **शिव** के द्वारा स्वीकृत है। **शिव** पञ्चकृत्यकारी है। चित्स्वरूप में परमात्मा **शिव** का केवल निष्कल उल्लसित रहता है।

आनन्द चित् का स्वातन्त्र्यमय उल्लास है। जिस समय हम समस्त विकल्पों से अलग होकर केवल चिन्मय अवस्था में जाने की कोशिश करते हैं उस समय अद्‌भुत चमत्कारीरूप से एक सुख मिलता है। यह सुख उस आनन्द की एक झलक है।

यह विश्व **शिव** का आभास है। भगवान् **शिव** ने सोचा कि अपने में विद्यमान विमर्श का स्वयं आनन्द लेना है और इसके लिए कुछ होना चाहिये तो वह स्वातन्त्र्य के बल पर जगत् रूप में आभासित हो गया। उदाहरण के लिए एक बिन्दु को शिवरूप मान लें और उसमें विमर्श की कल्पना करें तो उस बिन्दु में भी **सोऽहमस्मि** इस प्रकार का उच्छलन होने लगेगा। वही बिन्दु उच्छलित होकर **एकोऽहं बहु स्याम** की स्थिति में नये बिन्दु के रूप में आ जाता है। यह नया बिन्दु विसर्ग बन जाता है। विसर्ग का पहला बिन्दु ब्रह्म है। दूसरा बिन्दु विसर्ग है। **तन्त्रालोक** में **शिव** को **स्वात्मप्रच्छादनक्रीडापण्डित** (**तन्त्रालोक**, ४.१०) कहा है। साधारण लौकिक क्रीडा का एक निश्चित लक्ष्य होता है, नियत फल होता है। इसमें जय-पराजय दोनों हैं। **जयरथ** ने इसे **प्रतिनियतफलसंपत्तिः**

कहा है। किन्तु **शिव** की क्रीडा अलौकिक है। यह अननुसन्धानात्मिका है। क्रीडा मात्र है। **शिव** स्वयं क्रीडा के लिए अपने को संकुचितरूप में या अणुरूप में प्रकट करता है। किन्तु अणुभाव में आया हुआ यह परमेश्वर जड़ नहीं है। अणुता और पूर्णता में भेद स्वरूप का नहीं, स्वभाव का नहीं, संकोच का है। वह पूर्ण है, सर्वज्ञ है, हम अल्पज्ञ हैं। इसी प्रकार वह सर्वकर्तृत्वसमर्थ है, हम किञ्चित्कर्तृत्वसमर्थ हैं। यह सब माया का खेल है जो **शिव** की ही शक्ति है। इसी को **पं. रामेश्वर झा** ने मोहिनी शक्ति कहा है।

शैव तन्त्र में काल नहीं है किन्तु क्रम है। सृष्टि, संहार, साधना आदि सब में क्रम लगा हुआ है। दिक् और काल का चमत्कार परमात्मा के विमर्श के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

हम अपने पारिमित्य का साधना के द्वारा विगलन कर सकते हैं। साधना की सब बातें नहीं कही जा सकतीं। कुछ कहा जा सकता है। चक्रों की साधना में मूलाधार से स्वाधिष्ठान में जाते हैं। फिर मणिपुर में, फिर अनाहत में और इस प्रकार चलते-चलते आज्ञाचक्र और इससे भी ऊपर जाते हैं। आज्ञाचक्र में कर्तृत्व बना रहता है किन्तु इसके बाद सुषुम्ना का काम समाप्त हो जाता है, वह नाद में जाकर मिलती है। नाद में जाने से निरोधिका शक्ति रोकती है। वह ऐसी सीमा बना देती है कि उसे पार करना कठिन हो जाता है।

निरोधिका शक्ति को पार करने का उपाय मेरे गुरु ने बताया कि तुम माया को केवल माया मत समझो। माया माँ भी है। वह मातृशक्ति है। शरीर माया के प्रभाव से ही बना है। इस देहभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसलिये माया की प्रार्थना करो।

शिव-सृष्टि में जाने के लिए पाँच भाग हैं। प्रथम भाग में हम सिद्ध-विद्या में पहुँचते हैं। इस समय निरोधिका का आवरण भङ्ग होता है। सिद्ध-विद्या के बाद ईश्वर-भाव में पहुँचते हैं। सिद्ध-विद्या और ईश्वर-भाव का अलग-अलग स्वरूप है। हम सभी लोग जानते है कि हम लोग इदंभाव में हैं। इसके सञ्चार को हम लोग इदन्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। **ईशावास्योपनिषद्** कहता है-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन व्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।

यह जो दिखाई दे रहा है, नहीं भी दिखाई दे रहा है, जो व्यक्त है, जो अव्यक्त है यह सारा का सारा इदं है। **भगवान् श्रीकृष्ण** ने कहा कि **अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत (गीता,** २.२८)। यह मध्य वाला स्थान हमारा है तो मध्यावस्थान में आकर हम व्यक्त हो गये। इस अनुभूति को समझना इदन्ता है। अणु-भाव में इदन्ता को समझना और इस इदन्ता में बैठा जो आणव-भाव है उसको बतलाने वाली श्रुति है **इदम् इदम्** और **अहम् अहम्**। इदन्ता में अहन्ता का भाव वहाँ जाकर प्रस्फुटित हो जाता है। किन्तु उसके भी आगे सित् सृष्टि है। सित् सृष्टि में जब हम उसके भी आगे बढ़ते हैं ईश्वरभाव में जब हमें यह अनुभूति हो जाती है **अहमेव इदम्।** यह जो मैं हूँ, मैं ही इस रूप में व्याप्त हूँ। इसको **तन्त्रालोक** में कहते हैं **मत्त एवोदितमिदं सर्वं मयि एव प्रविलीयते।** इस प्रकार की महा अनुभूति हम आणवभाव में नहीं कर सकते हैं। फिर भी यदि इस अणुता में **शिव** की विद्यमानता स्वीकार कर लें तो आवरण का स्वरूप बदल जाएगा। इसीलिये श्रीविद्या की पूजा में आवरण की भी पूजा की जाती है। आवरण की पूजा का तात्पर्य है कि हम निरावरण होना चाहते हैं। आवरण को शक्ति मानकर हम शैवी शक्ति में प्रवेश कर सकते हैं।

सारांश यह कि इदम् की भूमि से उठने के लिए इसी का आश्रय लेना पड़ेगा। हम इदन्ता की उपेक्षा नहीं कर सकते। अणु-भाव में शाक्तभाव और शैवभाव दोनों विद्यमान हैं। यही अणुता का महत्त्व है।

एक शिष्य गुरु के पास गया और कहा कि मैं बहुत ऊहापोह में हूँ। मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि मैं क्या हूँ, यह संसार क्या है। गुरु ने कहा तुम कहाँ हो? तुम तो हो नहीं। यदि तुम होते तो मेरे यहाँ नहीं आते। इसलिये पहले यह तो समझो कि तुम हो। तुम शरीर में कहाँ हो? **कबीर** कहते हैं- **मोको कहाँ ढूँढे बन्दे, मैं तो तेरे पास हूँ।** भगवान् हमारे अन्दर बैठकर आनन्द ले रहे हैं। जबकि हम सोचते हैं कि हम ही समस्त आनन्द और सुख की अनुभूति कर रहे हैं। **इदम् अद्य मया लब्धं इमं प्राप्स्ये मनोरथम्** अर्थात् आगे भविष्य में हम यह कार्य करेंगे तो हम भूत और भविष्य में हैं क्योंकि **इदम् अद्य...** में भूत है और **इमं प्राप्स्ये** में भविष्य है क्योंकि हम तो अस् में हैं ही नहीं, सत् में हैं ही नहीं और जब तक सत् में प्रतिष्ठा नहीं होती तब तक व्यक्ति स्व की अनुभूति नहीं कर सकता। यह सत् क्या है? भगवान् को सच्चिदानन्द

कहते हैं। लेकिन तन्त्र कहता है कि सत् की तो बात मत करो, बात शुरु करनी है **चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थावभासिनं चित्** से। क्योंकि परमात्मा चिद्रूप है लेकिन प्रश्न आता है कि चित् की सत्ता कहाँ है? **रुद्रयामल** में आया है- **यत्र चित्सत्वयोः व्याप्तिः**। जहाँ चित् और सत् की व्याप्ति होती है **तत्रानन्दो विराजते** वहाँ आनन्द का भाव होता है। चित् और सत् दोनों मिलना चाहिए। चित् की स्थिति सत् में ही हो सकती है और वह सत् क्या है? जिस गङ्गाजी में स्नान किया वहाँ गङ्गाजी नहीं हैं। गङ्गाजी तो हैं लेकिन उसमें एक गतिशीलता है। इस गतिशीलता को हम लोग ऋत कहते हैं और जो नदी का रूप है उसको सत् कहते हैं। **सत्यञ्च ऋतञ्चावेदात् तपसोऽध्यजायते**। यह सब तप से उत्पन्न होता है। तप से सत् व ऋत की अनुभूतियाँ होती हैं। वह तप क्या है? जब हम गायत्री का तर्पण करते हैं तो उसमें तप का तर्पण करते हैं और उसमें लिखा है कि **तपःसर्वागमपुराणपुरुषान्तरपयानि**। तप कह करके समस्त आगमिक जितने पुरुष हैं उनको तृप्त करते हैं। यह स्थिति है। आगम तप की वास्तविकता को व्यक्त करता है। तप हमारा यह है कि हम जिस चित् और आनन्द की बात करते हैं उसके पहले सत् में प्रतिष्ठित हैं कि नहीं। हम देखें कि हमारे चैतन्य का जो चमत्कार है वह यहाँ प्रफुल्लित हो रहा है कि नहीं। हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग से यह निकल रहा है कि नहीं। इसकी किरणें हमारे शरीर से निकल रही हैं कि नहीं और यदि इस प्रकार की अनुभूति में हम बैठेंगे तभी इस प्रकार के आनन्द का अनुभव करेंगे।

यह स्थिति हमारे यहाँ है। अत: हम इस अणुता के आवरण को हटाकर जब आगे बढ़ते हैं तब हमारे सामने आता है कि हम संसार में हैं और संसार की माया का प्रभाव भी हमारे ऊपर है। माया जहाँ होती है, विकल्प भी वहाँ होता है। तो विकल्प का क्या करना चाहिए? विकल्प है क्या? वास्तव में इसमें बड़ा शास्त्रार्थ है तो **विकल्पः संसारः, सर्वो विकल्पोऽयं संसारः** और संसार का अस्तित्व हम स्वीकार ही नहीं करते। हम तो कहते हैं- यह **शिव** का उल्लास है। लेकिन यदि हम अपने जीवन में इस स्थिति में पड़े हुए हैं और विकल्प का महाभिशाप हमारे ऊपर पड़ा हुआ है तो **तन्त्रालोक** में सर्वप्रथम लिखा है कि परमेश्वर-स्वभाव में प्रवेश करने का जो आकांक्षी है वह विकल्प का संस्कार

करे। अब हमारे सामने नई समस्या आती है कि इस विकल्प का संस्कार कैसे करें? तो इसमें भी बहुत शास्त्रार्थ है कि जितने पदार्थ हैं वह समस्त पदार्थ वेद्य हैं। हम जिनका वेदन कर सकें तो वेदन करने के लिए वेदिता होता है और वेदिता के साथ वेदयित्री शक्ति होती है। वह संवित्ति कहलाती है। वह संवित्ति शक्ति समस्त ज्ञान करा देती है। तन्त्रशास्त्र उसको स्वच्युतिकरणशक्ति मानते हैं। स्वतः अपने से प्रच्युति हो करके व्युत्पत्ति होने लगती है। अगर यह विज्ञान शुद्ध हुआ तो दूसरे ज्ञान को उसने एक नया जन्म दे दिया और नया जन्म देते-देते एक दिन ऐसा होता है कि सारा का सारा विकल्प संस्कार होकर संकल्प में बदल जाता है। यह विकल्प का संस्कार करने की स्थिति है। यह साधना है। हमको इसके लिए बैठना पड़ेगा, देखना पड़ेगा, हमारा विकल्प क्या है? इसके लिए आप बौद्धिक स्तर से कभी न सोचें। जब इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ हमारे अन्दर होती हैं तो विकल्प का संस्कार आगे बढ़ता है। वास्तव में अपने मन में जैसा कि गुरु ने अपने पास आये हुए शिष्य से कहा कि तुम अपने को खोजो कि तुम हो कहाँ? तो चारों तरफ से जब अपने शरीर को खोजेगा, देहभाव को खोजेगा, अभी देहभाव में परमात्मभाव की निष्ठा नहीं है, यदि ऐसी निष्ठा होती तो गुरु के पास जाते ही नहीं। तब तो वह स्वयं अपने को जानता। हमारे यहाँ यह कहते हैं कि देह क्या है? देहभाव की दृष्टि हमारी क्या है? हम लोग देहभाव में पड़े रहते हैं। लेकिन वास्तव में यह देहभाव नहीं है। एक निराकार साकार रूप में परिणत कैसे हो जाता है? जैसे मान लिया अ है। अ निराकार है उसमें तरह-तरह की शक्तियों की प्रकल्पना हम करते हैं। ज्येष्ठा, रुद्री, वामा और अम्बिका शक्ति इसमें हैं। किन्तु अ निराकार है। लेकिन जब कण्ठ के चर्म को आप सटा दें तो यह क हो जाता है **अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः**। यह वैयाकरण लोग बताते हैं।

वैशेषिक दर्शन व न्याय में अणु-परमाणु का बड़ा विचार है। यह परमाणु उपादान सृष्टि करने में काम आता है। घड़े में उपादान कारण मृत्तिका है। क्या बिना मृत्तिका के घट-निर्माण संभव है? स्वतः सिद्ध है कि नहीं बनेगा। लेकिन **शिव** निरुपादान सृष्टि करते हैं। **जगत्चित्रं समालिख्य स्वात्मतूलिकया आत्मनि...** स्वात्मा ही परमात्मा में मिलती है और लिखता कैसे है? स्वात्मतूलिका

से। यह स्वात्मतूलिका क्या है? कल्पना करें स्वात्म-तूलिका इसके वर्ण हैं जितने वाङ्मय विश्व में निर्मित हुए हैं यह सारा विश्ववाङ्मय स्वात्मतूलिका है। उसका यह स्वर-शास्त्र है, उसका यह व्यञ्जनशास्त्र है। यह उसकी तूलिका है।

परमात्मा इस सृष्टि को देखकर तेजी से हँसता है। वाह! मैंने कितनी सुन्दर सृष्टि बनायी।

एक बालक अपनी माँ से कहता है कि माँ चित्र में चित्रित वृक्ष पर मुझे चढ़ा दो। क्या उस पेड़ पर चढ़ा जा सकता है? नहीं, क्योंकि वह निरुपादान सृष्टि है। उसमें वृक्ष का वृक्षत्व नहीं है। यही निरुपादान सृष्टि कहलाती है।

तर्क को तन्त्र की भाषा में केवल तर्क नहीं कह सकते। तर्क बड़ा उलझा हुआ शब्द है। वेद कहता है- **नैषा तर्केण मतिरापनीया।** तर्क से मति प्राप्त नहीं हो सकती है। इसलिए न्यायशास्त्र में तर्क, जल्प, वाद, वितण्डा भरा पड़ा है। यह बड़ा जाल है। लेकिन तन्त्रशास्त्र कहता है कि जब सत्तर्क उदित होता है तब वह गुरु के पास जाता है। **सत्तर्कः नीयते सदगुरुं प्रति।** वह सद्गुरु सत्तर्क में जो स्व का अभिमान है उसे पहले काटता है। सबसे बड़ा सत्तर्क का लाभ यह है कि जिस समय सत्तर्क मन में उदित होगा, आवरण बिल्कुल दहलने लगेगा, उसमें भूकम्प आ जायेगा।

जब बकरियों के साथ रहने वाले बाघ के मन में अनुभूति आएगी कि मैं बकरी नहीं शेर हूँ तब वह गर्जना करेगा। इस प्रकार की गर्जना आपके अन्दर भी सत्तर्क के माध्यम से फूट सकती है। यह सत्तर्क का कुठार है। सत्तर्क हमें स्वयं से परिचित कराता है।

गणित में कहा जाता है कि एक-एक मिलकर दो होता है। लेकिन तन्त्र के अनुसार एक-एक मिलकर एक ही होता है। कैसे? यह माँ बतलाती है। कहती है पुरुष का वीर्य व माँ का रज मिलकर एक ही होता है। दो मिला परन्तु हो गया एक। परमात्मा ने जो ज्ञान दिया उस ज्ञान को ज्यों का त्यों देने वाली शक्ति मातृ-शक्ति है। इसलिए सर्वप्रथम मेरी भावना माता की ओर आनी चाहिए। मातृशक्ति का शाक्त उत्थान या शाक्त भाव है और इसके मूल में यही कार्य करता है। शाक्त भाव की दो दृष्टियाँ हैं- एक स्वरूपानुप्रवेश और दूसरी

स्वरूपानुसन्धान। हमारे अन्दर जो शक्ति विद्यमान है उसका कारण मातृप्रकाश है। शक्ति के उल्लास के बाद महामाया, उसके बाद माया, फिर संसार की स्थिति। ऊपर उठने के लिए शक्तियों का जागरण आवश्यक है।

इसलिये सत्तर्क और सद्गुरु दोनों जब एक साथ मिलते हैं तब साधक लक्ष्य की सही दिशा में बढ़ता है।

दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेषजन्तोः,
स्वस्थैः स्मृता मतिमतीव शुभां ददासि...। दुर्गासप्तशती

गायत्रीमन्त्र है-

ओम्। भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्।
भर्गोदेवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।

गायत्रीमन्त्र बुद्धि के लिये प्रेरणा क्यों देता है? क्योंकि मन को मारने वाला ही बुद्धि-क्षेत्र में प्रवेश का अधिकारी होता है। **गीता** भी इसका समर्थन करती है। भेद यह है कि **गीता** मन को विषयों से हटाने को अत्यन्त कठिन मानती है और तन्त्र इसे अत्यन्त सरल मानता है। इसका सिद्धान्त है कि जहाँ-जहाँ मन जाता है, जाने दो, उसे रोको मत।

मन को हटाने की तन्त्रशास्त्र की पद्धति दूसरी है। यह स्त्री में माँ को देखने की बात करता है। औघड़ लोग स्त्री में हड्डी, कंकाल देखने की बात करते हैं। उससे घृणा उत्पन्न करते हैं। किन्तु तन्त्र उसे पवित्र मानकर उसमें मातृभाव देखने की बात करता है। अतः मन के स्तर पर साधना करने से गायत्री सिद्ध नहीं होती। शास्त्र और गुरु के माध्यम से बुद्धि जब शुद्ध हो जाती है तो वह अलौकिक आनन्द देती है। बुद्धि के दो भाग हैं- पतन और शिखर। बुद्धि दोनों को देखती है।

गायत्रीमन्त्र से बढ़कर कोई तान्त्रिक मन्त्र नहीं है। यह वेद नहीं, तन्त्र है, आगम है। इस दृष्टि से सत्तर्क, सद्गुरुत्व और अपने स्वरूप को, अपनी शक्तिमत्ता को, अपने भाव को और उस भाव को जहाँ हमें प्रवेश करना है- पहिचानें।

डॉ. मार्क (प्रश्न)

- शुद्ध विकल्प का क्या स्वरूप है?
- पार्थिव शरीर अशुद्ध विकल्प है, शुद्ध नहीं। इसको संस्कृत करने पर देह का क्या स्वरूप बनेगा?

पं. परमहंस मिश्र (उत्तर)

- जिस समय विषयोन्मुखता समाप्त हो जाती है, मन मर जाता है। मन या तो भूत में रहेगा या भविष्यत् में। सत् में मन नहीं रह सकता क्योंकि यह चञ्चल है।
- जहाँ-जहाँ पृथिवी का भाव है वहाँ-वहाँ धारण करने का भाव है। लेकिन एक दूसरी कल्पना भी है- **यत्र यत्र धृतित्वं तत्र तत्र शिवत्वम्।** ऐसा भाव आने में पार्थिवभाव शिवभाव में विलीन हो जाता है। इसीलिये कहा गया है- कि पारिमित्य की समाप्ति के बाद देह में केवल शिवानन्दरस रह जाता है।
- विकल्प बादाम पर चढ़ी खोल की तरह है। परन्तु उसके अन्दर अत्यन्त कोमलता व मधुरता है।
- सत्तर्क परमात्मा की इच्छा से ही जाग्रत् होता है। यह शुद्धविद्यात्मक है।

डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास (संयोजक द्वारा प्रस्तुत कतिपय सन्दर्भ)

विकल्प संस्कार

चतुर्ष्वेव विकल्पेषु यः संस्कारः क्रमादसौ।
अस्फुटः स्फुटताभावी प्रस्फुटन्स्फुटात्मकः।। **तन्त्रालोक**, ४.४

तर्क

श्रीपूर्वशास्त्रे तत्प्रोक्तं तर्को योगाङ्गमुत्तमम्।
हेयाद्यालोचनात्तस्मात् तत्र यत्नः प्रशस्यते।। **वही**, ४.१५

गुरु

किरणायां यदप्युक्तं गुरुतः शास्त्रतः स्वतः।
तत्रोत्तरोत्तरं मुख्यं पूर्वपूर्व उपायतः।। **वही**, ४.४१-२
अकल्पितसांसिद्धिककल्पितकल्पक...।

योगाङ्गानुपयोगित्व

अहिंसासत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।
इति पञ्चयमाः साक्षात् संवित्तौ नोपयोगिनः।। **वही.**, ४.८७
प्राणायामो न कर्तव्यः शरीरं येन पीड्यते।
रहस्यं वेत्ति यो यत्र स मुक्तः स च मोचकः।। **वही**, ४.९१

कल्पितार्घघनादर

विश्वमेतत्स्वसंवित्तिरसनिर्भरितं रसात्।
आविश्य शुद्धो निखिलं तर्पयेदध्वमण्डलम्।। तन्त्रालोक, ४.११५-६.

संविच्चक्रोदय

ये चक्षुर्मण्डले श्वेते प्रत्यक्षे परमेश्वर।
षोडषारं द्वादशारं तत्रस्थं चक्रमुत्तमम्।। वही, ४.१२७.

❖ ❖

परमार्थचर्चा
(अभिनवगुप्तपादानाम्)

अर्केन्दुदीपाद्यवभासभिन्नं नाभात्यतिव्याप्ततया ततश्च।
प्रकाशरूपं तदियत् प्रकाश्यप्रकाशताख्या व्यवहार एव।।१।।

ज्ञानाद्विभिन्नो न हि कश्चिदर्थस्तत्तत्कृतः संविदि नास्ति भेदः।
स्वयं प्रकाशाच्छतमैकधाम्नि प्रातिस्विकी नापि विभेदिता स्यात्।।२।।

इत्थं स्वसंविद्घन एक एव शिवः स विश्वस्य परः प्रकाशः।
तत्रापि भात्येव विचित्रशक्तौ ग्राह्यगृहीतृप्रविभागभेदः।।३।।

भेदः स चायं न ततो विभिन्नः स्वच्छन्दसुस्वच्छतमैकधाम्नः।
प्रासादहस्त्यश्वपयोदसिन्धुगिर्यादि यद्वन्मणिदर्पणादेः।।४।।

आदर्शकुक्षौ प्रतिबिम्बकारि सबिम्बकं स्याद्यदि मानसिद्धम्।
स्वच्छन्दसंविन्मुकुरान्तराले भावेषु हेत्वन्तरमस्ति नान्यत्।।५।।

संविद्घनस्तेन परस्त्वमेव त्वय्येव विश्वानि चकासति द्राक्।
स्फुरन्ति च त्वन्महसः प्रभावात् त्वमेव चैषां परमेश कर्ता।।६।।

इत्थं स्वसंवेदनमादिसिद्धमसाध्यमात्मानमनीशमीशम् ।
स्वशक्तिसंपूर्णमदेशकालं नित्यं विभुं भैरवनाथमीडे।।७।।

सद्वृत्तसप्तकमिदं गलितान्यचिन्ताः
सम्यक् स्मरन्ति हृदये परमार्थकामाः।
ते भैरवीयपरधाम मुहुर्विशन्ति
जानन्ति च त्रिजगतीपरमार्थचर्चाम्।।८।।

इति श्रीमदभिनवगुप्तविरचिता परमार्थचर्चा समाप्ता।

आह्निक - १८

तन्त्रालोक में प्रतिपादित शाम्भवोपाय

अध्यक्ष - प्रो. अमरनाथ पाण्डेय

पं. परमहंस मिश्र (प्रधान वक्ता)

यह एक विचित्र-सी समस्या है, विचित्र-सा अवसर है। हम बात करने जा रहे हैं शाम्भव स्तर की और हम सभी जी रहे हैं ऐसे स्तर पर जहाँ केवल अणुता का उल्लास है, जीव भाव की संकुचित वृत्तियों का विलास है तथा चारों ओर अनन्त असमाधेय विषमताओं का अट्टहास है। इस स्वतः प्राप्त अवसर का सदुपयोग करना है। हम सभी जीव भाव में हैं। हमारा लक्ष्य शिवभाव प्राप्त करना है। **शिव** ही शम्भु कहलाते हैं। शम्भु का भाव ही शाम्भवभाव है। जीव-भाव संकुचित भाव है। शिवभाव संकोच, अणुता, जड़ता से रहित होता है। जीव पर जड़ता का आवरण है। शिवभाव आवरण से उन्मुक्त शाम्भव भाव है। इस तरह हमारे सामने दो स्तर प्रत्यक्ष हो रहे हैं- १. आवरणभागांश का स्तर और २. अनावरणभागांश का उन्मुक्त स्तर। दोनों पक्षों पर विचार करना है।

पहले स्तर में ही सारे प्राणी जीवन के भौतिक आनन्द एवं अभाव की अनुभूतियों में खोये रहते हैं। दुःख-सुख, प्रतिकूलता-अनुकूलता, शत्रु-मित्र, ऊँच-नीच आदि की द्वन्द्वात्मकता के व्यामोह से मुग्ध जीव अपने आत्मभाव को विस्मृत कर अज्ञान का आलिङ्गन करता हुआ संसार में संसरण कर रहा है। जीव के ऊपर कला, विद्या, राग, काल और नियति के आवरण हैं। माया का ममत्व है और ज्ञेयतत्त्व की विस्मृतिरूप अज्ञानता का आवरण है। इसी आवरण भागांश की भित्ति पर संसार की नींव रखी हुई है। संसार के मोह-महल में हम जी रहे हैं। हमें क्रान्ति करनी है। क्रान्ति के लिये ज्ञान की ऊर्जा चाहिये, इच्छा शक्ति चाहिये और सभी क्रिया की अपार संभावनाएँ चाहिये।

हम शरीर तक सीमित नहीं रह सकते। हम केवल अस्थि, मेदस्, मांस के मसीहा नहीं रह सकते। हम सीमा के सीमित आयामों में जीवन का उत्सव नहीं मना सकते। हम जल, अग्नि और वायु के बहावों में नहीं बह सकते। हमें उन्मुक्त आकाश चाहिये। केवल मठाकाश नहीं, केवल मेघमाला के आडम्बरों में उत्तम्भित आकाश भी नहीं चाहिये। हम आरोह के शिखर पर आरूढ़ रह कर

चेतना के चिदाकाश में स्वात्म-महेश्वर के चमत्कारी वैचित्र्य का साक्षात्कार करना चाहते हैं। यह कैसे सम्भव होगा, यही सोचना है।

किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये साधनों की आवश्यकता होती है। दूषित और विकृत साधनों से सदुद्देश्य की सिद्धि नहीं होती। सदुद्देश्य के लिये सच्चे साधन चाहिये। उत्तम उपाय चाहिये। उपाय से ही उपेय की प्राप्ति हो सकती है। उपाय क्रिया पर निर्भर होते हैं। उपाय ही पुरुषार्थ को सिद्ध करते हैं। ये अनन्त हैं। अनन्त स्तरों के लिये उनके पृथक्-पृथक् स्वरूप होते हैं।

कोई अणुता के स्तर में जी रहा है। आणव आवेश में आविष्ट है। आणव भाव से भावित है। उसे आणव उपाय चाहिये। आणव उपायों से आवरणांश का निराकरण होता है। यह सौभाग्य मानना चाहिये कि इस आवेश का अपाकरण हो जाये। इसके लिये अकारण कृपालु, करुणा-वरुणालय परमेश्वर के अनुग्रह का आभार मानना चाहिये। उसे धन्यवाद देना चाहिये। पर सावधान, इसी स्तर पर सिमट के रह जाने का दुर्भाग्य हाथ न लग जाये।

आणव आवेश दूर कर ऊपर उठने के उपायों का प्रयोग अपेक्षित होना चाहिये। हमारे सौभाग्य से संसार का सिरजनहार केवल तीन स्तरों के ही आरोह-अवरोह के चक्र का संचालन करता है। शैव महाभाव के तादात्म्य-बोध की दशा जीवन्मुक्ति की दशा कहलाती है। यहाँ जीव शिवभाव में समाहित हो जाता है। वह साक्षात् **शिव** ही हो जाता है। यह आरोह का उच्च शिखर होता है। यहीं से अवरोह प्रारम्भ होता है। शिखर एकान्त है। अवरोह में एकान्त टूटता है। भीड़ बढ़ जाती है। भीड़ भी किसकी? पदार्थों की। शक्ति के उल्लास से उत्पन्न अनन्त अनन्त विकल्पों की। कहाँ कोई साधक निर्विकल्प शिखर पर महाव्योम की व्यापकता को आत्मसात् कर विराट् का अभिनन्दन करता है, वहीं नीचे उतरने पर अवरोह के वैकल्पिक ऊहापोह का वरण करने को विवश हो जाता है। अवरोह में दृष्टि बदल जाती है। प्रकाश की प्रधानता को ओझल कर आत्मा अज्ञान के अंचित चाकचिक्य में प्रकाश का अन्वेषण करने का आयास करता है।

वह और नीचे की ओर सरकता रहता है। अणुता में अणिमा को उपलब्ध होकर अपने आत्मभाव को ही भूल जाता है। इसी आणव भाव की भूलभुलैया की लाचारी में ही लालित्य का आकलन करने लगता है। यही आणवभाव है। यही आवेश होता है। इसी को हटाने के लिये आणवोपाय अपनाता है।

जो कुछ हो, कोई कुछ कहे? पर इसी भूमि से अणु आरोहण करता है। गुरु के अनुग्रह से उसके आणवभाव में आग लग जाती है। ज़िन्दगी की

आर्द्रता से उठने वाला धुआँ छँट जाता है। आग उसे ऊर्ध्व की ओर अग्रसर कर देती है। अपने शाक्त भाव से भी ऊपर उठता हुआ आत्म-महेश्वर शैव भाव से भावित होकर तादात्म्यबोध से उद्बुद्ध रहते हुए अपने 'स्व' भाव को उपलब्ध हो जाता है। आरोह और अवरोह के इस चक्र को पार करने के लिये ही उपायों का आश्रय लेना पड़ता है। आणवोपाय के बाद शाक्तोपाय से ऊपर उठने पर ही इस महाभावरूप शाम्भवभाव को स्थिर रखने के लिये शाम्भवोपाय की आवश्यकता होती है। जिस भाव में जी रहे होते हैं, उसी भाव के अनुकूल उपाय भी होना चाहिये। इसीलिये आणव आवेश को दूर करने के लिये हमें उसी के अनुकूल आणव उपाय की आवश्यकता और अपेक्षा होती है।

तीनों स्तरों के अन्तर को भी समझना आवश्यक है। आणव स्तर पर व्यक्ति रहता ही नहीं। वह अनुपस्थित रहता है। इसलिये शिष्य को जगाने के लिये सबसे पहले उसकी साँसों को ही उपाय के रूप में काम में लाते हैं। फिर उसकी इन्द्रियों, फिर उसके उच्चारण के द्वारा अर्थ को जानने के वर्णों को, फिर ध्यान; फिर उसके अस्तित्वबोध को जगाने के लिये ही इन्हीं पाँचों उपायों को काम में लाया जाता है।

शाक्तभाव में आणवोपायों का परित्याग कर शिष्य के अनन्त शक्ति-स्रोतों को जगाने वाले उपायों का आश्रय ग्रहण करते हैं किन्तु शाम्भव भाव में गुरुदेव सदा शाम्भव उपायों को ही आश्रय बनाने के और अभ्यास के क्रम में इसे ही अपनाने का आदेश देते हैं।

शम्भु-सम्बन्धी उपाय शाम्भवोपाय हैं। जब साधक अकिञ्चित् का चिन्तक बनकर साधना करता है तो वह शाम्भवोपाय की दशा में होता है। आणव और शाक्तोपाय के स्तर से ऊपर उठने पर अथवा उन्हीं उपायों में इच्छा की प्रबलता का भाव प्रमुख होने पर शाम्भवोपाय की भूमिका बनती है।

शैव तन्त्र में जीव को पशु कहा जाता है। यह और कुछ नहीं, **शिव** का अपनी ही इच्छा से ग्रहण किया गया रूप है। यह पशु घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील और जाति के आठ पाशों से बंधा है। इन आठों का अभिमान ही आज समाज में सर्वत्र प्रदूषण और अशान्ति फैला रहा है। जब हम सभी प्राणियों और जगत् को शिवरूप या आत्मरूप मानेंगे तो घृणा आदि का अभिमान नहीं करेंगे। **गीता** भी **यदश्नासि** के द्वारा इसी भाव का समर्थन करती है।

शाम्भवोपाय मुख्य उपाय है। इस स्तर पर शिष्य या साधक अपने अस्तित्व-बोध से ओत-प्रोत रहता है। वह स्वात्मरूप में स्वयम् उपस्थित रहता है। उसके होने का तात्पर्य है वर्त्तमान में अधिष्ठित होना। शाम्भवभाव का साधक वर्त्तमान में शाश्वतरूप से अधिष्ठित हो रहता है। वह कालजयी बन जाता है। उसके लिये भूत और भविष्य मर जाते हैं। वह निर्विकल्प व्योम में लीन रहता है। कुछ भी सोचता नहीं। सोच भी नहीं सकता। चिन्तन में चाञ्चल्य रह जाता है, किन्तु वह साधक अकिंचित् चिन्तन में रहता है। उसकी संवित्ति में बोध का उद्बुद्ध उल्लास नर्त्तन करता रहता है। शुद्धाहन्ता के परामर्श से सराबोर उसका अस्तित्व ब्रह्म के विलास का ही प्रतीक बन जाता है।

शाम्भवभाव में शाश्वत स्थिति ही जीवन का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये साधनभूत उपाय को ही शाम्भव उपाय कहते हैं। जैसा उपेय वैसा ही उपाय। अत: यह उपाय भी शाम्भवोपाय ही माना जाता है। गुरुपरम्परा में इसे इच्छोपाय या अभेदोपाय भी कहते हैं। अर्थ एक ही है। इच्छाशक्ति परमेश्वर की अनुग्रहशक्तिरूप ही होती है। इच्छा का उत्स एकमात्र **शिव** है। इच्छा के स्पन्दन की कृपालहरी वहीं से चलती है। भौतिकभाव में सामान्य लोग इसे अपनी इच्छा मान लेते हैं पर शिवभक्त साधक उसे प्रसादरूप में अनुभव करता है। कहा गया है–

उपायैर्न शिवो भाति, भान्ति ते तत्प्रसादतः।
स एवाहं स्वप्रकाशो, भासे विश्वस्वरूपकः।।

विवेक, २.२ पर उद्धृत

अर्थात् उपायों से **शिव** का भान नहीं होता। उपाय तो उसी पारमेश्वर-प्रसाद से भासित होते हैं। साधक उसी प्रसाद से यह अनुभव करता है कि मैं स्वयं स्वप्रकाश **शिव** ही हूँ। मैं **शिव** ही स्वयं भासित हो रहा हूँ और वह अनुभव करने लगता है

मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रविलीयते (प्रतिबिम्बितं
मदभिन्नमिदं सर्वं (त्रिधोपायः स शाम्भवः)

तन्त्रालोक, ३/२८०.

अर्थात् साधक शाम्भवभाव की तीन अनुभूतियों में जीवित रहता है। १. यह इदमात्मक **शिव**-प्रपञ्च मुझसे ही उदित है। २. यह मुझमें ही विलीन होता रहता है या प्रतिबिंबित है। (दर्पण हटा लेने पर प्रतिबिम्ब बिम्ब में ही विलीन भी होता

है) और ३. यह सर्वात्मक उल्लास मुझसे अभिन्न है। ये तीन स्वात्मानुभूतियाँ ही शैव-भाव में स्थिति का उपाय बन जातीं हैं। उपाय करते हुए साधक स्वयम् उपेय भाव में अपने अस्तित्व की भव्यता से विश्व को भावित कर लेता है। यही अभेदोपाय का महाभाव है।

इस तरह साधक सर्वोच्च शिखरारूढ़ की तरह ही अवस्थित-सा हो जाता है। उसका अहंभाव शरीरभाव नहीं होता। वहाँ मन अमन होता है। बुद्धि विलीन रहती है। प्राण अनन्य टहलुआ के समान, **भामती** की दीपशिखा के समान जलता रहता है। **भामती** के लेखक को इसकी क्या चिन्ता? साधना की इस भूमि पर **वशिष्ठ** का यह वचन चरितार्थ होता रहता है।

'आत्मज्योतिरहं शुक्लः सर्वज्योतिरसोहमोम्'

सन्ध्यास्तोत्र

तन्त्रसार ग्रन्थ में भी निर्विकल्प आत्मज्योति की अभेदता को स्वीकार किया गया है। **तन्त्रालोक** (१/२३९) तो '**अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवम्** की घोषणा ही करता है।

इसी अभेदभाव की भूमि पर बैठकर साधक स्वयम् भैरव भाव की भव्यता से भावित होता हुआ विश्व को भी इसी भाव की भव्यता से ओत प्रोत करता रहता है। **स्वच्छन्दतन्त्र** में एक कथा से ग्रन्थ का प्रवर्त्तन किया गया है-

"भगवान् **भैरव** कैलास शिखर पर विद्यमान हैं। वहाँ सारा देववर्ग भगवान् की वन्दना कर बैठ चुका है। वहाँ **नन्दी** हैं, **महाकाल, गणेश, वृष, भृङ्गी, कुमार कार्त्तिकेय, इन्द्र, यम, आदित्य, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र,** ईश्वर सभी शान्त बैठे हैं। इस दिव्य सभा में स्वयम् नित्य **शिव** से अवियुक्त माहेश्वरी शक्ति भी विराजमान हैं। स्वयं देवी देवाधिदेव महादेव से अपनी जिज्ञासाओं को प्रश्नरूप से उपस्थापित कर पूछती हैं। देवी के प्रश्नों से प्रसन्न भगवान् कहते हैं-

साधु साधु महाभागे यत्त्वया परिचोदितम्।
अनुग्रहाय मर्त्यानां साम्प्रतं कथयामि ते।।

स्वच्छन्दतन्त्र, १, पटल १/११.

इस कथा को आप अपने ऊपर घटाइये। कैलास शिखर-साधना की उच्च भूमि है। साधक उसी अभेद भाव में **भैरव** बन कर बैठ चुका है। उसकी सारी इन्द्रियाँ, मूलाधार की मौलिकता को महत्त्व प्रदान करने वाले **गणेश**,

आज्ञाचक्र में बैठे, **ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र** सभी वहाँ शान्त हैं। देवी संविद्मर्श की स्पन्दशक्ति है। संविद्विमर्श ही प्रश्न है और सारी अस्तित्वगत अभेदता ही उत्तर है। इसी प्रकार के प्रश्न और उत्तर से तन्त्र शास्त्र अवतरित होते हैं। शास्त्रों में वर्णित यही अभेदता साधक की साधना का निष्कर्ष है। इसी अभेदता को साधनापथ के पथिक उपाय बना लेते हैं और शाम्भवभाव के शैवभक्तियोग में शाश्वत प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

अन्त में मैं आपका इस कथा के माध्यम से आवाहन करता हूँ। आइये इस राजमार्ग के महाप्रकाश में अपने आवरणों को पहचानिये। उन्हें उतार फेंकिये। अपने 'स्व' को पहचान कर अपने जीवन को धन्य बनाने के लिये सन्नद्ध हो जाइये। कथ्य विषय महान् है। महा अमृत के इस महोदधि में खूब गोते लगाइये और कविवर बिहारी की उक्ति- **ज्यों ज्यों डूबे श्याम रंग त्यों त्यों उज्ज्वल होय** को चरितार्थ करते हुए **अब हरि हैं मैं नाहि** को निहितार्थ में समाहित होने का प्रयत्न करने का दृढ संकल्प ले लीजिये।

आप 'स्व' को सिद्ध करें और **एक ही साधै सब सधे, सब साधे सब जाय** की उक्ति पर ध्यान देकर एकमात्र स्वात्म को उपलब्ध करने में लग जाएँ। परमेश्वर शक्तिपात से आप पवित्र हो जाएँ।

अकिंचिच्चिन्तनादेव स्वयं देवः प्रकाशते।
स्वयं प्रकाशिते देवे तत्क्षणात्तन्मयो भवेत्।।

के अनुसार स्वयं प्रकाशित परमात्मा में तत्क्षण तल्लीन हो जाएँ।

ओम् नमः शिवायै। ॐ नमः शिवाय।

प्रो० कमलाकर मिश्र (टिप्पणी)

बाह्य अथवा भौतिक उपाय आणवोपाय है, मानसिक उपाय शाक्तोपाय और आध्यात्मिक उपाय शाम्भवोपाय है।

प्रो. अमरनाथ पाण्डेय (अध्यक्ष)

सोपानक्रम से पहला उपाय साधन और दूसरा साध्य बन जाता है और यही क्रम आगे चलता है। आणवोपाय में भेद-दृष्टि की, शाक्तोपाय में भेदाभेद दृष्टि की और शाम्भवोपाय में अभेद दृष्टि की प्रधानता है।

आह्निक - १९

त्रिविध उपायों में अन्तःसम्बन्ध

प्रो. कमलाकर मिश्र (प्रधान वक्ता)

तन्त्रशास्त्र में मोक्ष के तीन प्रधान उपाय बताये गए हैं- आणवोपाय, शाक्तोपाय और शाम्भवोपाय। ये तीनों वास्तव में उपायों की तीन कोटियाँ अथवा पिटारियाँ अथवा श्रेणियाँ हैं। इन उपायों में उन सभी का समावेश हो जाता है जिन्हें अन्य शास्त्र और सम्प्रदाय भी मानते हैं।

आणवोपाय को शारीरिक, बाह्य अथवा क्रियोपाय भी कह सकते हैं। पूजा, पाठ, योग, हठयोग आदि सभी उपायों को इसके अन्तर्गत श्रेणीबद्ध किया जा सकता है।

शाक्तोपाय- कुछ उपाय ऐसे हैं जिनमें हम बाह्य क्रियाओं, शारीरिक क्रियाओं आदि पर ध्यान न देकर मानसिक क्रियाओं जैसे ध्यान, जप, मनन आदि के द्वारा किसी वस्तु पर चित्त स्थिर करते हैं। यह मानसिक उपाय शाक्तोपाय कहा जाता है।

शाम्भवोपाय- बाह्य और आन्तरिक उपायों से ऊपर जो आध्यात्मिक स्तर के उपाय हैं उन्हें शाम्भवोपाय के अन्तर्गत माना जा सकता है।

इन तीनों के अतिरिक्त दो अन्य उपायों की भी चर्चा मिलती है- अनुपाय और प्रत्यभिज्ञोपाय। अनुपाय वस्तुतः अलग से कोई उपाय नहीं है, यह तो सभी उपायों का फल है। शाम्भवोपाय तक पहुँच कर जो फल मिला वह अनुपाय की अवस्था है और जो प्रत्यभिज्ञोपाय है वही वास्तव में इन तीनों उपायों की जान है। ये तीनों उपाय ऐसा क्या करते हैं और इनमें ऐसी क्या तार्किकता है जिससे इनमें से किसी भी उपाय के द्वारा उपेय की प्राप्ति होती है। इसके साथ ही यह भी विचारणीय है कि इन तीनों उपायों के बीच में क्या कोई तार्किक सम्बन्ध है अथवा इन्हें जोड़ने वाली कोई कड़ी है? इसका उत्तर है प्रत्यभिज्ञा।

आणवोपाय भी आत्मप्रत्यभिज्ञान कराता है, इसलिए उपाय बनता है। इसी तरह दूसरे भी हैं। किसी भी उपाय में उपायत्व तभी आएगा, यानि उसमें उपेय या साध्य को दिलाने की क्षमता तभी आयेगी जबकि उसमें प्रत्यभिज्ञा, आत्मप्रत्यभिज्ञा अथवा अपने स्वरूप की पहिचान कराने की क्षमता हो। अर्थात्

उपायों की भी उपायता प्रत्यभिज्ञा है। प्रत्यभिज्ञा ही वह सूत्र है जो इन तीनों को जोड़ता है।

जब उपाय की बात होगी तो उसके साथ उपेय की बात होना परमावश्यक है। उपेय यानी जो प्राप्तव्य है, जो साध्य है, लक्ष्य है, जहाँ पहुँचना है। उसको ही ध्यान में रखकर रास्ते (उपाय) का चुनाव होगा। उपेय अर्थात् अपने स्वरूप की प्राप्ति। यह सभी जानते हैं कि भारतीय परम्परा में जीवन का जो चरम लक्ष्य है, वह है- अपने वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति। तन्त्र की विशेषता इस विषय में यह है कि वह आत्मप्राप्ति की अवधारणा को निषेधात्मक नहीं मानता है। बल्कि सर्वग्राही मानता है। जो हमारा वास्तविक स्वरूप है, जिसको हम पाते हैं उस पाने में सब समाहित है, सब पाया जाता है। उसमें भौतिक, आध्यात्मिक और नैतिक, ये तीनों तरह के मूल्य आते हैं। भौतिक अर्थ में दो मूल्य आते हैं जिसको अर्थ और काम कहा गया है, ये भौतिक मूल्य या भौतिक पुरुषार्थ हैं। धर्म नैतिक पुरुषार्थ है और मोक्ष या मुक्ति या आत्मप्राप्ति को आध्यात्मिक पुरुषार्थ कहते हैं।

मोक्ष/आत्मप्राप्ति के विषय में तन्त्र की व्याख्या यह है कि तीनों पुरुषार्थ- धर्म के साथ-साथ अर्थ और काम भी अपने आप इसमें समाहित हैं। यानी मुक्ति में भुक्ति भी अपने आप समाहित है। दोनों के बीच खाई नहीं है, यह मान्यता तन्त्र की अपनी विशेषता है। सामान्यतया जहाँ भोग है, वहाँ मोक्ष नहीं, जहाँ मोक्ष है, वहाँ भोग नहीं। किन्तु जो श्रीसुन्दरी के उपासक हैं, तन्त्रमार्गी हैं उनके लिए दोनों एक साथ ही हैं। **पं. रामेश्वर झा जी,** मेरे गुरु (जो इस समय शरीर में नहीं हैं) कहा करते थे- साधारण लोग और दर्शन वाले ये कहा करते हैं कि भोग और मोक्ष में ३६ का सम्बन्ध है। कहने का तात्पर्य है कि जो भोग के रास्ते पर चलेगा वह मोक्ष के विपरीत हो जाएगा और जो मोक्ष के रास्ते पर चलेगा वह भोग के विपरीत हो जाएगा। गुरुजी कहते थे- हमारा जो तन्त्र का मार्ग है, वो ३६ का न होकर ६३ का मार्ग है, यानी दोनों के मुँह एक ओर हैं। दोनों में स्वाभाविक समझौता है। ये तन्त्र की बहुत बड़ी विशेषता है कि जो भौतिकता है वो भी आध्यात्मिक चेतना का ही स्वतन्त्र उल्लास है, स्वातन्त्र्य का विकास है या लीला-विलास कह लीजिए। यानी दोनों में यदि वैपरीत्य होता तो सोचिए कि **शिव** से ये सारी सृष्टि-लीला क्यों निकलती? भक्त की दृष्टि से कहें- तो अगर ये सृष्टि बुरी, खराब, त्याज्य होती तो भगवान् इतना सनकी है कि इतना बड़ा काम करता जिसको अन्त में छोड़ने के लिए सारा प्रयास करना पड़े? तन्त्र कहेगा- नहीं। गड़बड़ी हमारे मन में है। हमारा स्वार्थ है, अहंकार है

जो गड़बड़ी पैदा करता है, न कि जगत् गड़बड़ी करता है। तन्त्र की सबसे बड़ी विशेषता जिसे गुरुजी समझाते थे- कि प्रकृति के ही उपायों को, यानी जगत् में रहने वाले उपायों को लेकर, यानी जगत् की मिट्टी का ही उपयोग करके जगत् को जीतना है। अर्थात् ये उपाय ऐसे हैं, जिनको हमें छोड़ना नहीं है। इनको इस प्रकार बरतना है कि यह सारा जगत् ही उपेय की ओर ले जाने के लिए साधन बन जाता है, उपाय बन जाता है।

तन्त्र सिद्धान्त में अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा यह थोड़ा भेद है कि जहाँ मोक्ष या आत्मप्राप्ति में जगत् त्याज्य है, जागतिक मूल्य त्याज्य हैं ऐसी जो दूसरे सिद्धान्तों में बात मानी जाती है, वह तन्त्र नहीं मानता। वह उल्टा मानता है। वह कहता है- जितना हम मुक्ति के रास्ते पर बढ़ेंगे उतना ही संसार को हम और आत्मसात् करते चले जाएगें, उतना और उसको हम अपने में पचाते जाएँगे, क्योंकि ऐसा ही सत्य है। जगत् हमसे एकाकार है। जगदानन्द भी हमारे उस स्वरूप आनन्द का ही प्रकटीकरण है। जितना-जितना हम स्वरूप में चलते जाएँगे, उतना-उतना हम अनुभव करते जाएँगे। यह हमारा अङ्ग है, हमारा ही स्वरूप है- इतना समझते रहना चाहिए। आगे यह बताया गया है कि हम उपेय को पाए हुए हैं। नया कुछ पाना नहीं है। तब गड़बड़ी क्या हो गई कि हम भूल गए हैं, हमको उसका ज्ञान नहीं है। उसी का पुनः ज्ञान हो जाना कि वह तत्त्व हमारे भीतर ही है, वह हम हैं। इसी का नाम प्रत्यभिज्ञा/आत्मप्रत्यभिज्ञा है। अपने स्वरूप का ज्ञान/पहिचान हो जाना, यही असली उपाय है।

हमने जानबूझ कर (विषयान्तर करके) यह प्रश्न उठाया जो बहुत भ्रान्ति का विषय रहा है कि ज्ञान अर्थात् आत्मप्राप्ति होती है। वे बौद्धिक ज्ञान को ज्ञान मानते हैं। यानी यह जान जाना कि **शिवोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि** यह जानकारी हो जाना ही, यह उपाय है स्वरूप को पाने का। हम जानते ही नहीं हैं कि हम **शिव** हैं। हम असलियत जान जाएँगे तो स्वरूप को पा जाएँगे। यह कहा जाता है- ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं- **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।**

प्रश्न है कि क्या जान लेने; बौद्धिक दृष्टि से समझ लेने मात्र से स्वरूप की, शिवत्व या ब्रह्मत्व की प्राप्ति हो जाती है? उत्तर है- ऐसा नहीं दिखता। व्यवहार में भी नहीं दिखता। कक्षा में गुरु जी ने बता दिया- हम तो ब्रह्म ही हैं लेकिन उस जानने से विद्यार्थी या गुरुजी किसी को कुछ भी नहीं मिला। मतलब केवल इतना जान लेने से ही स्वरूप मिल जाता है कि हम **शिव** हैं, हम ब्रह्म

हैं तो फिर जितने दार्शनिक हैं, प्रोफेसर हैं, आचार्य हैं, पढ़ने वाले विद्यार्थी हैं वे मुक्त हो गए होते। किन्तु दिखता तो नहीं है, बल्कि कभी-कभी तो उलटा दिखता है- विद्वान् लोग और गहन अंधकार में रहते हैं।

तब इस प्रश्न का क्या उत्तर है कि ज्ञान से वह कैसे मिल जाएगा? इसी के उत्तर में तन्त्र ने कहा कि- दो तरह का अज्ञान है, फलत: दो तरह का ज्ञान होता है। एक अज्ञान को कहा बौद्ध अज्ञान और उसी को काटने वाले ज्ञान को कहा- बौद्ध ज्ञान। और दूसरी जो किस्म बताई उसको कहा पौरुष अज्ञान और उस पौरुष अज्ञान को खत्म करने वाले को कहा- पौरुष ज्ञान। **तन्त्रालोक** में इसकी चर्चा है, **जयरथ** ने अपनी टीका में भी बहुत साफ किया है। बुद्धि से जो अब तक नहीं जाना है वह किताब में पढ़ लिया, गुरु से श्रवण कर लिया- तो अब हमको ज्ञान हो गया। यह बौद्ध ज्ञान है। यह बौद्ध ज्ञान, बौद्ध (बुद्धि के) अज्ञान को नष्ट करेगा। परन्तु असली अज्ञान जो हमको शिवत्व से दूर किए हुए है, वही अज्ञान है, लेकिन उसको एक दूसरा नाम दिया- पौरुष अज्ञान। यह पौरुष अज्ञान- वह है जो व्यक्तित्व को ही बदल दे, पुरुष को ही, हमारे चैतन्य को ही बदल दे। उदाहरणार्थ- स्वप्न में हम सो जाते हैं और फिर स्वप्न से जागते हैं। तो हैं ये दोनों अज्ञान और ज्ञान की ही स्थिति। हम जो कुछ भी देखते हैं तो वह अज्ञान ही, झूठा ही देख रहे हैं, भले ही वह सच्चा दिख रहा है और जब हम जाग गए तो कुछ वास्तविक बदलाव नहीं हुआ। समझ का ही फेर था। जो नासमझी थी, सपने में वह नासमझी खत्म हो गई। तो यह ज्ञान तो हुआ। सपना अज्ञान था और जागना ज्ञान, लेकिन यह उस तरह का ज्ञान-अज्ञान नहीं है जो बौद्ध ज्ञान-अज्ञान होता है। हम शैव दर्शन, तन्त्र दर्शन नहीं जानते थे। यह नहीं जानते थे कि हमारा वास्तविक स्वरूप **शिव** है और हम अज्ञान के कारण अपना शिवत्व भूल गए हैं, यह यदि जान लें तो हम फिर से शिवत्व को पा लेंगे। यह तो बौद्ध अज्ञान से भिन्न है। क्योंकि बौद्ध ज्ञान या अज्ञान होने से हमारे व्यक्तित्व में परिवर्तन नहीं होता, हमारी चेतना की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता। सोने और जागने में चेतना में परिवर्तन हो जाता है। यह जो स्वरूप का विस्मरण है, जब कहते हैं- हम अपने शिवत्व को भूल गए हैं, उसका अज्ञान है, तो यह समझा जाए कि यह केवल बौद्ध अज्ञान है। यह पौरुष अज्ञान भी है। और जयरथ वहाँ टीका में कहते हैं जहाँ **अभिनवगुप्त** ने चर्चा की है- बौद्ध अज्ञान तो नष्ट हो जाएगा गुरु के वचन श्रवण करने से या ग्रन्थ पढ़ लेने से। लेकिन बिना दीक्षा आदि लिए, साधना किए और बिना

अपना मल धोए पौरुष ज्ञान नहीं आएगा या पौरुष अज्ञान नहीं मिटेगा। पौरुष अज्ञान मिटने के लिए पौरुष ज्ञान आना जरूरी है और पौरुष ज्ञान आने के लिए चेतना पर पड़े हुए मल का धुलना जरूरी है। इसके लिए साधना की, उपायों पर चलने की ज़रूरत है। यह मान्यता अन्य परम्पराओं (अद्वैत वेदान्त) में नहीं मिलती है। बौद्ध और पौरुष में भेद करना यह तन्त्र-परम्परा की ही विशेषता है।

बौद्ध ज्ञान भी उपाय है। यह न समझा जाए कि बौद्ध ज्ञान की अनुपयोगिता है। इसकी उपादेयता यह है कि वह हमारी बुद्धि में यह स्पष्ट कर देता है कि हमको क्या करना है और कैसे करना है। यह साफ होने पर ही हम जिस रास्ते पर जाना है, उसको पकड़ सकेंगे। इसलिए परम्परा है श्रवण, मनन, निदिध्यासन की। गुरु से सुन लिया या किताब से पढ़ लिया- वह श्रवण हुआ परन्तु उसके साथ ही मन में उसको विचार कर स्पष्ट किया (बौद्धिक दृष्टि से ही) वह हुआ मनन। मन/बुद्धि में स्पष्ट किए बिना हम निदिध्यासन नहीं कर पायेंगे कि हमें साधना क्या करनी है या ध्यान कौन सा करना है। इसलिए उपाय में स्पष्टता हो, निदिध्यासन में स्पष्टता हो इसके लिए श्रवण और मनन भी ज़रूरी है। इसलिए बौद्धिक ज्ञान व्यर्थ नहीं है। लेकिन पौरुष ज्ञान प्रधानरूप से मोक्ष का कारण है।

यह प्रक्रिया है नीचे से शुरु करने की- आणवोपाय, शाक्तोपाय फिर शाम्भवोपाय। और एक प्रक्रिया है ऊपर से शुरु करने की। बल्कि तन्त्रालोक में जो प्रक्रिया है, वो ऊपर से शुरु करने की है। यानी पहला अध्याय उपोद्घात/प्रस्तावना का है। दूसरा अध्याय अनुपाय का है और तब तीसरा अध्याय शाम्भवोपाय का है। उसके बाद वाला शाक्तोपाय और तब आणवोपाय का अध्याय है।

अनुपाय से शुरु करना ठीक है। क्योंकि अनुपाय इन उपायों के ऊपर कहा गया है। अनुपाय में यह बताया गया है कि यह सोचना कि तत्त्व को पाना है, यह बेवकूफ़ी है। क्योंकि तत्त्व तो पाया ही हुआ है। हमको कहीं आना-जाना नहीं है। इसलिए कुछ नहीं करना है।

तात्पर्य यह है कि वस्तुत: जिस अवस्था को पाना है वह अवस्था वस्तुत: ऐसी है कि अब हमको कुछ करना नहीं है। अर्थात् यह भी नहीं (जैसा कुछ सम्प्रदाय कहते हैं) कि मोक्ष की स्थिति में फिर क्रिया नहीं है। लेकिन तन्त्र के अनुसार क्रिया भी उसका स्वरूप है। लेकिन यह क्रिया तन्त्र में कर्म के स्वरूप से भिन्न है और इसलिए इन दोनों शब्दों का प्रयोग बहुत सावधानी से किया जाता है।

हम जानबूझ कर हमारे भीतर की कमी को पूरा करने के लिए कर्म करते हैं। वह कमी ब्रह्म में, **शिव** में नहीं है। वहाँ पूर्णता है। **शिव** में स्वाभाविक स्पन्दन रहता है। इसलिए मुक्ति की स्थिति में यह न समझा जाए कि हम निष्क्रिय रहते हैं। फ़र्क इतना रहता है वे सारी क्रियाएँ स्वतः होती हैं, हमको प्रयासपूर्वक करना नहीं पड़ता। जैसी जहाँ ज़रूरत है, वैसा वहाँ स्वाभाविकरूप में होता है। इसको आप कह सकते हैं- निष्क्रिय क्रिया (Actionless Activity) या सहज समाधि। वह जो आत्मप्राप्ति है वह निष्क्रिय अवस्था नहीं है। जो होना है वह अपने आप होता है। इसलिए अनुपाय की स्थिति में हमको कुछ करना/न करना- ये नहीं करना पड़ता, केवल अपनी सहजावस्था में रहना होता है और अपने-आप सारी क्रिया होती है। ये तो पहुँची हुई स्थिति में तब होता है अर्थात् जब तक मलावरण लगा हुआ है तब तक ये अनुपाय वाली स्थिति आ ही नहीं सकती। अर्थात् अनुपाय वाली स्थिति तो उपायों के द्वारा आत्मा को शुद्ध करके जब अन्तिम अवस्था में पहुँच जाते हैं तब वह स्थिति आती है।

गीता में भगवान् कहते हैं-

हमको सबका कर्ता जानो और उसी के साथ ये भी जानो कि मैं बिल्कुल अकर्ता हूँ। वह स्थिति सहज समाधि या अनुपाय की स्थिति है। हमारे देश में यह पूरी परम्परा है कि योग की, जैसे **योगवासिष्ठ** में- **भगवान् राम** को समझा रहे हैं, जैसे उपसम्प्रकरण में आया है कि **राम** तुम कैसे रहो इस जीवन में, कैसे जियो इस जीवन को? तो कहते हैं कि- बाहर से दिखे तुम प्रसन्न कर रहे हो (**बहिः कृतं संरम्भं हृदि संरम्भवर्जितः**) भीतर सरम्भ नहीं, कोई प्रयास नहीं। तो फल क्या हुआ। भीतर से अकर्ता और बाहर से तो कर्ता। **कबीर** जो कह रहे हैं सहज समाधि के ही सम्बन्ध से, कि सब कर्म हम ही कर रहे हैं और फिर भी हम सब कर्मों से परे हैं। तो यह कहने में Paradoxical है। लेकिन वस्तुतः यही स्थिति है। वहाँ हम सब कुछ करते हैं और कुछ नहीं करते अर्थात् सब अपने आप होता है। तुम हे। **राम**, इस रूप में विचरण करो और वहाँ बताते हैं- **(बहिस्तप्तो अन्तरा शीतः लोके विहर राघव)** बाहर से तप्त (क्रिया में) लेकिन भीतर से ठण्डा, इस प्रकार लोक में विचरण करो। यह वही स्थिति है, अनुपाय या सहज समाधि वाली या निष्क्रिय क्रिया कह लीजिए। अनुपाय इन उपायों की परिणति है, फल है न कि आगे ले जाने वाला उपाय है। उपेय-सहोदर है यह अनुपाय। वैसे एक जगह यह भी चर्चा आई है कि अनुपाय में अन्-ईशत् अर्थ में भी आता है। थोड़ा-सा छू दिया और हो गया। इसको भी अनुपाय कहते हैं।

सारी क्रियाओं को हम दो भागों में बाँटें- (१) सायास क्रिया या कर्म (२) जो अपने आप होता है (अनैच्छिक क्रिया)। अनैच्छिक क्रिया को आगे दो उपविभागों में बाँटें- (i) यान्त्रिक होने वाली क्रिया, (ii) स्वातन्त्र्यपूर्ण अपने आप होने वाली क्रिया। हमारे शरीर में कुछ क्रियाएँ यन्त्रवत् होती हैं जैसे- हृदय का धड़कना, पाचन आदि। इन सब में Reflax Activity है। पशुओं की ९९% क्रिया यान्त्रिक होती है। परन्तु स्पन्द क्रिया की विशेषता है कि वह अपने आप होती है। उसमें स्वातन्त्र्य है। हम चाहें तो न होने दें। आनन्द की स्थिति में वैसी क्रिया होती है। जैसे बच्चा खेलता है तो उस खेल के भीतर जो आनन्द है वही सहज व स्वाभाविक रूप से प्रकट होता है। लेकिन बच्चे की यह क्रिया पूरी तरह यान्त्रिक नहीं है, वह स्वयं चाहेगा तो रोक देगा। आनन्द में अन्य क्रियाएँ हम करते हैं तो नाचने-गाने लगते हैं। वह नाचना-गाना भी स्वत: स्फूर्त होता है। उसमें स्वातन्त्र्य भी होता है, हम चाहें तो रोक दें। यह शुद्ध रस की स्थिति है। इस स्थिति में कवि का काव्य प्रवाहित होता है। इसमें स्वातन्त्र्य होता है। इसमें बद्धता नहीं है कि हम नहीं चाहें तो भी होगा। अनुपाय वाली स्थिति स्वत:स्फूर्त स्पन्द की स्पन्दात्मक स्थिति है। इसीलिए **अभिनवगुप्त** का यह निर्देश है- कि करो और नहीं करो, ये दोनों छोड़ना है (**मा किञ्चित् त्यज मा गृहाण**)। इसी को योग की भाषा में कहें तो Relax की स्थिति है, सब अपने आप होना है जो ज़रुरी है। लेकिन इस स्थिति को पा लेना उतना आसान नहीं है। इसको पाने के लिए नीचे के उपायों को प्राप्त करना होगा।

अनुपाय के बाद शाम्भवोपाय है। शाम्भवोपाय में हम अपने स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा सीधे करते हैं अर्थात् अपने को **शिव** समझना अर्थात् सारी दुनिया को अपना समझना। मैं **शिव** हूँ मैं ब्रह्म हूँ यह कहने का अर्थ यह भी है कि तब सब कुछ मैं ही हूँ। इसको हम सागर और लहर के दृष्टान्त से देखें। जो ब्रह्म या **शिव** तत्त्व है वह सागर की भाँति है और जो हम जीव हैं वह भी हम **शिव** ही हैं- **शिव एव गृहीत पशुभावः**- **शिव**/पति ने ही पशु-भाव ले लिया यह बद्धभाव ले लिया, तो वही लहर हो गया, महासागर छोटा होकर लहर बना। हम सब जीव लहरें हैं और वह ब्रह्म या **शिव** तत्त्व महासागर है। लहरें, महासागर से एक हैं, हम वही महासागर हैं। किन्तु समझने की बात यह है कि लहर क्यों नहीं अपने को महासागर समझ पा रही है- अर्थात् जीव अपने को ब्रह्म क्यों नहीं समझ पा रहा है, क्योंकि उसने अपने को सागर से काट लिया, छोटा बन गई है यानि अब वह पूरे महासागर को मैं करके नहीं मान रही है। यदि लहर

अपने को महासागर मानना चाहेगी तो उसे दो बात करनी होगी- (i) उसको अपना अस्तित्व सागर में विलीन करना होगा या अपना अहं सम्पूर्णरूप से गला देना होगा। यह जो अपने को सीमित्र या छोटा मान लेना है, इसी का नाम ही- अणुत्व है। अणु **शिव** ही है। इसलिए जब वह **शिवोऽहम्** कहेगी तो मैं लहर हूँ ये बात खत्म हो जाएगी। **कबीर** ने भी कहा है- **जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहीं। प्रेम गली अति सांकरी ता में दो न समाए।** जब लहर अपने अहंकार को विलीन करके महासागर हो गई तब उसको यह ज्ञान हो गया कि सभी लहरें मैं ही हूँ। शाम्भवोपाय में अपने अहं को सीधे गला दिया जाता है। सीधे गलाने के भी दो अर्थ हैं- (i) भक्ति के अर्थ में कि सीधे अहंकार का समर्पण कर दिया। (ii) ज्ञानमार्ग है, सभी लहरों में या सभी लहरों को अपना देखना। इससे भी हमारा अहं गलता है। इसीलिए **तन्त्रालोक** में शाम्भवोपाय के सन्दर्भ में कहा गया है कि तीनों बातें करनी हैं-

मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम्।
मदभिन्नमिदं च........................।।

विवेक, २.३५ में उद्धृत

यह सारा जगत् मुझसे ही निकला है और मुझमें ही प्रतिबिम्बित हो रहा है। यह जगत् मेरे ही चैतन्य में चल रहा है और मुझसे एकाकार है। ऐसे जो तीनों मार्ग हैं वे शाम्भवोपाय-मार्ग कहलाते हैं। अर्थात् सर्वात्मभाव लाना, यही अहं को गलाने का सीधा उपाय है। क्योंकि जिस अहं को गलाना है उसमें दूसरे से हम अपने को काट लेते हैं। यही हमको अपने में सीमित करता है। इसीलिए **अभिनवगुप्त** ने **तन्त्रालोक** में अज्ञान की जो परिभाषा दी है, वही अद्वैत वेदान्त में भी है- **द्वैतप्रथा तद् अज्ञानं तुच्छत्वात् बन्ध उच्यते।** द्वैतभाव अर्थात् परायापन और इससे उलटा प्रेम कहते हैं। दूसरे के साथ तादात्म्य हो जाता है कि सब मुझसे अभेद में है यह जो भाव है यह Universal Love है, यही अद्वैत बुद्धि है। यही अद्वैत भाव ज्ञान है जो उस स्वरूप के पौरुष अज्ञान को काटेगा और पौरुष ज्ञान लाएगा यानी जिसके हृदय में सबके लिए प्यार है, सबके लिए अपनत्व है।

जब जानेगा कि सभी हमारे हैं तो सबका कल्याण चाहेगा तब यह जो ज्ञान होगा, यह शाम्भवोपाय है। यानी स्वरूप को पाना यानी सारी दुनिया को अपने में पा लेना।

तान्त्रिक यज्ञ है- चेतना की भट्टी में सारे जगत् की आहुति डाल देना अर्थात् अपने चैतन्य में यह देख लेना कि सारा जगत् मैं ही हूँ। अर्थात् सर्वात्मभाव लाना है। ये अलगाव दिखते हुए भी कोई अलगाव नहीं है। विकल्प रहते हुए भी मुक्ति की अवस्था में कोई बाधा नही होती, शिवत्व की अवस्था में कोई बाधा नहीं होती।

यहाँ फिर अद्वैत वेदान्त से थोड़ा भेद हो जाएगा। वहाँ कहते हैं कि द्वैत अगर सामने दिखता है तो कैसे मुक्ति होगी? **प्रत्यभिज्ञाकारिका** में **उत्पलदेव** ने स्पष्ट किया है।

सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानत:।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता।।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, तत्त्वसंग्रहाधिकार, १.१२

अर्थात् विकल्प या द्वैतभाव जो दिख रहा है लेकिन इसके दिखने से कोई हानि नहीं है। हानि है इसको पराया समझने से। इस बिखराव में भी उसकी महेशता, उसकी शिवता है। द्वैत का होना बन्धन नहीं है, द्वैत समझना बन्धन है। द्वैत समझने का भाव हटना यही मुक्ति देने वाला तत्त्व है। **तुलसीदास** ने कहा- हम जो कह रहे हैं वह आगम-निगम दोनों से सम्मत है। तन्त्र सभी परम्पराओं में कहीं न कहीं घुसा हुआ है वह जो माया की परिभाषा दे रहे हैं वह भी इसी परम्परा वाली है। "मैं और मोर, तोर तै - माया। दोनों एक है। शाम्भवोपाय- इस द्वैतभाव को समाप्त कर अद्वैत भाव में चले जाना है।

शाम्भवोपाय के नीचे शाक्तोपाय है। जो बात शाम्भवोपाय में कही गई उस बात को शाक्तोपाय की स्थिति में सीधे करने में हम सक्षम नहीं होते। इसलिए इस शाक्तोपाय की अवस्था में हम उसको बार-बार मन में दुहराते/भावना करते हैं। जो बैठ कर बार-बार भावना/ध्यान नहीं कर सकते जिनको ये बाह्य क्रिया ही समझ में आती है कि हम जाकर शिवलिंग की पूजा करेंगे, तभी शिवत्व की प्राप्ति होगी, पूजा-पाठ करेंगे, योग की भाषा में कहें हठयोग आदि करेंगे, तो उसके लिए कहा गया- आणवोपाय से शुरु करो।

शाक्तोपाय और शाम्भवोपाय की तरह आणवोपाय भी सीधा उपेय तक ले जाता है। क्योंकि यह विश्वरूप की प्रत्यभिज्ञा कराता है। जब हम सारे जगत् में **शिव** को देखते हैं, दूसरे शब्दों में, बाह्य क्रिया में भी हम शिवता को ही लाकर वहाँ देखते हैं, तभी उपाय-क्रिया सफल होती है। इसीलिए भारतीय या

तन्त्र की परम्परा में हर वस्तु को भगवान् मानकर पूजा जाता है। जीव-अजीव, पत्थर सभी **शिव** हैं। उसी प्रकार मानवीय सम्बन्धों में भी हम शिवता/भगवत्ता देखते हैं- गुरु, माता, पिता, बालक सभी भगवान् हैं। तन्त्र में कहा- स्त्री के लिए पुरुष **शिव** तथा पुरुष के लिए स्त्री शक्ति है। आणवोपाय में, जहाँ बाह्य पूजा हो रही है- शिवभाव अन्तरभाव लेकर पूजा हो रही है कि सबमें **शिव** है और वही **शिव** हमारा अपना स्वरूप है। वही स्वरूप सबमें देख रहे हैं तो यहाँ आणवोपाय-प्रत्यभिज्ञा आ रही है। हम स्वरूप को ही देख रहे हैं। आणवोपाय में वही आत्मप्रत्यभिज्ञा/भगवत्प्रत्यभिज्ञा है। दोनों एक हैं। भगवान् मेरा ही बड़ा 'मैं' है।

आणवोपाय, शाक्तोपाय और शाम्भवोपाय में जो एकता है वह आत्मप्रत्यभिज्ञा ही है। उस शिवत्व, उस परमआत्म तत्त्व को वही दिलाता है। इसलिए आणवोपाय भी उपाय बनता है, शाक्तोपाय व शाम्भवोपाय भी उपाय बनते हैं और अन्त में जो स्थिति आती है उसका नाम- अनुपाय है।

डॉ. उर्मिला शर्मा (टिप्पणी)

लाया है तू ही, द्वार पे तेरे, तुझे तारना है तो तार,
तेरे को तू ही तारना चाहे तो तार,
तू ही जाने क्यों सिरजा यह सारा जग व्यवहार,
सहस नयन क्यों मूंदे तूने लगता अंध आकार,
ओ! परमारथ, तुझसे प्रतिभासित, क्यों मिथ्या व्यापार,
विवश हुआ क्यों, खोज न पाता निजानन्द आगार,
विवश हुआ क्यों, खोल न पाता निज-रस निधि के द्वार,
लाया है तू ही, द्वार पे तेरे, तुझे तारना है तो तार!

श्री सुधाकर तिवारी (प्रश्न)

जिस देश में इतना ज्ञान का भण्डार पड़ा हुआ है, फिर हम इतने अज्ञान में क्यों हैं? सभी अपने हैं, फिर आज क्यूँ पराए से दिखाई पड़ रहे हैं? ज्ञान की परिधि में अज्ञान भी मिश्रितरूप से जमा है क्या? महर्षियों से ज्ञान की किरणें आई हैं, फिर इतना अज्ञान क्यों छाया हुआ है?

प्रो. कमलाकर मिश्र (उत्तर)

यह प्रश्न इतिहास का यक्ष-प्रश्न है जो मुझे भी काटता रहता है। इतनी समुन्नत संस्कृति के होते हुए भी भारतवर्ष में क्यों इतना अध:पतन

हुआ? विदेशियों का आक्रमण हुआ। आज भी हम उस मानसिकता से उबरे नहीं हैं? ऐसा क्यों हो रहा है? इसके उत्तर में एक बात समझ में आती है कि- कुछ गतिविधियाँ ऐसी होती हैं जैसे समय की हवा। राजनीतिक गतिविधियों की एक हवा थी जो अपने आप चलने लगी, नेता पैदा हुए। लेकिन जो ज्ञान की शिक्षा है, ज्ञान देना, इसकी हवा नहीं होती। इसको सतत करना पड़ता है और इसको करने में यानी उसकी ऐसी मशीनरी बनानी पड़ती है जिसमें चूक न हो। और हम स्पष्ट कर दें- यदि हम पिता की पीढ़ी से हैं तो हमारा कर्तव्य है कि पुत्र-पुत्रियों की पीढ़ी को ज्ञान दें। कहीं न कहीं पुरानी पीढ़ी नई पीढ़ी को ज्ञान देने में पीछे रह गई है, ये उसका ऐतिहासिक कारण हो सकता है। इसी के साथ दूसरी बात जुड़ी हुई है कि सत्य को प्रत्येक आदमी ग्रहण करता है। हम लोग उपदेश देते हैं तो झूठ बोलते हैं। झूठ बोलने का यह अर्थ नहीं कि हम झूठ बोलते हैं। अगर अनुभव करके बोलें तब तो ये एकदम सत्य बात समझ में आएगी कि दूसरे को अपना समझें। बिना प्यार किए हम सुखी नहीं हो सकते।

प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी (टिप्पणी)

भारतीय तन्त्रशास्त्र अगाध समुद्र है जिसमें ज्ञान, विज्ञान और अध्यात्म के अनेक रहस्य भरे पड़े हैं। इसमें व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन के पूर्ण कल्याण का सनातन मार्ग उपलब्ध है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि पूरी आस्था, प्रज्ञा और अनुभूति से इसका मन्थन किया जाए।

आचार्य **अभिनवगुप्त** का **तन्त्रालोक** ऐसा ही विश्वकोष है जिसके माध्यम से सभी भारतीय शास्त्रों और विद्याओं का आलोडन सम्भव है।

जिज्ञासुओं और साधकों का स्तर भिन्न-भिन्न है। सब अलग-अलग बिन्दुओं से अपनी बात प्रारम्भ करते हैं। इसलिए उपायों की अनेकता स्वाभाविक है।

तन्त्र संसार को शिवमय मानता है। **मालिनीविजयोत्तरतन्त्र** में यह नर, शक्ति और **शिव, योगिनीहृदय** में परा, अपरा और परापरा है और **तन्त्रराज** में साधक, सिद्धि और सिद्ध है। इसी तरह उपाय की दृष्टि से यह त्रिपुटी आणव, शाक्त और शाम्भव है। तीन होने पर चौथा उपाय अपने आप आ जाता है जिसे अनुपाय कहते हैं। शाम्भवोपाय में निष्कल दशा को **ख**, शाक्तोपाय में धाम तथा आणवोपाय में **रशनाद** कहते हैं। शक्ति सभी उपायों में विद्यमान रहती है। उपायों को देखने की तार्किक दृष्टि बुरी नहीं है- **तर्को योगाङ्गमुत्तमम्** किन्तु तर्कातीत तत्त्व को तर्क से पकड़ने में खतरा है। इसमें बहुत कुछ छूट भी तो जाता है। क्योंकि तत्त्व भौतिक होने के साथ ही आध्यात्मिक भी है।

तन्त्र में श्रीचक्रपूजन का वास्तविक अर्थ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की अभेद-भावना है। सभी तन्त्रसम्प्रदाय साधना की महत्ता को स्वीकार करते हैं। किन्तु उनमें मन्त्रों के विनियोग का क्रम भिन्न हो सकता है।

शाम्भवोपाय स्वरूप के प्रत्यभिज्ञान का सीधा उपाय है। इसमें दो मार्ग हैं भक्ति और ज्ञान। सभी को भगवान् मानकर आत्मसात् करना भक्ति है और बौद्ध तथा पौरुष अज्ञान को इन्हीं के ज्ञान से नष्ट करना ज्ञान (मार्ग) है।

शैव तन्त्रशास्त्र में नारी को शक्तिस्वरूपा माना गया है और उसकी सृजनशीलता, करुणा आदि दिव्य गुणों के कारण उसे मोक्ष की सिद्धि, पुरुष की अपेक्षा सरलता से हो जाती है।

आत्मस्वरूप का प्रत्यभिज्ञान तन्त्र के अनुसार जीवन का परम लक्ष्य है। आणव, शाक्त एवं शाम्भव उपायों का फल अनुपाय है। किन्तु तीन उपाय भी उपाय तभी बनते हैं जब इनको जोड़ने वाला अन्तःसूत्र प्रत्यभिज्ञान हो।

जैसे-जैसे साधक अपने स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान करता जाएगा वैसे-वैसे वह संसार को आत्मसात् करता जाएगा। इस तरह शैव तन्त्र के अनुसार जगत् को मोक्ष की प्रक्रिया में छोड़ना नहीं है बल्कि उसे अपना अभिन्न स्वरूप मानकर आत्मसात् करना है। इस दृष्टि से पूरा जगत् तन्त्र में मुक्ति का उपाय बन जाता है।

भावना के अनुसार भाव होता है। विभिन्न भाव-वर्गों की परम्परा, संगति पूजा है। संवित् में इस प्रकार की निर्मलता है कि इसमें रूप, गन्ध आदि सभी प्रतिबिम्बित होते हैं। इसीलिए इसमें प्रतिबिम्बवाद का प्रतिपादन किया गया है।

यह बिना बिम्बवाला प्रतिबिम्बवाद है। शाम्भवोपाय में **शिव** और शैतान समान है।

- संसार विकल्पात्मक है और इसका संस्कार अविकल्पात्मकता है।
- मन्त्र, मुद्रा, क्रिया उपासनाएँ शाम्भवोपाय में नहीं।
- संसरण को समझने वाला बौद्ध है और इस संसरण से ऊपर विचार करने वाला शैव है।
- तन्त्रशास्त्र में **रुद्र** भेद का, **शिव** भेदाभेद का और **भैरव** अभेद का प्रतीक है। यहाँ ज्ञानानुभूति ही मुक्ति है। निर्विकल्पभाव में बैठने का ही दूसरा नाम जीवन्मुक्ति है।
- **गीता** की सर्वशास्त्रमान्यता का रहस्य है अहन्ता।

- उपायों का व्याख्यान व्यवहार की दृष्टि से किया गया है, परमार्थ की दृष्टि से नहीं।
- **शिव** स्वात्मप्रच्छादनक्रीडा में पण्डित है। **शिव** और अणु में सङ्कोच का भेद है। अ पूर्ण **शिव** है।
- शाक्त समावेश में मातृभाव में समावेश होता है। यही स्वरूपानुप्रवेश या स्वात्मानुसन्धान है।
- मन को नियन्त्रित करने की कला अपने आप में सरल है। इससे मनुष्य में देवत्व का आधान करना वास्तविक स्वभाव सिद्ध होता है।
- सत्तर्क कुठार की तरह है। इसकी गर्जना भयङ्कर है।

डॉ. मार्क (टिप्पणी)

विषय हमें बाँधते हैं। मन सत् में नहीं रह सकता क्योंकि वह चञ्चल है। आधुनिक युग में तन्त्र के दो बड़े साधक हुए हैं श्रीनगर के **आचार्य लक्ष्मणजू** और **पूर्णताप्रत्यभिज्ञा** के लेखक **आचार्य रामेश्वर झा**। इनकी रचनाओं और साधनाओं में प्राचीन परम्परा को प्रामाणिकरूप में जीवित देखा जा सकता है।

डॉ. बेटिना (टिप्पणी)

जिज्ञासा हुई थी कि अवरोह क्रम से तत्त्वों का उपदेश क्यों दिया गया? गुरुवर **लक्ष्मण जू** ने समाधान दिया था कि ऐसा जीवन्मुक्त की दृष्टि से है, शिष्यों को शक्तिपात देने के लिए, उसका लाभ देने के लिए है ताकि शिष्य भी शिवरूप को अनुभूति कर सकें।

❖ ❖

उच्चैर्ब्रह्माण्डखण्डद्वितयसहचरं कुम्भयुग्मं दधानः
प्रेषन्नागारिपक्षप्रतिभटविकटश्रोत्रतालाभिरामः ।
देवः शम्भोरपत्यं भुजगपतितनुस्पर्द्धिवर्धिष्णुहस्त-
स्त्रैलोक्याश्चर्यमूर्तिर्जयति त्रिजगतामीश्वरः कुञ्जरास्यः।।

गणेशस्तोत्रम्.

आह्निक - २०

श्रीः

।।अनुपाय-स्वरूप-विमर्शः।।

डॉ. कमलेश झा (प्रधान वक्ता)

अनुत्तरं परं देवं स्वतन्त्रं चिन्मयाऽद्वयम्।
निराशंसं निजानन्दं वन्दे स्वात्ममहेश्वरम्।। पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १

शिवाद्वयनये भगवान् शिवः स्वस्मिन् स्वाभिन्नस्वातन्त्र्यशक्त्या आभासमात्रसारं स्वाव्यतिरिक्तमपि स्वतोऽन्योन्यतश्च व्यतिरिक्तत्वेनेव जगदाभासयति विलापयति च। भगवान् शिव इति वा भगवती संविदिति वा अनाख्येत्युच्यतां नास्ति कश्चन भेदः। तदेतत्परमाद्वयोपदेशप्रतिपादकमेव शास्त्रं शिव-सद्भावलाभैकफलम्। तत्सारं च त्रिकशास्त्रम्। यदुक्तम्-

वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम्।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम्।। इति।

विवेक, ४.४९ पर उद्धृत

तच्च सिद्धा-नामक-मालिन्याख्यखण्डत्रयात्मकत्वात् त्रिविधम्। तत्र क्रियाप्रधानं सिद्धातन्त्रं, ज्ञानप्रधानं नामकं तन्त्रम्। तदुभयमयं मालिनीमतं, तदेतन्मुख्यम्- यदाह- तत्सारं मालिनीमतम्- इति।

अज्ञानं संसृतेर्हेतुः ज्ञानं मोक्षैककारणमित्यत्र सर्ववादिनामविप्रतिपत्तिः। श्रीमालिनीविजयोत्तरे प्रोक्तम्- मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम्- इति।

अज्ञानं नाम- अपूर्णं ज्ञानम्। तच्च पारमेश्वर-स्वातन्त्र्यमात्रसमुल्लासितस्वरूप-गोपनासतत्त्वम्, आत्मानात्मनोरन्यथाभिमानस्वभावम्- तदेतदाणवं मलमित्युच्यते।

अयमाशयः:- अज्ञानात्मनो मलस्य पौरुष-बौद्ध-भेदेन द्वैविध्यम्। तत्र दुरध्यवसायरूपं बौद्धं मलं न कर्मणः कारणम्, अपितु कर्मैव बौद्धाज्ञानस्य कारणम्। दीक्षादिना उदितेन पौरूषेण ज्ञानेन पौरुषस्य अज्ञानात्मनो मलस्य संसृतिहेतोः निवृत्त्या अन्यनिरपेक्षतया मोक्षसाधनत्वं पौरुषज्ञानस्येति निश्चीयते।

पूर्णस्वरूपस्यात्मनोऽख्यातिरज्ञानम्। तदेतदाणवं मलम्। तच्च अख्यात्यभावात्मपूर्णख्यातिस्वरूपेण पौरुषज्ञानेनापाक्रियते। पूर्णा ख्यातिरेव प्रकाशानन्दघनस्यात्मनः तात्त्विकं स्वरूपम्, तत्प्रथनमेव तु मोक्षः।

ज्ञानाभावो नाज्ञानं लोष्टादेरपि संसृतिप्रसङ्गात्।
अपि त्वात्मनः सामस्त्येनाप्रथनात्मकं ज्ञानमेवाज्ञानम्।

अत्रायं निर्गलितोर्थः- इह किञ्चिदपि अचेतितं न भवति तत एव च सर्वसामान्यं चितिक्रिया। चेतयतीति चेतनः पूर्णज्ञानक्रियावान्। तस्य भावः चैतन्यं पूर्णज्ञानक्रियावत्त्वम्। तदेव च शिवस्वभावं स्वातन्त्र्यमित्युच्यते। तेनैव स्वातन्त्र्येण संविदद्वैतात्मनः पूर्णस्य रूपस्य अख्यानाद् द्वैतप्रथा जायते, सैषा अज्ञानम् अर्थात् अपूर्णं ज्ञानमित्याख्यायते। तदेव च त्रैविध्यं भजमाना भाति अपूर्णम्मन्यता एका, शुभाशुभवासनात्मिका द्वितीया शरीरभुवनाकारस्वभावविविधसंकुचितज्ञानरूपा तृतीया। एतन्मलत्रयात्मा बन्धः। तदेतन्मलत्रयं सर्वथा हेयम्। यदुक्तम्-

मलं कर्म च मायीयमाणवमखिलंच यत्।।
सर्वं हेयमिति प्रोक्तम्.......... इति।।

विवेक, आह्निक, १.३०

तदेतत् चैतन्यमात्माऽज्ञानं बन्ध इति अकारप्रश्लेषेण आवृत्त्या अपूर्णज्ञानस्य बन्धरूपतावसीयते। आत्मनः पूर्णं ज्ञानम्, अपूर्णज्ञानरूपमज्ञानं हन्ति। पूर्णं चात्मज्ञानमेव मोक्षः।

यथाहुरभिनवगुरवः-

स्वतन्त्रात्मातिरिक्तस्तु तुच्छोऽतुच्छोपि कश्चन।
न मोक्षो नाम तन्नास्य पृथङ्नामापि गृह्यते।। इति।

तन्त्रालोक, १.३१.

एतदुक्तं भवति- परमेश्वर एव स्वस्वातन्त्र्यात् पूर्णज्ञत्वसर्वकर्तृत्वाद्यपहस्तनेन अख्यात्यात्मकाणवमलाविर्भावेन स्वात्मानमावृणोति। मलविजृम्भणमपि स्वस्वातन्त्र्यान्नातिरिक्तं किञ्चित्। परमेश्वर एवहि सर्वज्ञताद्यपहस्तनेन अणुतां प्रापितान् स्वात्मनः कलादिना योजयति। तथा च कालकलानियतिबलाद् रागाविद्यावशेन संबद्धः अणुः मायया सहितं कञ्चुकषट्कमन्तरङ्गावरणमङ्गीकुरुते।

दीक्षया आत्मनः पूर्णज्ञाने सति पौरुषं मलमज्ञानात्मकं नश्यति- इदं शरीरारम्भकस्य कार्ममलस्य सद्भावात् वर्तमानशरीरपाते पूर्णताख्या शिवता अवाप्यते। यथोक्तम्-

प्रारब्धमेकं न शोधयेत्,
देहपाते शिवं व्रजेत्,
दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि। इति।
दीक्षया पौरुषज्ञानेन पौरुषाज्ञाननिवृतौ बौद्धज्ञानेन
बौद्धाज्ञाननिवृतौ तु जीवन्मुक्तिः प्रविजृम्भते।

विवेक, १.४३ में उद्धृत

यथोक्तम्-

बौद्धज्ञानेन तु यदा बौद्धमज्ञानजृम्भितम्।
विलीयते तदा जीवन्मुक्तिः करतले स्थिता।। तन्त्रालोक, १.४४.

तीव्रतमशक्तिपातादौ अनुपायादिना दीक्षायां सत्यां तु तत्कालमेवापवर्गो जायते। यथाहुः

तत्सम्बन्धात् ततः कश्चित् तत्क्षणादपवृज्यते। इति।

विवेक, १.४३ में उद्धृत

भावाभावस्वरूपस्य जगतः शिव एव प्रकाशात्मकः प्रमाता स्वभावभूतश्चकास्ति। यथोक्तम्-

प्रकाश एव भावानां स्वभावः सर्वसम्मतः। इति

पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, २०

आदिसिद्धे प्रकाशात्मनि शिवे मानप्राणान् वितन्वति मानकल्पनं नोपयुज्यते। यथाहुः-

तस्य देवातिदेवस्य परापेक्षा न विद्यते।
परस्य तदपेक्षत्वात् स्वतन्त्रोऽयमतः स्थितः।।

ईश्वराद्वयवादे नेश्वरादतिरिक्ता स्वातन्त्र्यशक्तिः, नवा शक्तीनां परस्परं भेदः इति शक्ति-शक्तिमत्परिकल्पने क्रियमाणेपि अद्वयमयो विभुरेव राराजते इति न काचिदद्वय-खण्डना समुदेति। यथोक्तम् -

शक्तिश्च नाम भावस्य स्वं रूपं मातृकल्पितम्।
तेनाद्वयः स एवापि शक्तिमत्परिकल्पने।।६९।।
मातृक्लृप्ते हि देवस्य तत्र तत्र वपुष्यलम्।
को भेदो वस्तुतो वह्नेर्दग्धृपक्तृत्वयोरिव।। इति।

तन्त्रालोक, १.७०

स्वातन्त्र्यपूर्णः परमेश्वरः तेन तेन सर्वरूपेण भासमानश्चकास्ति। निरावृतः आवृतः आवृतानावृतश्चासौ परा, परापराऽपरा स्वरूपेण भाति शिवः। यथाहुः-

एवं स्वातन्त्र्यपूर्णत्वादति-दुर्घटकार्ययम्।
केन नाम न रूपेण भासते परमेश्वरः।।९२।।
निरावरणमाभाति भात्यावृतनिजात्मकः।
आवृतानावृतो भाति बहुधा भेदसंगमात्। तन्त्रालोक, १.९३

पारमेश्वरं रूपं पूर्णत्वापूर्णत्वरूपयोः परिसमाप्यते-

विश्वभावैकभावात्मस्वरूपप्रथनं हि यत्।
अणूनां तत्परं ज्ञानं तदन्यदपरं बहु।। वही, १.१४१

परप्रकाशात्मा शिव एव उपेयः, स च सर्वत एवावभासते- तस्य क्वचिदपि अनपायात्। अत एव अज्ञानज्ञापकानामुपायानां नात्र किंचित् प्रयोजनम्। यथोक्तम्-

अपरोक्षे भवत्तत्त्वे सर्वतः प्रकटे स्थिते।
यैरुपायाः प्रतन्यन्ते नूनं त्वां न विदन्ति ते।।
विवेक, १.१४५ में उद्धृत

स्थौल्यकृतोऽयं विभ्रमो नाम- यद् इदमुपेयम्, अयमुपाय इति। स्थौल्यं नाम- चिदानन्दैकघनपरसूक्ष्मस्वरूपनिमज्जनाद् अनन्त-ग्राह्यग्राहकात्मना भेदेन उल्लसनम्। एतदेव च अनुपायतया प्रोच्यते। यत्तु उपायतया सम्मतं तत् त्रिधा विभज्यते। अत्र उपायान्तरनिरपेक्षः अव्यवधानेच्छाशक्तिस्फाररूपः शाम्भव उपायः प्रथमः। इत्थमेव इदमिति विकल्प्यमानमात्मस्वरूपपरामर्शमाकलयन् ज्ञानशक्तिस्फारात्मकः शाक्त उपायो द्वितीयः।

उच्चारकरणादिक्रियाशक्तिस्फारात्मकः आणव उपायस्तृतीयः।

क्रियाप्येषा ज्ञानात्र भिद्यते। यथाहुः-

योगो नान्यः क्रिया नान्या तत्त्वारूढा हि या मतिः।
स्वचित्तवासनाशान्तौ सा क्रियेत्यभिधीयते।। इति।
तन्त्रालोक, १.१५१

ननु आत्मज्ञानातिरिक्तो मोक्षो नास्ति, ज्ञानमेव विमोक्षाय- इति वचनद्वय-विरोधः कथं परिहरणीय इति जिज्ञायासामुक्तम्-

मोक्षो हि नाम नैवान्य; स्वरूपप्रथनं हि सः।
स्वरूपं चात्मनः संविन्नान्यत्तत्र तु याः पुनः।। १५६।।
क्रियादिकाः शक्तयस्ताः संविद्रूपाधिका नहि।
असंविद्रूपतायोगाद्धर्मिणश्चानिरूपणात्।। १.१५६

नात्र काणाददृष्टिवद् शक्तितद्वतोर्भेद इष्यते। पर एव हि स्वतन्त्रो बोधस्तत्तदुपाधिवशात् तत्तच्छक्तिरूपतया व्यपदिश्यते। सोपायसमावेशत्रैविध्यम् आगमेष्वपि प्रतिपादितम्-

तदेतत् त्रिविधत्वं हि शास्त्रे श्रीपूर्वनामनि।
आदेशि परमेशित्रा समावेशविनिर्णये।। १६७।।
अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः।
उत्पद्यते य आवेशः शाम्भवोऽसावुदीरितः।। १६८।।
उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन्।
यं समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते।। १६९।।
उच्चारकरणध्यान-वर्णस्थान-प्रकल्पनैः।
यो भवेत् स समावेशः सम्यगाणव उच्यते।। तन्त्रालोक, १.१७०

एतावान् विशेषः शाम्भवसमावेशे, परमेश्वर एव हि स्वातत्र्याद् अपरिहृतवेदकभावमपि स्वात्मानं भावनोपदेशादौ शिव एव सर्वक्रियाणां कर्ता विज्ञेय इत्यादिपरामर्शैः अहंप्रतीतिमन्तरीकृत्य वेद्यतया प्रतिपादयति। इदमेव हि परं स्वातन्त्र्यं- यत् स्वं स्वरूपं वेदकमेव सत् वेद्यत्वेन अवभासयति।

इदं किल माहात्म्यं विकल्पस्थितेः-

अविकल्पपथारूढो येन येन पथा विशेत्।
धरासदाशिवान्तेन तेन तेन शिवीभवेत्।। वही, १.२११

शाक्तोपायपरिचयस्तु कारिकया प्राप्यताम्-

शाक्तोऽथ भण्यते चेतो धीमनोहंकृति स्फुटम्।
सविकल्पतया मायामयमिच्छादि वस्तुतः।। वही, १.२१४

आणवोपायस्यापि शाक्तशाम्भवनिर्विकल्पानुप्रवेशेन समावेशोपादेयता प्रतिभाति-

अणुर्नाम स्फुटो भेदस्तदुपाय इहाणवः।
विकल्पनिश्चयात्मैव पर्यन्ते निर्विकल्पकः।। वही, १.२२१

अद्वैते द्वैतशास्त्रे च शिवस्यैव बुद्ध्यादिष्वपि परिमितप्रमातृतया भानमिष्यते। यथोक्तम्-

उच्यते वस्तुतोऽस्माकं शिव एव तथाविधः।
स्वरूपगोपनं कृत्वा स्वप्रकाशः पुनस्तथा।।
द्वैतशास्त्रे मतङ्गादौ चाप्येतत् सुनिरूपितम्।
अधोव्याप्तः शिवस्यैव स प्रकाशो व्यवस्थितः।।
येन बुद्धिमनोभूमावपि भाति परं पदम्।।

तथा चायं निर्गलितोऽर्थः-

अभेदोपाय एवोक्तः शाम्भवः, शाक्त उच्यते।

भेदाभेदोयमात्मा यो भेदोपायः स आणवः।। पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, ७२

वस्तुतस्तु-

संसारोस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्तैव का
बन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्तिक्रिया।
मिथ्यामोहकृदेष रज्जुभुजगच्छायापिशाचभ्रमो
मा किञ्चित् त्यज मा गृहाण विरम स्वस्थो यथावस्थितः।।

विवेक, १.३३१ में उद्धृत

अथ अनुपायप्रकरणारम्भात् प्रागियं शिवस्तुतिः-

जयतान्नतजनजयकृत्सजयो रुद्रो विनाभ्युपायं यः।
पूरयति कं न कामं कामं कामेश्वरत्वेन।। तन्त्रालोक, २.१

योहि यस्माद् गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्व उच्यते इति नयेन आणवादूर्ध्वं, शाक्तम्, तदूर्ध्वं शाम्भवम्, तस्मादप्यूर्ध्वम्, अनुपायमाचक्षते शास्त्रकाराः। अतः उत्कृष्टमनुपायं निरूपयितुं द्वितीयाह्निकमारब्धम्। अनुदरा कन्येतिवत् ईषदर्थनञः प्रयोगात् स्वल्पोपायार्थकः अनुपायशब्दः। आणवादौ असकृद्भावनं देशनादेरपेक्ष्यते उपेयप्राप्त्यर्थम्, अनुपाये तु सकृदेव देशना दर्शनं वेति न पुनरुपायानुभवः पौनःपुन्येनेति विशेषः। यथोक्तम्-

सिद्धानां योगिनानां च दर्शनं चरुभोजनम्।
कथनं संक्रमः शास्त्रे साधनं गुरुसेवनम्।।
इत्याद्यो निरुपायस्य संक्षेपोऽयं वरानने। इति।,

विवेक, २.४० में उद्धृत

उपायैर्न शिवो भाति भान्ति ते तत्प्रसादतः।
स एवाहं स्वप्रकाशो भासे विश्वस्वरूपकः।।
इत्याकर्ण्य गुरोर्वाक्यं सकृत्केचन निश्चिताः।
विना भूयोऽनुसन्धानं भान्ति संविन्मयाः स्थिताः।। इति।

वही, २.२ में उद्धृत

परमेश्वरस्य स्वातन्त्र्यमेवैतद् यद् विचित्रेण उपदेश्यजनात्मना प्रस्फुटन् तदनुसारमेव तत्तदुपायवैचित्र्यमप्याभासयति-

यच्चतुर्थोदितं रूपं विज्ञानस्य विभोरसौ।
स्वभाव एव मन्तव्यः स हि नित्योदितो विभुः।। इति। तन्त्रालोक, २.४

ये तावत् तीव्रतीव्रशक्तिपातानुविद्धा विकल्पकलंकान्मुक्ताः, भैरवीयाम् अनुपायाम् आत्मसंविदमाविष्टास्तेषां स्वस्वरूपप्रथनमिदानीं प्रक्रान्तम्।

अनुपायात् संवित्-तत्त्वात् लब्धप्राण उपायः सर्वप्रकाशिकां स्वप्रकाशां संविदं प्रकाशयितुं कथमिव शक्नुयात्? जडो हि स्वयमप्रकाशः स्वस्य न प्रकाशते अपितु परस्य अजडस्य संविदात्मनो भासते। अजडस्तु संविदात्मा स्वप्रकाशः स्वस्य प्रकाशते, नास्य परः प्रकाशः। यथाहुर्महामहोपाध्यायाः श्रीगुरवः-

संविदः स्वप्रकाशत्वे युक्तिरेकैव निर्मला।
संविदोऽस्वप्रकाशत्वे स्यादान्ध्यं जगत इति।। पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, २२५

संवादश्चात्र श्रीमदभिनवगुप्तगुरूणाम्-

संवित्-तत्त्वं स्वप्रकाशमित्यस्मिन् किन्नु युक्तिभिः।
तदभावे भवेद् विश्वं जडत्वादप्रकाशकम्।। इति।
तन्त्रालोक, २.१०

बाह्य आन्तरो वा यावान् उपायः स सर्वः संविदधीनसिद्धिरेव भवतीति तल्लब्धजन्मनस्तत्रोपायत्वं कथमिव सम्भवेत्।

पूर्णेसंविदात्मस्वात्मनि अवधानं प्रतिनियतावधेयविषयनिष्ठम् ऐकाग्र्यम्, न युज्यते, नापि अपूर्णे तस्योपयोगः, सत्यादपेतत्वात्। एवं च असामर्थ्यवैयर्थ्योपहतत्वादवधानस्यैव नोपायता तर्हि तदनुप्राणितानां भावनादीनां चर्चैव का?

किञ्च यत् किञ्चन उपायत्वेनाभीष्यते तत् प्रकाशमानमप्रकाशमानं वा? आद्ये प्रकाशात्मा शिव एवावस्थितः, नहि तदतिरिक्तं किञ्चिद् यस्योपायत्वमुपेयं शिवं प्रति। अन्त्ये अप्रकाशमानस्य न किमपि स्वरूपं यस्योपायत्वं स्वीक्रियेत। यथोक्तम्-

किंच यावदिदं बाह्यमान्तरोपायसंमतम्।
तत्प्रकाशात्मतामात्रं शिवस्यैव निजं वपुः।। इति। वही, २.१५

यथा चाद्वैतप्रतिभासे प्रकाशात्मा परमेश्वर एक एव प्रतिभासते तथा द्वैतपरिभासेप्ययमेकक एव स्वतन्त्रः। यश्चान्योन्यं बाह्यार्थानां भेदः, सोपि संवेद्यमानत्वात् संवेदनात्मैवेति न किमपि अप्रातीतिकमीश्वराद्वयवादे-

अस्यां भूमौ सुखं दुःखं बन्धो मोक्षश्चितिर्जडः।
घटकुम्भवदेकार्थाः शब्दास्तेप्येकमेव च।। वही, २/१९

अथ योऽयमप्रकाशः स केन रूपेण भासते? प्रकाशात्मनाभासते तर्हि न नीलसुखादिरूपेण प्रकाशते इति प्रकाश एवावशिष्यते। अथ अप्रकाशात्मना नियतेनैव रूपेण प्रकाशते तर्हि तस्य सत्तैव न स्यात्। नहि प्रकाशमन्तरेण नीलसुखादीनां स्वरूपं कदाचिद् दृष्टम्। अप्रकाशात्मना रूपेण प्रकाशते इत्येतदपि रिक्तं वचः।

अयमाशयः-प्रकाशः नीलादिपरिहारेण अनीलादावपि प्रकाशते, नीलादिस्तावदुपाधिः, स च स्वातन्त्र्यविजृम्भामात्ररूपत्वान्न वास्तवः इत्यखण्ड एक एव प्रकाशो विजृम्भते यन्महिम्ना इदं नीलसुखाद्यात्म विश्वं स्फुरति-एकस्यैव अखण्डस्य प्रकाशस्य तत्तदाभासात्मना स्फुरणात्।

नीलप्रकाशोऽन्यः, पीतप्रकाशश्चान्य इत्यादिभेदस्तु औपाधिकः, न तु वास्तवः। नीलादीनां समेषां प्रकाशात्मकत्वात् किं केन भेद्यं स्यात्, न हि स्वात्मनैव स्वात्मा भिद्यते। देशकालावपि प्रकाशात्मिकायाः संविदः एव लब्धप्राणौ तस्याः भेदकौ भवितुं नार्हतः। ततश्चैक एवाखण्डः प्रकाश इति सुस्थिरमेतत्।

तदुक्तम्-

प्रकाशे ह्यप्रकाशांशः कथं नाम प्रकाशताम्।
प्रकाशमाने तस्मिन्वा तद्द्वैतास्तस्य लोपिताः।।२०।।
अप्रकाशेऽथ तस्मिन्वा वस्तुता कथमुच्यते।
न प्रकाशविशेषत्वमत एवोपपद्यते।। तन्त्रालोक, २.२१

नैषा युक्तिरेव शरणं किन्तु **श्रीभर्गशिखागमोऽपि** प्रमाणम्-

न सन्न चासत् सदसन्न च तन्नोभयोज्झितम्।
दुर्विज्ञेया हि सावस्था किमप्येतदनुत्तरम्।।२८।।
अयमित्यवभासो हि यो भावोऽवच्छिदात्मकः।
स एव घटवल्लोके संस्तथा नैष भैरवः।। इति। वही, २.२९

शक्ति-शक्तिमदादयः शब्दाः सम्बन्धिशब्दत्वान्नित्य-सापेक्षा इति अनुपायप्रकाश्यः परः प्रकाशः न शक्तिः, न वा शक्तिमान्, नाश्रितो, नवाश्रयः, न ध्येयो, न वा ध्याता, न पूज्यो नवा पूजकः, न मन्त्रो न वा मन्त्र्यः, नो दीक्षा नोवा दीक्षको न चापि दीक्षावान्। महेश्वरस्तु महेश्वरः। यदुक्तं शिवयोगिभिः श्रीगुरुभिः-

नासीदृशस्त्वं न च तादृशस्त्वं
त्वं कीदृशोऽसीत्यनुयोगशून्यः।
त्वं यादृशोऽसीत्यपि नैव वक्तुं
योग्योसि शम्भो! त्वमसि त्वमेव।। इति। शिवतत्त्वविमर्शः

तदिदं निरुपायमात्मतत्त्वं कारिकाभिः परिचीयतम्-

असत्त्वं चाप्रकाशत्वं न कुत्राप्युपयोगिता।
विश्वस्य जीवितं सत्यं प्रकाशैकात्मकश्च सः।।३०।।
आभ्यामेव तु हेतुभ्यां न द्व्यात्मा न द्वयोज्झितः।
सर्वात्मना हि भात्येष केन रूपेण मन्त्र्यताम्।। तन्त्रालोक, २.३१

ततश्च साधका गुरूपदेशादिना संविदैक्यमापन्नाः परमाद्वयपात्रतामापादिताः बाह्याभ्यन्तराभ्युपायनिरपेक्षाः चिद्विकासात्मानुत्तरपथे सामरस्यमापन्नाः सर्वं भावमण्डलं पूर्णसंविन्मयतयैवात्मसात्कुर्वन्तो विलसन्ति।

शिवादव्यतिरिक्ताः किल अनुग्रहमूर्तयो हि श्रीगुरवः। तत्र निर्मलसंविदः प्रति निरुपकरणमेवैतेषां श्रीगुरुणां परानुग्रहकारित्वम्। यदुक्तं श्रीशिवयोगिभिः-

न मया क्रियते शिष्यः कृतः शिष्यो न कश्चन।
शिष्यतामिच्छते सद्यो दीयते गुरुता मया।। इति। शिवतत्त्वविमर्शः

महाकविभिरपि संवादितमेतत्-

प्रज्वालितो दीप इव प्रदीपादिति।

उपायानान्तु शैवशाक्ताणवानामनिर्मलसंविदः प्रत्येव परानुग्रहकारित्वं भवतीति कश्चन विभक्तिविशेष आस्थे।

तथा च गुरुतः शास्त्रतः स्वतः व्यस्तात् तीव्रतीव्रशक्तिभाजां शङ्काविकल्पाभ्रो विलीयते, तीव्रमध्यादिशक्तिभाजां तु समुदितादेतस्मात् त्रयादपि विकल्पलयेन अविकल्पा स्थितिरुदेति। यथोक्तम्-

सकृद्देशनया वाथ सिद्धादीनां च दर्शनात्।
स्वयंविवेचनेनापि शिवतादात्म्यदर्शनात्।। पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, २०४
स्वल्पोपायमिमं प्राहुरनुपायं महाजनाः। इति। वही, २०५
अनुपायस्य विद्वांसो! भवन्तोऽस्याधिकारिणः। इति च। वही, २३२

किमधिकं ब्रूमहे-

एतदम्ब! सदिदन्तु नेति नः शङ्कया हृदि विकल्पलक्षणः।
यो यमः स खलु काल्यते त्वया, भूतसंयमनकेलिकोविदः।।
त्वम्पूर्णरूपोऽसि विभासि पूर्णः सर्वञ्च पूर्णेऽथ समत्र पूर्णम्।
अतः स्फुटं मे स्तुतिवागपीयं व्यक्तिं दधात्येव हि पूर्णतायाः।।

चिद्गगनचन्द्रिका

❖ ❖

आह्निक - २१
अनुपाय - विज्ञान

पं. परमहंस मिश्र (प्रधान वक्ता)

न उपाय से अनुपाय शब्द बनता है। इसका अर्थ स्पष्ट है- उपायराहित्य। उपेय की प्राप्ति के लिये उपाय का प्रयोग व्यवहार का विषय है, पर ऐसी भी स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जहाँ उपाय की कोई आवश्यकता नहीं होती। अनुपाय की तरह का ही एक शब्द है- निरुपाय। निरुपायभाव में विवशता झलकती है। जलप्लावन अकस्मात् हो जाए। ज्वालामुखी का आकस्मिक विस्फोट हो जाय। दिग्दाह की विभीषिका का अकाण्ड ताण्डव उपस्थित हो जाय तो आदमी निरुपाय हो जाता है। किन्तु अनुपाय पारिभाषिक शब्द है। उपेय की प्राप्ति के लिये उपाय अनावश्यक हो गया होता है, परमेश्वर का तादात्म्यबोध उद्बुद्ध हो गया है। साधक स्वयं शैव महाभाव से भावित होकर स्वात्म में अधिष्ठित हो गया है। अब उपाय अर्थहीन, अनावश्यक और अनुपयोगी हो गया है। शाम्भवज्ञान जब **विज्ञानं ब्रह्म** की स्थिति का स्पर्श कर लेता है तो वह अनुपाय-विज्ञान कहलाता है। अनुपाय-विज्ञान में भी शैव समावेश रहता है। उस अवस्था को अनुपाय-समावेश ही कहते हैं। कुछ लोग यह मानते हैं कि अनुपाय-समावेश में शाश्वत स्थिति न होने पर शाम्भव-समावेश का आश्रय लेना पड़ता है। पर मेरी मान्यता है कि शाम्भव-समावेश के पूर्ण परिपक्व हो जाने पर जब शाम्भव उपाय की आवश्यकता नहीं रहती, वहीं अनुपाय-समावेश सिद्ध हो जाता है। यह परमेश्वर के आनन्द-भाव का समावेश है। आनन्द की पराकाष्ठा पर चैतन्य भी उसमें समाहित हो जाता है। उस समय आनन्द केवल आनन्द नहीं रहता। वह चिदानन्द हो जाता है और परमेश्वर भी चिदानन्द की संज्ञा से ही विभूषित होता है। श्लोक है-

नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने।
चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थावभासिने ॥

चिदानन्दघनस्वात्म का परमार्थ क्या है? वह कब भासित होता है, यह कहा नहीं जा सकता है। अनुभव में इसे उतारने की आवश्यकता होती है। केवल अनुभूति का ही यह विषय है। मेरे सद्गुरुदेव ने दीक्षा के समय शिवहस्तविधि के अनुसार मेरे शिर पर शिवहस्त का प्रयोग किया था। उसकी अनुभूति चिदानन्द की परानुभूति के संविद्विमर्श के स्पन्द में आज भी उल्लसित है। मैं चाहता हूँ,

इस सहज समाधि का आनन्द आप भी अनुभव में ले आवें, उतारें। उस अकल्प्य आकलन को और आनन्द को अनुपाय में प्रतिष्ठित कर धन्य हो जाएँ।

देशनाओं का तो अन्त नहीं। गुरुदेव का प्रत्येक आदेश देशना ही कहलाता है। सारे शास्त्र देशनाओं से भरे हुए हैं। ये देशनाएँ ही साधना में उपाय बनकर काम करती हैं। अनुपाय-समावेश में देशनाएँ समाप्त हो जाती हैं। अकस्मात् सिद्धों के दर्शन से इस श्रेणी के साधक **शिव** के ही दर्शन कर रहे होते हैं। माँ ऐसे साधक को स्वयम् आकर **चरु** (यज्ञ-खीर) खिला जाती है। ऐसे साधक की प्रत्येक क्रिया शैव-स्पन्द के समान पावन होती है। शैव शक्तिपात से वह पवित्रित होता है।

ऐसे सर्वोच्च श्रेणी के साधक 'तत्त्वज्ञ' होते हैं। **तत्त्वज्ञस्य तृणं शास्त्रम्** इस **तन्त्रालोक** की उक्ति के अनुसार सारे शास्त्र तृणवत् होते हैं। प्रथम प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इस परतत्त्व की ज्ञप्ति नहीं हो सकती? उत्तर सरल है। उसी की ज्ञप्ति के लिये तो मनीषियों ने शास्त्रों का निर्माण किया है। शास्त्रों की देशनाएँ, मर्मज्ञों के ज्ञानोपदेश, गुरुजनों के आदेश और निर्देश यही तो करते हैं। ये सारे के सारे आदेश, उपदेश और निर्देश उपाय हैं। सामान्य जनों के लिये आणवोपाय, शाक्तभाव में प्रविष्ट साधकों के लिये शाक्तोपाय, शैवमहाभाव में समाविष्ट साधकों के लिये शाम्भवोपाय और शाम्भवभाव में पूर्ण परिपक्व तत्त्वज्ञ के लिये अनुपाय ही उपाय हैं।

परमात्मा की महाविभूति का दर्शन तीन स्तरों पर किया जा सकता है। १. उसकी स्वातन्त्र्यशक्ति के परविमर्श के माध्यम से, २. स्वातन्त्र्य के बल पर विश्व की संसिसृक्षा के विमर्श के माध्यम से और ३. क्रमात्मकता के साक्षात् प्रतीक विश्वदर्शन के माध्यम से। इन सबमें स्वातन्त्र्यशक्ति ही प्रधान है। क्रमदर्शन के प्रतीक इस विश्वमहासमुद्र को पार करने की आकांक्षा बिना परमेश्वर की कृपा के उदित नहीं होती। ऐसे लोग अवरोह का परित्याग कर आरोहण करते हैं। उन्हें आरुरुक्षु कहते हैं। आरुरुक्षु के सारे प्रयास सांसारिक अज्ञानात्मक मलरूप कंचुक-कालुष्य को गुरुदेव धो डालते हैं और परमेश्वर के नैर्मल्य को वे प्राप्त कर लेते हैं।

नैर्मल्य एक गुण होता है। दर्पण में रूप का नैर्मल्य होता है। परमेश्वर के प्रकाशफलक में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द सब नैर्मल्य होता है। इसीलिए विश्व को प्रतिबिम्ब माना जाता है जो परमेश्वर के प्रकाश-दर्पण में प्रतिबिम्बित हो रहा है। परमेश्वर के समान ही निर्मलता अनुपाय के आनन्दयोग में जी रहे लोगों में आ जाती है। ऐसे लोगों पर ही अनुग्रह की वर्षा होती है। शास्त्र कहता है-

नानिर्मलचित्तः पुंसोऽनुग्रहस्त्वनुपायकः अर्थात् जिनकी चेतना निर्मलक्षण के समान हो गयी है, उसी पर अनुग्रह की वर्षा होती है। अनिर्मल पर अनुग्रह नहीं होता। यह चेतना के दर्पण में फूल की तरह खिल जाने वाला विज्ञान जीवन को धन्य बना देता है। शैव समावेश की इस भूमि पर शक्तिपात से पवित्रित ऐसे निर्मलभाव में स्वात्ममहेश्वर की अनुपाय-उपासना करने वाले साधक समस्त वैकल्पिक कलङ्क-कालुष्य को पार कर परमोपेय परमेश्वर-तादात्म्य में तल्लीन हो जाते हैं।

तत्र ये निर्मलात्मानो भैरवीयां स्वसंविदम्।
निरुपायामुपासीनास्तद्विधिः प्रणिगद्यते।। तन्त्रालोक, २.७.

इस समावेश-सन्दर्भ में एक बड़ी विचित्र बात सामने आती है। संसार में जितने भी उपाय हैं, भले वे आन्तर हों या बाह्य, सभी संवित्तत्त्व पर निर्भर करते हैं। बिना संविद् शक्ति के उनकी सिद्धि नहीं हो सकती। जिसकी अपेक्षा के बिना उसकी सिद्धि ही नहीं हो सकती, वह संविन्नाथ को जानने का उपाय हो ही नहीं सकता। इसीलिए निरुपाय उपायों से बढ़ कर अनुपाय-समावेश को ही महत्त्व दिया जाता है।

अनुपाय-समावेश की कुछ प्रमुख विशेषताओं को समझना आवश्यक है। कुछ प्रमुख बातें हैं जिन पर विचारकों का ध्यान जाना चाहिये-

१. परम अद्वैत दशा में जहाँ केवल परमेश्वर का परम पारमेश्वर भाव ही प्रकाशमान होता है, क्या वहाँ, यह पदार्थ ऐसा है, वैसा है, नीला है, पीला है, यह सुखद है- इस तरह का भान नहीं हो सकता? वहाँ तो प्रकाशरूप प्रकाशमान परमेश्वर का ही आभास अनुभूत होता है। अत: वहाँ उपायतत्त्व की कल्पना भी सम्भव नहीं। वहाँ यह अनुपायभाव ही शेष रहता है।

२. कोई द्वैत देखता है, कोई अद्वैत देखता है। यह तो दृष्टिदोष के समान है। वास्तव में परम प्रकाशवपुष् वह केवल एक ही है। वहाँ उपाय के प्रकल्पन की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

३. जैसे घड़ा और कुम्भ एकार्थक शब्द हैं, उसी तरह उस उच्चभूमि में सुख-दुख, बन्ध-मोक्ष आदि शब्द भी एकार्थक हो जाते हैं। द्वन्द्वात्मकता का जहाँ परम अभाव है, उस भूमि पर यह दृष्टि अर्थहीन हो जाती है।

४. प्रकाश की सर्वव्यापकता में प्रकाश कोई अलग कण कैसे प्रकाशित हो सकता है? समुद्र में लहराता सागर का प्रत्येक विप्रुष सागर हो गया है। वहाँ किसी पृथक् वस्तु की कल्पना भी असम्भव है।

५. सर्वात्मना भासित परमेश्वर को किस रूप से विमर्श का विषय बनाया जाय? वह सर्वतोभावेन शाश्वत विमृश्य है। वहाँ मौन अनुपाय-समावेश ही एकमात्र उपासना का अधिष्ठान शेष रह जाता है।

इसलिए शास्त्रों की सारी देशनाओं से, यह करो और यह न करो आदि सारे विधि-निषेधों से ऊपर उठकर केवल परमात्मा के अनुग्रह से अभिभूत होकर उसी में रमे रहना ही साधक का एकमात्र धर्म रह जाता है। यही अनुपाय-समावेश का मर्म है।

समस्तयन्त्रणातन्त्रत्रोटनाटंकधार्मिणः।
नानुग्रहात्परं किञ्चिच्छेषवृत्तौ प्रयोजनम्।।

तन्त्रालोक, II.३८

इस अनुपाय-धर्म की मार्मिकता में प्रविष्ट व्यक्ति के लिये कोई कृत्य शेष नहीं रहता। हाँ, लोककर्त्तव्य तो वह करता ही रहता है। इसी भाव को भगवान् **कृष्ण** ने **गीता** (३.२२) में इस तरह अभिव्यक्त किया है-

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव हि कर्मणि।।

अन्त में आप सभी के हृदयगगन में उठने वाले महान् सूरज के परमप्रकाश की कणिकाओं का स्पर्श करता हुआ मैं सबका अभिवन्दन कर परमेश्वर के अनुग्रह में ही विश्रान्त हो रहा हूँ। ओम्!

पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी (टिप्पणी)

अनुपाय पर अपनी विस्तृत टिप्पणी में **पं. द्विवेदी** ने **परात्रीशिका, स्तोत्रावली, स्तवचिन्तामणि, शिवदृष्टि** आदि ग्रन्थों से अनुपाय के स्वरूप की व्याख्या प्रस्तुत की। आपकी टिप्पणी के प्रधान बिन्दु उल्लेखनीय हैं-

- मण्डल का दर्शन होने के क्षण में ही दीक्षा प्राप्त हो जाती है। दीक्षा हर कोई नहीं दे सकता। वास्तव में परमभट्टारक ही दीक्षा देता है।
- तत्त्व-संवेदन ही दीक्षा है। उपनिषद् भी कहते हैं। **सकृत्विभातोऽयमात्मा।** इसके लिए अन्य शब्द हैं- नित्योदित, सततोदित, अस्तोदित आदि।
- निर्विकल्प समाधि में शरीर नहीं रहता। इस समाधि के लगते ही शरीर क्षय होने लगता है।

- **शिव** में अनुग्रह शक्ति है। बौद्ध मत में अवलोकितेश्वर की अवधारणा भी अनुग्रह की पृष्ठभूमि का सङ्केत देती है।
- करणेश्वरी का अर्थ है इन्द्रिय के द्वारा विश्वरूप विषय का ग्रहण।
- सभी भोग ईश्वर की उपासना है-

तत्तदिन्द्रियमुखेन सन्ततं युष्मदर्चनरसायनासवम्।
सर्वभावचषकेषु पूरितेष्वापिबन्नपि भवेयमुन्मदः।। श्री शिवस्तोत्रावली, १३.८.

- शिवानुभव वीरभाव की साधना है जो पशुभाव रखते हुए प्राप्त नहीं की जा सकती।
- मूलगन्ध (कुटी) में बुद्ध के शरीर से एक प्रकार की सुगन्धि के प्रसार की ध्वनि है।
- शक्तिपात कब और कैसे होता है यह कोई नहीं जानता। इसे कोई कराता नहीं है बल्कि **शिव** स्वयं ही इसे करता है। इसमें किसी मध्यम पुरुष अथवा माध्यम की आवश्यकता नहीं है। शैव शास्त्र में निर्वाण-दीक्षा शब्द आया है अथवा नहीं यह खोजकर निर्णय करना चाहिए क्योंकि यदि यह शब्द है तो इससे बौद्ध और शैव में निकटता की ध्वनि मिलती है।
- शक्तिपात के सिद्धान्त में आचार, नैतिकता आदि का कोई स्थान है या नहीं और यदि है तो कैसे? इस पर विचार की आवश्यकता है।
- अनुपाय भी शक्तिपात का ही एक रूप है। उपाय न होते हुए भी यह अनुत्तर के ज्ञान में सहायक है। एक बार अनुत्तर का ज्ञान होने पर उसकी निरन्तरता बनी रहती है।
- केवल पुस्तक पढ़ने से ज्ञान प्राप्त नहीं होता। ईश्वर की कृपा के बिना ग्रन्थों के वास्तविक रहस्य को नहीं जाना जा सकता।
- **परात्रीशिकाविवरण** एक क्लिष्टतम ग्रन्थ है। इसमें **रुद्रयामल** से अनेक श्लोक लिए गए हैं।
- अनुपाय योगामृतमयस्वरूपवाला और अनुत्तरमय है। यह निरुपाय है फिर भी इसके चरु- भोजन, सिद्धदर्शन आदि अनेक रूप हैं।
- अनुत्तर तत्त्व के ही नाम हैं- विसर्ग, गुरुवक्त्र, शक्तिचक्र आदि।
- **जयरथ** ने अनुपाय के प्रसङ्ग में अनुदरा कन्या का उदाहरण दिया है। यह ठीक नहीं है क्योंकि अनुपाय का अर्थ उपायशून्यता नहीं, बल्कि अल्प उपायता है।

- स्वात्मोच्छलन तन्त्र की विशेषता है जो वेदान्त आदि अन्य दर्शनों में नहीं मिलती। इसमें सतत स्वात्मस्वरूपविमर्श का प्रावधान है।
- उपायों के क्रम में सोपानक्रम नहीं है। शाम्भवोपाय ही उत्कृष्ट उपाय है और अनुपाय गतोपाय है। इसमें उपाय और उपेय का सामरस्य है।

प्रो. बेटिना बॉमर (टिप्पणी)

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र में उपायक्रम है। किन्तु **अभिनवगुप्त** सोपानक्रम नहीं मानते। इसीलिए उन्होंने **तन्त्रालोक** में अनुपाय से प्रारम्भ किया।

❖ ❖

अनुपायः

अनुपायं हि यद्रूपं कोऽर्थो देशनयात्र वै।
सकृत्स्याद्देशना पश्चादनुपायत्वमुच्यते।।२।।

अनुपायमिदं तत्त्वमित्युपायं विना कुतः।
स्वयं तु तेषां तत्तादृक् किं ब्रूमः किल तान्प्रति।।३।।

तत्र ये निर्मलात्मानो भैरवीयां स्वसंविदम्।
निरुपायामुपासीनास्तद्विधिः प्रणिगद्यते।।७।।

तत्र तावत्क्रियायोगो नाभ्युपायत्वमर्हति।
स हि तस्मात्समुद्भूतः प्रत्युत प्रविभाव्यते।।८।।

यावानुपायो बाह्यः स्यादान्तरो वापि कश्चन।
स सर्वस्तन्मुखप्रेक्षी तत्रोपायत्वभाक्कथम्।।११।।

किं च यावदिदं बाह्यमान्तरोपायसंमतम्।
तत्प्रकाशात्मतामात्रं शिवस्यैव निजं वपुः।।१५।।

तेषामिदं समाभाति सर्वतो भावमण्डलम्।
पुरःस्थमेव संवित्तिभैरवाग्निविलापितम्।।३५।।

एषां न मन्त्रो न ध्यानं न पूजा नापि कल्पना।
न समय्यादिकाचार्यपर्यन्तः कोऽपि विभ्रमः।।३७।।

समस्तयन्त्रणातन्त्रत्रोटनाटंकधर्मिणः ।
नानुग्रहात्परं किञ्चिच्छेषवृत्तौ प्रयोजनम्।।३८।।

तं ये पश्यन्ति ताद्रूप्यक्रमेणामलसंविदः।
तेऽपि तद्रूपिणस्तावत्येवास्यानुग्रहात्मता।।११।।

तन्त्रालोक, II, ४०.

आह्निक - २२

तन्त्र का आत्मविश्रान्तियोग

अध्यक्ष - पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती

प्रो. कमलाकर मिश्र (प्रधान वक्ता)

आचार्य **अभिनवगुप्त**-रचित **अनुत्तराष्टिका** के सन्दर्भ में आत्मविश्रान्ति योग को प्रस्तुत करना व्याख्यान का उद्देश्य है।

तन्त्र के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य आत्मविश्रान्ति है जिसका अर्थ है अपने हृदय को शुद्ध कर अपने को अपने बड़े "मैं" (परम आत्मा = परमात्मा) में डाल देना। यह साध्य और साधन दोनों है। आत्मविश्रान्ति निष्क्रियता की स्थिति नहीं है वरन् इसमें स्वाभाविक एवं स्वतःस्फूर्त रूप में क्रिया होती है जो पहले की तुलना में मात्रा और गुण दोनों में ज्यादा अच्छी होती है। इसे तन्त्र की भाषा में 'स्पन्द' कहते हैं। विश्रान्ति-स्थान स्वात्मा (परम आत्मा) ही स्पन्द का स्रोत (Power-House) है। इस स्थिति में हम कुछ नहीं करते हैं अर्थात् विश्राम करते हैं और साथ ही जीवन की सभी आवश्यक एवं उपयोगी क्रियाएँ अपने आप सहजरूप में होती रहती हैं। इसी स्थिति को सहज-समाधि भी कहते हैं। यह "रहनी" की स्थिति है जिसमें सुन्दर "करनी" अपने आप होती है। कुछ न करते हुए सब कुछ करते रहने की अवधारणा की लम्बी भारतीय परम्परा है। **गीता** और **योगवासिष्ठ** में इसी "कर्महीन क्रिया" (Actionless Activity) की परम्परा है। आत्मा की इस सहज स्थिति में विश्राम एवं सर्जनात्मक क्रिया-इन दोनों का सामरस्य है।

अन्य उल्लेखनीय बिन्दु

- आत्मा अर्थात् लहर और परमात्मा अर्थात् सागर।
- प्रत्येक व्यक्ति में अहम् है। इसी को परमात्मा में विश्रान्त करना है। यह आत्मविश्रान्ति साध्य भी है और साधन भी।
- तन्त्र में क्रिया-रहित और क्रिया-सहित दोनों स्थितियों का उल्लेख है। इन्हें क्रमशः Freedom from और Freedom to कह सकते हैं।

- योग में निर्विकल्प का अर्थ क्रियाराहित्य है। आराम में भी स्वाभाविक क्रिया होती रहती है।
- कर्म और क्रिया में भेद है।
- क्रिया दो प्रकार की है- सायास और अनायास। पुनः अनायास क्रिया भी दो प्रकार की है- स्वातन्त्र्यरहित अथवा नियत। यह यान्त्रिक है और conditioned है। जबकि दूसरी स्वातन्त्र्यसहित है। इसी को विमर्श अथवा स्पन्द कहते हैं।
- सांख्य और अद्वैत वेदान्त सभी क्रियाओं को कर्म मानते हैं। जबकि तन्त्र का मत भिन्न है।
- प्रतिभा एक प्रकार का Power House है।

डॉ. बेटिना बॉमर (प्रश्न)

अध्यारोप या भ्रान्ति के प्रसङ्ग में रज्जु-भुजङ्ग का उदाहरण वेदान्त की ओर से दिया जाता है। इस उदाहरण को **अभिनवगुप्त** ने **अनुत्तराष्टिका** में क्यों दिया?

पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती (अध्यक्ष)

- अनुत्तर शब्द की व्याख्या पर विचार आवश्यक है। **अभिनवगुप्त** ने **परात्रीशिका** में केवल अ के ही सोलह अर्थ बताए हैं। अनुत्तर का अर्थ Unsurpasable किया जा सकता है।
- विश्रान्ति का अर्थ है विच्छिन्न विमर्श। विश्रान्ति अर्थात् आराम और दर्शन में आराम हराम नहीं है। **आङ् सम्यग्रूपेण रमते**। आ अर्थात् आनन्द। इसलिए आराम का अर्थ है आनन्द में अच्छी प्रकार से रमण करना।
- शास्त्र केवल सैद्धान्तिक प्रक्रिया मात्र ही नहीं बताते बल्कि जीवन के दैनिक आचार से भी उनका गहरा सम्बन्ध बताते हैं।

अनुत्तराष्टिका

(अभिनवगुप्तपादानाम्)

संक्रामोत्र न भावना न च कथायुक्तिर्न चर्चा न च
ध्यानं वा न च धारणा न च जपाभ्यासप्रयासो न च।
तत्किं नाम सुनिश्चितं वद परं सत्यं च तच्छ्रूयतां
त्यागी न परिग्रही भज सुखं सर्वं यथावस्थितः।।१।।

संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्तैव का
बन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्तिक्रिया।
मिथ्यामोहकृदेष रज्जुभुजगच्छायापिशाचभ्रमो
मा किञ्चित्त्यज मा गृहाण विलस स्वस्थो यथावस्थितः।।२।।

पूजापूजकपूज्यभेदसरणिः केयं कथानुत्तरे
संक्रामः किल कस्य केन विदधे को वा प्रवेशः क्रमः।
मायेयं न चिदद्वयात्परतया भिन्नाप्यहो वर्तते
सर्वं स्वानुभवस्वभावविमलं चिन्ता वृथा मा कृथाः।।३।।

आनन्दोऽत्र न वित्तमद्यमदवन्नैवाङ्गनासङ्गवत्
दीर्पाकेन्दुकृतप्रमाप्रकरवन् नैव प्रकाशोदयः।
हर्षः संभृतभेदमुक्तिसुखभूर्भारोवतारोपमः
सर्वाद्वैतपदस्य विस्मृतनिधेः ‾प्तिः प्रकाशोदयः।।४।।

रागद्वेषसुखासुखोदयलयाहङ्कारदैन्यादयो
ये भावाः प्रविभान्ति विश्ववपुषो भिन्नस्वभावा न ते।
व्यक्तिं पश्यसि यस्य यस्य सहसा तत्तत्तदेकात्मता-
संविद्रूपमवेक्ष्य किं न रमसे तद्भावनानिर्भरः।।५।।

पूर्वाभावभवक्रिया हि सहसा भावाः सदाऽस्मिन् भवे
मध्याकारविकारसङ्करवतां तेषां कुतः सत्यता।
निःसत्ये चपले प्रपञ्चनिचये स्वप्नभ्रमे पेशले
शङ्कातङ्ककलङ्कयुक्तिकलनातीतः प्रबुद्धो भव।।६।।

भवानां न समुद्भवोऽस्ति सहजस्त्वद्भाविता भान्त्यमी
निःसत्या अपि सत्यतामनुभवभ्रान्त्या भजन्ति क्षणम्।
त्वत्सङ्कल्पज एष विश्वमहिमा नास्त्यस्य जन्मान्यतः
तस्मात्त्वं विभवेन भासि भुवनेष्वेकोप्यनेकात्मकः।।७।।

यत्सत्यं यदसत्यमल्पबहुलं नित्यं न नित्यं च यत्
यन्मायामलिनं यदात्मविमलं चिद्दर्पणे राजते।
तत्सर्वं स्वविमर्शसंविदुदयाद् रूपप्रकाशात्मकं
ज्ञात्वा स्वानुभवाधिरूढमहिमा विश्वेश्वरत्वं भज।।८।।

❖❖

आह्निक - २३
अभिनवगुप्त के सङ्गीत-दर्शन की रूपरेखा

अध्यक्ष - ज्ञानसिंहासनाधीश्वर डॉ. शिवाचार्य

प्रो. प्रेमलता शर्मा (प्रधान वक्ता)

आचार्य अभिनवगुप्त का सङ्गीत-दर्शन को महनीय योगदान है। उनके इस सम्पूर्ण दर्शन को एक व्याख्यान में प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। अत: मैं केवल रूपरेखा प्रस्तुत करूँगी। यह रूपरेखा उनके तीन ग्रन्थों पर आधारित है- (१) **नाट्यशास्त्र** पर टीका **अभिनवभारती** (२) **ध्वन्यालोक** पर टीका **लोचन** और (३) **तन्त्रालोक**।

आचार्य ने **तन्त्रालोक** के कुछ भाग में सङ्गीत-दर्शन की चर्चा की है। इस बृहद् ग्रन्थ को मैंने पूरा देखा है- ऐसा नहीं कह सकती। इस तीन ग्रन्थों में आचार्य ने जो कुछ कहा है उससे मुझे लगता है कि इनमें गहरा अन्त:सम्बन्ध है। मैं इसी का उद्‌घाटन करने का प्रयत्न करूँगी।

इस देश में स्वर-सम्बन्धी जो भी चिन्तन हुआ है उसमें **अभिनवगुप्तपाद** का बड़ा योगदान है। इसका परिचय मुख्यतया **अभिनवभारती** से मिलता है। **नाट्यशास्त्र** पर **अभिनवभारती** का बड़ौदा संस्करण १९६६ में मुझे मिला। इसी से मुझे उनके सङ्गीत-सम्बन्धी चिन्तन का परिचय मिला और आज तक, अध्ययन की प्रगति के साथ, नई-नई बातें सामने आ रही हैं।

स्वर के लिए **पतञ्जलि** ने व्याकरण में कहा है- **स्वयं राजते इति स्वर:** या **स्वयं राजन्ते इति स्वरा:** जो स्वयं चमकते हैं अर्थात् स्वर के उच्चारण के लिए किसी अन्य वर्ण की आवश्यकता नहीं होती। जबकि व्यञ्जन का उच्चारण अपने आप नहीं हो सकता। उसमें स्वर की सहायता आवश्यक होती है। स्वर के विषय में भाषा को लेकर इतना चिन्तन था। **अभिनवगुप्तपाद** ने इसको आगे बढ़ाया है।

मतङ्ग ने **बृहद्देशीय** में **स्वयं राजन्ते** यही कहा। वे राज में रञ्जन शब्द यहाँ लाये हैं, इतना जरूर कहा है। जो श्रोता के चित्त का रञ्जन करे **रञ्जयति इति राग:**। एक रञ्जन शब्द **बृहद्देशीय** में आ गया। किन्तु स्वर के लक्षण में रञ्जन वहाँ भी नहीं आ पाया, यद्यपि राग स्वर का बना है। राग में आ गया तो स्वर में आ गया, यह माना जा सकता है। फिर भी स्वर पर इस प्रकार का स्वतन्त्र

चिन्तन वहाँ नहीं है जो कि **अभिनवभारती** में आकर मिलता है और यह मुख्यरूप से २८वें अध्याय में मिलता है। सङ्गीत की विशेष चर्चा पूर्वरङ्ग के प्रसङ्ग में चौथे पाँचवें अध्यायों में है किन्तु चर्चा २८वें अध्याय से लेकर ३३वें तक है और उसमें भी २८वें अध्याय के शुरु में ही स्वर-सम्बन्धी चिन्तन प्रस्तुत हुआ है जिसका पोषण **ध्वन्यालोक** से भी होता है। उसकी पुष्टि **तन्त्रालोक** में भी है। **तन्त्रालोक** में भी आप देखें तो रोचक तथ्य मिलेंगे कि किस प्रकार सब चिन्तन पृथक्-पृथक् रूप से प्रस्तुत हुआ है। बात एक ही है। अत: जब **अभिनवभारती** हमारे सामने नहीं थी तो **मतङ्ग** के बाद जब हम **सङ्गीतरत्नाकर** पर आ जाते थे, बीच में कम से कम छ: शताब्दियों का व्यवधान रहा होगा तो **शार्ङ्गदेव** ने सप्तस्वर की यह परिभाषा दी- **श्रुत्यनन्तरभावी यः शुद्धो शार्ङ्गनात्मकः स्वतो रञ्जयति यत् श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते।**

जब **अभिनवभारती** हमारे सामने नहीं थी तब तक हम यही समझते थे कि यह **शार्ङ्गदेव** का योगदान है। **स्वतो रञ्जयति**। यह बहुत बड़ी बात है फिर भी **स्वतो रञ्जयति** का पूरा-पूरा मर्म मैं नहीं समझती थी। अपने आप रञ्जन करता है। यहाँ अपने आप से क्या मतलब है? कैसे किसी की सहायता के बिना? **अभिनवभारती** के २८वें अध्याय में आचार्य ने कहा कि स्वर आपके चित्त का उपतापन करता है। सारी प्रक्रिया उन्होंने आरम्भ की, तब समस्या सुलझी।

रञ्जन की प्रक्रिया क्या है? रञ्जन का अर्थ क्या है? रञ्जन को हम सामान्य शब्द समझते हैं। परन्तु वहाँ उसको स्पष्ट करना आरम्भ किया और कहा कि स्वर श्रोता के चित्त का उपतापन करता है। उस चित्त की स्वास्थ्यावस्था का परित्याग करता है। जब तक आप स्वर को नहीं सुन रहे थे तब तक आपका चित्त एक स्थिति में था। अब उसमें उपतापन के द्वारा कुछ परिवर्तन आने वाला है। क्या परिवर्तन आने वाला है? उपतापन कैसे करता है? क्या कारण है उसका? **हृद्यतातिशयवशात्**- क्योंकि यह अत्यन्त मनोरम है, आपके हृदय को तुरन्त पकड़ सकता है। इसलिए उसके कारण आपके चित्त का उपतापन (तपा कर पिघलाना) करता है और उसके स्वास्थ्यावस्था का परित्याग कराता है। स्वास्थ्यावस्था और मध्यस्थावस्था भी दिया है। दोनों ही शब्द वहाँ दिये हैं। इनका परित्याग कराके क्या करता है? जब हमें किसी पदार्थ में दूसरे पदार्थ को डालना हो तो हम क्या करते हैं? उस पदार्थ को तरल बनाने पर ही उसमें कुछ दूसरा डाला जा सकता है। ठोस पदार्थ में ऐसा नहीं किया जा सकता। इसलिए चित्त का उपतापन कर दिया तो इसलिए तरल हो गया और अब उसमें क्या करते हैं इसके लिए

बहुत ही महत्त्व का शब्द **अभिनवगुप्तपाद** देते हैं जिसको **शार्ङ्गदेव** ने बाद में **स्वतो रञ्जयति** कहा है। वहाँ कहते हैं **स्वताम् आक्षिपन्तः** स्वर उसमें स्वयं अपना आक्षेप करता है। **शुचिता अतिशयते** आपके चित्त की स्वास्थ्यावस्था को दूर करके स्वयं अपना आक्षेप करता है। यही देखने की बात है अथात् किसी अन्य अर्थ का आक्षेप नहीं करता है। भाषा के जो शब्द होते हैं वह अपना आक्षेप तो करते हैं साथ में अर्थ का भी आक्षेप करते हैं। अर्थ का आक्षेप न करें तो उनकी प्रक्रिया पूर्ण नहीं होती। स्वर की यह विशेषता है कि यह केवल अपना आक्षेप करता है और अन्य किसी अर्थ का नहीं। **स्वतां आक्षिपन्तः** सारा रहस्य **स्वतां** शब्द में है। इसको आगे चलकर **शार्ङ्गदेव** ने **स्वतो रञ्जयति श्रोतृचित्तम्** यह कह दिया, उसका श्लोक बना दिया। बिल्कुल वही का वही विचार है। परन्तु जब तक बीच की कड़ी न मिले तब तक पूरा विचार समझ में नहीं आता। क्योंकि कारिका तो बहुत ही संक्षिप्त है। बाद में अन्यों ने **अभिनवगुप्त** का ही पूरा लेकर वैसे ही श्लोक बनाये हैं। **स्वास्थ्यावस्थाविमोचनात्** इत्यादि सब कुछ किया है। **शार्ङ्गदेव** ने ऐसा नहीं किया है। यद्यपि पूरा विचार सुगठितरूप में उनकी कारिका में आ गया फिर भी जब तक **अभिनवभारती** सामने नहीं थी, समझ में नहीं आता था कि स्वतः का क्या तात्पर्य है, **स्वतः रञ्जयति** क्या है? **स्वतो रञ्जयति** क्या? तो **स्वतां आक्षिपन्तः** अर्थात् अपना आक्षेप करते हैं अन्य किसी अर्थ का आक्षेप नहीं करते हैं। यह है उसकी स्वता जिसको अंग्रेजी में आजकल Autonomy कहते हैं।

मुझे तो ऐसा लगता है कि पश्चिम का जितना अद्यतन चिन्तन है वह सारा का सारा बीज रूप में **अभिनवगुप्तपाद** में है। उन्होंने इतना सुन्दर लिखा है कि कभी-कभी आश्चर्य होता है। आज वहाँ पर इनमें Autonomy की बहुत चर्चा होती है कि हर कला की अपनी Autonomy होती है तो वह ठीक है कि स्वर की Autonomy क्या है? उसकी स्वायत्तता यही है कि वह केवल अपना ही आक्षेप करता है। अन्य किसी सहकारी को साथ में लाने की आवश्यकता उसको नहीं है। इसी बात को ध्वन्यालोककार ने दूसरे शब्दों में कहा है। मैं उसे यहाँ प्रस्तुत करना चाहूँगी।

सम्पूर्ण साहित्यशास्त्र में से **अभिनवगुप्त** ने **ध्वन्यालोक** को ही क्यों चुना है? टीका करने के लिए और भी ग्रन्थ थे। इसके पूर्व और किसी पर टीका नहीं लिखी, इसी पर क्यों लिखी? मुझे यही लगता है कि उनका स्वर-सम्बन्धी

चिन्तन **ध्वन्यालोक** से पोषण प्राप्त करता है। **ध्वन्यालोक** में एक स्थान पर कहा है कि कुछ शब्द यानी अंग्रेजी का word यहाँ नहीं है। कोई आवश्यक नहीं है जो वाचक शब्द हो, वही शब्द हो। अब ध्वनि कहने से भी मुश्किल है। शब्द ही है कहते हैं- **येषाम् अपि स्वरूपविशेषप्रतीतिनिमित्तं व्यञ्जकत्वं यथा गीतादिशब्दानाम्।**

मैं इतने ही शब्दों पर आपलोगों का ध्यान आकृष्ट कर सकती हूँ **येषाम् अपि...** यह **ध्वन्यालोक** का अंश है। गीत के शब्द यानी यहाँ गीत के पद से मतलब नहीं है, गीत का जो स्वरांश है उससे मतलब है। चाहे वह कण्ठ से निकले या वीणा से निकले। तीनों के लिए संस्कृत में गीत शब्द का ही प्रयोग होता है। यह बहुत ध्यान देने की बात है। जैसे शास्त्रों में हर शब्द का एक सामान्य अर्थ होता है और एक विशेष अर्थ होता है। वैसे तो वाद्य शब्द चारों प्रकार के वाद्यों के लिए प्रयुक्त होता है जिसमें तत, सुषिर, घन, अवनद्ध सभी आ जाते हैं। किन्तु जब गीत और वाद्य दोनों साथ प्रयुक्त होते हैं उस समय गीत स्वरांश के लिए होता है और वाद्य उसके तालांश के लिए यानी अवनद्ध का ग्रहण वाद्य से होता है और कण्ठ और सुषिर, तत के ग्रहण सब गीत शब्द से होते हैं। यह **नाट्यशास्त्र** से भी स्पष्ट है, **अभिनवभारती** से भी स्पष्ट है और **संगीतरत्नाकर** से भी स्पष्ट है। लेकिन चारों वाक्यों की व्याख्या जब **शार्ङ्गदेव** आरम्भ करता है तो यही कहता है कि तत से गीत उत्पन्न होता है। तत और वंश से गीत उत्पन्न होता है यानी जो स्वर-अंश है, वह उत्पन्न होता है। अवनद्ध से उसका रञ्जन होता है और घन से उसका मान होता है। घन से नापने का कार्य होता है। ये इनके अपने-अपने काम हैं। गीत शब्द में केवल कण्ठ नहीं, वीणा और वंश दोनों का भी ग्रहण किया जायेगा। अर्थात् तीनों का एक साथ ग्रहण होगा। वह कहते हैं जैसे **गीतादिशब्दानां**, गीतादि शब्दों में क्या होता है? जैसे **स्वरूपाविशेषप्रतीतिनिमित्तव्यञ्जकत्वं** अर्थात् उनका व्यञ्जकत्व उनके स्वरूप में ही निहित है। यानी उसका कोई अर्थ हो और वह भी व्यञ्जकत्व लाये ऐसा नहीं है। **स्वरूपप्रतीति** ही उसका व्यञ्जकत्व लाती है। इस स्वरूपप्रतीति पर ही मैं आपका ध्यान खींचना चाहती हूँ। उससे ही कुछ दूर जाकर के अन्यत्र कहा है- **नहि शब्दस्य वाक्यप्रतीतिपरामर्श एव व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्।** व्यञ्जकत्व के लिए केवल वाक्यार्थ का बोध होना ही आवश्यक नहीं है क्योंकि **तथाहि गीतादि-शब्देभ्योऽपि रसाभिव्यक्तिरस्ति एव।** अगर यह होता कि बीच में वाक्यार्थ आना ही चाहिए तो इसमें गीतादि शब्दों का कोई भी वाक्यार्थ नहीं

है। यहाँ पद का ग्रहण नहीं कर रहे हैं, केवल स्वर का ही ग्रहण कर रहे हैं। पद को भी गाया जाना चाहिए, वह बात नहीं परन्तु यहाँ उसके स्वरांश पर विचार है। यहाँ गीत के स्वरपक्ष पर विचार है, पदपक्ष पर नहीं। इसलिए अर्थ की भी अपनी वाचकता होती है। लेकिन कहते हैं कि जो गीतादि शब्द हैं वे वीणा से निकलें या कण्ठ से निकलें, इनकी कोई वाचकता नहीं है। उसकी भी वाचकता होती ही है और बीच में **न तेषाम् अन्तरा नाट्यपरामर्शः** अर्थात् बीच में कोई वाच्यादि का परामर्श वहाँ नहीं होता है। बिना वाच्यादि का परामर्श हुए सीधे उससे व्यञ्जना होती है।

इस पर **अभिनवगुप्तपाद** ने **लोचनटीका** में तो कहा ही है। मैंने मूल ग्रन्थ के छोटे-छोटे उद्धरण इसलिए दिये कि ये वाक्यांश बनकर उनके चिन्तन को पुष्ट करते हैं। स्वर का अपना स्वरूप ही अपना कार्य करता है। उसके साथ और कोई अर्थ काम नहीं करता है। वाक्य-परामर्श में ध्वन्यालोककार बहुत स्पष्ट कह रहे हैं, उसकी **अभिनवगुप्तपाद** ने **लोचन** में व्याख्या तो की ही है। **लोचन** को मैं उद्धृत नहीं कर रही हूँ क्योंकि यह उसी की व्याख्या है, उसी का विस्तार है।

एक तो यह स्वता वाली बात हुई जिसको **ध्वन्यालोक** में स्वरूपविशेष कहा। दूसरा, जो **अभिनवगुप्तपाद** के चिन्तन का बहुत बड़ा पक्ष है स्वर के सम्बन्ध में, वह उसकी व्याख्या करता है, वहाँ कहा- **नित्यता अतिशयवशात्।** यह नित्यता कैसे आती है? इसको भी वे व्याख्यायित करते हैं। वे कहते हैं कि कोई भी ध्वनि जब आप सुनते हैं तो उसके दो भाग होते हैं- आघात और अनुरणन। ये शब्द **अभिनवगुप्तपाद** ने दिये हैं– कम से कम स्वर के प्रसङ्ग में। अर्थ के प्रसङ्ग में तो **ध्वन्यालोक** में ये शब्द हैं ही। उसमें यही कहा है कि जो वाच्यार्थ का बोध होता है वह घण्टे पर आघात के समान है और जो व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है वह उसके अनुरणन के समान है। उसमें ये दोनों शब्द हैं। जिन्होंने **ध्वन्यालोक** देखा होगा उन्होंने आघात और अनुरणन दोनों शब्द देखे होंगे। किन्तु सङ्गीत के सम्बन्ध में **अभिनवगुप्तपाद** से पहले किसी ने इन शब्दों को नहीं लगाया। उन्होंने उनको वहाँ लागू किया और आज भी Physics में कहा जाता है कि किसी भी sound के दो अङ्ग होते हैं। जो शुरु का उसका अङ्ग होता है वह आघातात्मक होता है और बाद का अंश अनुरणनात्मक होता है। आघात के बाद ही अनुरणन होता है, बिना आघात के अनुरणन नहीं होता है। वीणा पर जब हम तार को छेड़ते हैं तो पहले कट सी आवाज होती है भले ही वह एक क्षण

के १०० वें अंश के लिए ही होती है लेकिन होती तो है। वह आघात है। उसके बाद झंकार सुनाई देती है, वह अनुरणन है। **अभिनवगुप्तपाद** ने इस विचार को आगे बढ़ाया और कहा वहाँ आघात कम से कम है और अनुरणन अधिक से अधिक है। जहाँ आघात और अनुरणन दोनों समान हैं वहाँ एक मध्य प्रकार की रञ्जकता होगी, उत्तम रञ्जकता नहीं होगी और जहाँ आघात प्रधान है और अनुरणन गौण है वह तीसरे प्रकार की अधम रञ्जकता है। बल्कि यह कहेंगे कि वह रञ्जकता के विपरीत होगी। उसमें रञ्जकता नहीं होगी। यह विचार भी हमें **अभिनवगुप्तपाद** ने इन शब्दों में दिया।

ये दो शब्द मैं पुनः दोहराती हूँ कि ये दो शब्द अर्थ के प्रसङ्ग में तो थे, **ध्वन्यालोक** में तो थे कि वाच्यार्थ का बोध घण्टे पर चोट या आघात के समान है उसके बाद जितना भी व्यङ्गयार्थ समझ में आता है वह उसके अनुरणन के समान है। किन्तु स्वर के प्रसङ्ग में **अभिनवगुप्तपाद** दो शब्दों को लाये और उनकी इस प्रकार से रञ्जकता की व्याख्या की, नित्यता की व्याख्या की। नित्यता स्वर में क्यों है? इसी कारण है कि उसमें आघात गौण है और अनुरणन प्रधान है।

एक बात मुझे **अभिनवभारती** की और ध्यान में लानी है। **अभिनवगुप्त** ने दो शब्द और बहुत अच्छे दिये हैं जो कि आज के पश्चिम के अद्यतन चिन्तन में जिनके समतुल्य शब्द आते हैं। उनसे मैं आपका परिचय अवश्य कराना चाहती हूँ। यह उन्होंने पाँचवे अध्याय की टीका में दिया है। वहाँ पूर्वरङ्ग का प्रसङ्ग है। पूर्वरङ्ग की व्याख्या करते समय वे कहते हैं कि पूर्वरङ्ग में गीत और अङ्ग (यानी नृत्य) का प्रयोग होता है। नृत्य में जो अङ्ग-सञ्चालन होता है और गीत यानी जो भी स्वर-प्रयोग होता है यहाँ यह शब्द उन्होंने दिया। यह स्वयं प्रतिष्ठित है। दूसरा शब्द दिया, नाट्य में जब गीत प्रयोग होता है तो वह नाट्य का उपरञ्जक है। यानी मुख्य रङ्ग तो खड़ा करता है, नाट्य उसका उपरञ्जन करता है अर्थात् उस रङ्ग को गाढ़ा करता है। वहाँ सङ्गीत स्वयं स्वतन्त्ररूप से कोई रङ्ग खड़ा नहीं करता है। किन्तु जब स्वतन्त्र सङ्गीत यहाँ पूर्वरङ्ग में नाट्य से स्वतन्त्र होकर गीत और रङ्ग में प्रयोग **इह गीतम् अङ्गं तु स्वयं प्रतिष्ठितम्** यहाँ गीत और अङ्ग दोनों ही स्वयं प्रतिष्ठित हैं। वह किसी के अधीन नहीं है और नाट्य में वह उपरञ्जक बनते हैं। आज पश्चिम में इसी के लिए Absolute music, Programme music जैसे बहुत से शब्द हैं। बड़े-बड़े शास्त्रार्थ होते हैं। इस पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे गये हैं। किन्तु उन्होंने बहुत सहज में एक वाक्य में यह सारी बात कह दी है कि गीत और अङ्ग का प्रयोग एक तो स्वयं प्रतिष्ठित रूप में

हो सकता है। इसका नमूना पूर्वरङ्ग में मिलता है जहाँ आपके सामने जीवन की कोई अवस्था नहीं है। पूर्वरङ्ग में कोई अवस्था नहीं है, न कर्म अवस्था है, न उत्साह की अवस्था है। ऐसा कुछ नहीं है। वह तो एक देवता-परितोष के लिए गीत, वाद्य और नृत्य का प्रयोग किया जा रहा है। इसलिए वहाँ एक स्वयं प्रतिष्ठित है और नाट्य के साथ जब किया जाता है तो नाट्य जिन रङ्गों को खड़ा कर रहा है, उन्हीं को गाढ़ा करता है, इसी के लिए उपरञ्जक शब्द दिया है जो कि बहुत सुन्दर शब्द है। यह भी उनके चिन्तन का एक अङ्ग है। और भी बहुत से शब्द हैं परन्तु उनको मैं यहाँ नहीं ला रही हूँ। जो बहुत ही बुनियादी बाते हैं, उन्हीं को मैं यहाँ कहना चाहती हूँ।

तन्त्रालोक के तृतीय आह्निक में **अभिनवगुप्तपाद** तीन स्तरों में शब्द पर विचार कर रहे हैं। शब्द या sound पर वह कहते हैं- यह एक नादात्मक ध्वनि है। उन्होंने इसको स्वरात्मक भी कहा है। दूसरे को उन्होंने गीत कहा है। उन्होंने अवनद्ध नाम भी दिया है। यह मेरी कल्पना नहीं है। दूसरा वादन अवनद्ध है जिसमें कि कुछ स्वरांश भी है। लेकिन जिसमें आघातात्मक ध्वनि है उसमें काफी प्रबलता हो जाती है। आघात और अनुरणन दोनों का एक प्रकार से समान महत्त्व है। तीसरा जब हम बोलते हैं। इसको कैसे रखते हैं **षड्जं करोमि मधुरं वादयामि गृणे वचः**। इतने में इन्होंने कह दिया मैं षड्ज उत्पन्न करना चाहता हूँ। इस स्वर का नाम ले लिया। बाकी सातों स्वर आ गये। **षड्जं करोमि मधुरम्** यह इच्छा जब जागती है तब स्वर (नादात्मक ध्वनि) निकलता है और इसको उन्होंने पश्यन्ती का स्थूल रूप कहा है। पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी तीनों को यहाँ तीन तरह से कहा है। स्थूल, सूक्ष्म और बल तीनों स्तरों में दिखाई देते हैं। तीनों वाणी के प्रकार हैं। इसमें स्थूलरूप में गीत है। मैं पुनः ध्यान दिलाना चाहती हूँ कि मैं इसका स्थूलरूप ही कह रही हूँ, सूक्ष्मरूप नहीं। स्थूलरूप से वह पश्यन्ती का एक प्रकार से प्रस्फुटन है। मैं कारिकाएँ और टीका दोनों प्रस्तुत करूँगी। दूसरा वादन यानी अवनद्ध वाद्यों का वादन। अवनद्ध वाद्यों के वादन में थोड़ी स्फुटता भी है और अस्फुटता भी है। यहीं वे दो शब्द और लाते हैं- अविभाव और प्रविभाव। नादात्मक ध्वनि को अविभाव कहते हैं। उसमें विभाजन नहीं है। जहाँ वर्णात्मक ध्वनि प्रधान हुई वहाँ विभाजन शुरू हो जाता है। उसको प्रविभाव कहते हैं। दोनों ही बहुत दार्शनिक शब्द हैं। कहते हैं कि-

विभागाभासने चास्य त्रिधामतो विभासितं पश्यन्तीमध्यमास्थूलावैखरीत्यभिशब्दितम्।
तासामपि त्रिधारूपं स्थूलसूक्ष्मपरस्वतः।।

पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी का भी तीन प्रकार का रूप है- स्थूल, सूक्ष्म और तल। सूक्ष्म में **तत्र या स्वरसन्दर्भसुभगानादरूपिणी। सा स्थूला खलु पश्यन्ती**। यह पश्यन्ती है। लेकिन पश्यन्ती का स्थूल रूप है **वर्णाद्यविभागतः**। अर्थात् वर्णादि का विभाजन नहीं है। **वर्णाद्यविभागतः** वहाँ अविभाग है। फिर **अविभागैकरूपत्वं माधुर्यं शक्तिरुच्यते**। अविभाग में ही माधुर्य है। अविभाग रहने में ही माधुर्य है। **स्थानवाय्वादिघर्षोत्था स्फुटैव च पारुषी**। यहाँ स्थान पर घर्षण शुरु हुआ, वही व्यञ्जन है। वहाँ वर्ण आ गया। यहाँ स्थान पर घर्षण होने लगता है। किसी भी उच्चारण-स्थान पर घर्षण होने लगता है तो पारुषी अर्थात् एक प्रकार की कठोरता आ जाती है। माधुर्य की कमी हो जाती है जहाँ वर्ण-विभाग आरम्भ हो। जब तक वर्ण-विभाग नहीं हुआ है, नाद प्रधान है, स्वर प्रधान है तब तक अप्रविभाग है। अप्रविभाग वर्णों की प्रधानता से आरम्भ होता है।

तदस्यां नादरूपायां संविदसविधवृत्तितः तादात्म्यात् तन्मयीभूतिर्जगत्येव उपलभ्यते।

यहाँ तन्मयीभाव शब्द आये। तन्मयी-भावना को तन्मयीभूति कह दिया। एक ही बात हुई। कहते हैं इसमें जो नादरूपा है उसमें तन्मयीभाव झट से हो जाता है। शङ्का करते हैं, किसी किसी को नहीं होता है। उसके लिए क्या कहेंगे? तो कहते हैं- **येषां न तन्मयीभूते, ये देहादिनिमज्जनम् अविदन्तो भग्नसंविद्यमानाऽहृदयहृदो**। जिनको नाद के साथ तन्मयी भाव नहीं होता वे अहृदय हैं। टीका में बड़ा अच्छा शब्द दिया है। टीकाकार ने दिया है परहृदयता। यानी जब वह नाद सुनता है तो स्वहृदय में नहीं सुनता है परहृदय में सुनता है। जैसे कि अपने भीतर नहीं सुनता है। अपने भीतर उसके साथ तन्मय नहीं हो पाता है। सम्पादक ने अपनी ओर से उसको अहृदया भी कह दिया है। इसकी प्रसिद्धि मध्यमा में देखी **यत्तु चरमावलब्ध्यादि किञ्चिद् तत्रैव यो ध्वनि सस्फुटास्फुटरूपत्वात् मध्यमा स्थूलरूपिणी**। मध्यमा का स्थूलरूप अवनद्ध वाद्यों में दिखाई देगा। अवनद्ध में घन का विग्रहण हो जाता है। इसलिए उन्होंने नहीं ग्रहण किया। वैसे तो गीत में सत् और शिशिर दोनों का ग्रहण हो जाता है और मनुष्य का कण्ठ तो सत् में ही आ जाता है। इसके लिए अलग गिनने की आवश्यकता वे नहीं समझते। तो चरमावलब्ध्यादि जो वाक्य है, उसमें जो ध्वनि है, वह स्फुट भी है और अस्फुट भी है। स्फुट क्यों है? आप देखते होंगे, सुनते होंगे। आप जब किसी तबलावादक, पखावज-वादक को सुनते होगें तो वह कभी-कभी कुछ बोल पड़ता है उसको हम लोग पढ़न्त कहते हैं। इतना बोलने के बाद वह बजाता है आप को वह किट-किट ध्वनि सुनाई देती है। लेकिन सुनाई

ही देती है, वास्तव में वह वहाँ है नहीं। सुनाई इसलिए देती है कि आपका संस्कार है या संस्कार बना दिया गया है। कुछ ध्वनियाँ हैं उनमें उतनी स्फुटता नहीं है जितनी मनुष्य-कण्ठ से निकलेंगी। इसलिए कि वह स्फुट भी हैं और अस्फुट भी हैं। नाद में तो वर्णात्मक ध्वनि का सवाल ही नहीं है, लेकिन अवनद्ध वाद्यों में स्फुट और अस्फुट दोनों हैं। अविभाग और प्रविभाग दोनों हैं। दोनों का मिश्रण है। उसमें मध्यमा की स्थिति है। उसे मध्यमावाद की स्थूल स्थिति कहा। **यत्तु चरमावलब्धादि किञ्चित् तत्रैव यो ध्वनिः स स्फुटास्फुटारूपत्वात् मध्यमा स्थूलरूपिणी और मध्यायाश्चाविभागात् सद्भाव इति रञ्जकता।** मध्यमा में भी जो अविभाग का अंश है उसका सद्भाव है। इसलिए वह भी रञ्जक होती है। मध्यमा में भी रञ्जकता इसीलिए है कि वहाँ अविभाग अंश भी है, नादांश भी है और गलनांश भी उतना ही है। **अविभागस्वरमयी यत्र स्यात् तत् रञ्जितम्।** फिर इस बात को कहते हैं जहाँ अविभाग है, जहाँ स्वर है, वह सुरञ्जक है, अवनद्धों में भी।

हमारे देश के अवनद्धों में कम से कम स्वल्परूप है। अन्य देशों के अनवद्धों में कभी-कभी अनुरणन इतना नहीं होता। पर हमारे यहाँ जितने अवनद्ध आते हैं, काफ़ी अनुरणन होता है। इसलिए उसमें भी स्वर हैं। कहते हैं पञ्चम में मिला लें, मध्यम में मिला लें। यदि अनुरणन नहीं होता तो मिलाया नहीं जाता। मिलाने का कोई सवाल नहीं, पर हम लोग मिलाते हैं। अनुरणन उसमें भी है क्योंकि आघातात्मक ध्वनियों का प्राधान्य है। आघात उसमें बार-बार करना पड़ता है, वीणा का तार नहीं है कि एक बार छेड़ दिया तो काफ़ी देर तक अनुरणन देगा। इतनी देर वह नहीं देगा, आघात तो करना होगा, आघात करेंगे तो उसका सम्बन्ध वर्णात्मक ध्वनि से बैठेगा। उतना स्फुट नहीं होगा जितना मनुष्य-कण्ठ से वर्णात्मक ध्वनि निकलती है। फिर भी वह बैठेगा। **अविभागोऽभिनिवृत्ते दृश्यातामामातालतालुपाठतः**। जिसको मैंने पढ़न्त कहा उसको इन्होंने **तालुपाठ** कहा अर्थात् ताल के बोल बोलना। ताल के बोलों में भी एक प्रकार के बोल रहते हैं। उसमें भी एक प्रकार का अविभाग रहता है। **किल व्यक्तध्वनौ तस्मिन् वादने परिपुष्यते।** जब बजाया जाता है तो और सुन्दर लगता है। इसलिए लगता है कि वहाँ अविभाग फिर से आ गया। इसी बात को इसमें कह रहे हैं कि तालुपाठ में तो विभाग है लेकिन जिससे बजाया जाता है तो तोष उससे ज्यादा मिलता है क्योंकि उसमें अविभाग भी आ गया है। अविभाग इसलिए है कि आघात इतने तड़ित हैं कि इनसे आप बच नहीं सकते क्योंकि आघात किया जाता है तो आपका संस्कार भी है कि वर्ण निकल रहे हैं, वर्ण बताये भी जाते हैं तो उनका एक

सादृश्य वहाँ सुनाई देता है फिर **या तु स्फुटानां वर्णानां उत्पत्तौ कारणं भवेत् सा स्थूला वैखरी यस्या कार्यं वाक्यादि क्रियताम्।** वाक्यादि में वर्ण छोटे-छोटे होते हैं। अवनद्धादि में वैखरी का स्थूल रूप है। मध्यमा का स्थूल रूप है और पश्यन्ती का स्थूल रूप हो गया गीतादि में। **अस्मिन् स्थूलत्रये यत् तदनुसन्धानादिवत् पृथक्-पृथक् त्रितयं सूक्ष्मम् इत्यादि शब्द्यते।** यह जो इन्होंने स्थूलरूप बताया उसका सूक्ष्मरूप क्या है? कहते हैं उसका जो आपके मन में अनुसन्धान है। अनुसन्धान का रूप बता रहे हैं- **षडजं करोमि मधुरं वादयामि** मैं षड्ज उत्पन्न कर रहा हूँ, मैं बजा रहा हूँ। मैं वचन बोल रहा हूँ। ये तीन प्रकार का जो अभी तक अनुसन्धान है वही उसका सूक्ष्मरूप है। ये तीन अनुसन्धान पृथक्-पृथक् दिखाई देते हैं- (१) **जिगासा** (२) विवादयिषा (३) विवक्षा। **अभिनवगुप्तपाद** ने तीन शब्द दे दिये। यह सारी विवक्षा की बात है।

कभी-कभी लोग सवाल उठाते थे कि सङ्गीत में हम विवक्षा क्यों करते हैं? **अभिनवगुप्तपाद** पहले ही इसके लिए अलग शब्द दे चुके हैं। वह यहाँ जिगासा और विवादयिषा देते हैं। यद्यपि लिखा है कि मैं षड्जादि शब्द निकालूँ तो जिगासा है, गाने की इच्छा है, गाने का अर्थ वीणा पर भी गाना ही है। अब यह इच्छा है कि मैं अवनद्ध में ही वर्णात्मक और नादात्मक का मिश्रण करके ये ध्वनियाँ निकालूँगा तो विवादयिषा है और जब यह इच्छा है कि मैं बोलूगाँ, वाक्य प्रयोग करुँगा तो उसमें अनुरणन एकदम कम हो जाता है। अविभाग पूरा-पूरा आ जाता है। शुरु में अविभाग पूरा-पूरा है, अवनद्धों की स्थिति मध्य में है यहाँ अविभाग व प्रविभाग दोनों है। यह सूक्ष्म रूप हो गया। इन तीनों का सूक्ष्म रूप हो गया जिगासा, विवादयिषा और विवक्षा।

अब जो तल की बात है उस पर मै अपना अधिकार नहीं समझती। केवल इतना कहती हूँ **एतस्यापि त्रयस्याद्यं बृहद्रूपं अनुपाधिमत्। तत् परं त्रितयं तत्र शिवः परचिदात्मकः**। पर चित् **शिव** है। वहाँ उनका पररूप है। वहाँ ये वाक्य तीन स्तर के हैं- स्थूल, सूक्ष्म और पर। पर के विषय में मैं आपको इतना बताना चाहती थी कि किस प्रकार पूरे सङ्गीत को वे ले रहे हैं। सङ्गीत को लिए बिना उनकी बात नहीं बन सकती थी। **तन्त्रालोक** में भी हो सकता है यह, मुझे नहीं मालूम। **अभिनवभारती** में उन्होंने यह कहा है कि शब्द तीन कार्य कर सकता है। यह **ध्वन्यालोक** से भिन्न बात है। तीन काम हैं- (१) वचन- इसमें अभिधा, लक्षणा दोनों आ जायेगीं, वचन कर सकता है।

(२) व्यञ्जन कर सकता है। व्यञ्जना आ जायेगी। वह चाहे वाचकता पर निर्भर हो चाहे न हो। वाचकता के बाद होती है व्यञ्जना तथा (३) रञ्जन कर सकता है।

ज्ञानसिंहासनाधीश्वर डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य (अध्यक्षीय)

- **अभिनवगुप्त** के साहित्य के द्वारा संस्कृति का मालिन्य दूर किया जा सकता है।
- तन्त्रशास्त्र भारतीय साहित्य और साधना के क्षेत्र में प्रतिष्ठित व्यापक शास्त्र है तथा इसका विश्वकोष **तन्त्रालोक** है।
- तन्त्र में सबसे अधिक महत्त्व गुरु को दिया जाता है और यही तत्त्व भारतीय संस्कृति की पहिचान है।
- भारतभूमि अवतारभूमि है। अवतार का प्रयोजन दुष्टों का विनाश माना गया है। जबकि शास्त्र और आचार्य के द्वारा दुष्टता और अज्ञान का सदा-सदा के लिए विनाश होता है। इसलिए शस्त्र से शास्त्र श्रेष्ठ है। ईश्वर ही गुरु के रूप में अवतार लेता है, इसलिए देवता के अवतार से वह अधिक श्रेष्ठ है।

प्रो. कमलाकर मिश्र (धन्यवाद)

तन्त्र का साहित्य एक प्रकार का जङ्गल है और ऐसी गोष्ठियाँ उसके बुद्धिसङ्गत अर्थ को समझने का माध्यम है।

❖ ❖

१४वीं शती ई. की प्रसिद्ध योगीश्वरी लल्लेश्वरी, लल्ल या लल्लदेद आज भी काश्मीर के हिन्दू-मुसलमानों की आस्था का केन्द्र है। उनकी वाणी 'लल्लवख' (**लल्लवाक्यानि**) का संस्कृत में अनुवाद १६वीं शती में ही **भास्करकण्ठ** ने किया था। वे कहती हैं-

सहज़स शम त दम नो गछे यंछि नो प्रावख मुक्ती द्वार
सलिलस लवण जन मीलिथ गछे तोति छुव अर्लन सहज़ु व्यचार

(शमा-दम से सहज गम्य नहीं है, चाहने भर से मुक्ति का द्वार नहीं खुल जाता, पानी में नमक की तरह उसमें घुल जाने के बाद भी तत्त्व का, सहज तत्त्व का, विचार दुर्लभ बना रहा।)

गगनचुय बूतल चुय चय चुख घन पवन तु राथ
अर्ग चन्दन पोश पोज चुय चय छख सोरुय तु लागिज़िय क्याह

(तुम गगन हो, तुम भूतल हो, तुम दिन, पवन और रात हो, अगरु, चन्दन, पुष्प और जल हो तुम, तुम सब-कुछ हो तो क्या अर्पण करूं?)

क्रमश...

आह्निक - २४

कुब्जिकातन्त्र - एक उपोद्घात

अध्यक्ष - पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती

डॉ. मार्क एस.जी. डाइकॉस्की (प्रधान वक्ता)

कुब्जिका तन्त्र की एक प्रति एशियाटिक सोसाइटी में सुरक्षित है। इसकी लिपि शारदा है और यह ११वीं शती की प्रति है। कुब्जिका की मूर्ति नहीं, यन्त्र होता है। काठमाण्डू में नेवारी धर्म के लोग दीक्षा को बहुत महत्त्व देते हैं। किसी को रहस्य नहीं बताते। परिवार में दीक्षित को दैव-तुल्य माना जाता है। दीक्षित की भी पूजा होती है। (भारत में ज्ञान व कला को गोपनीय रखने की आम प्रवृत्ति है। किन्तु बौद्ध इसका अपवाद है।) गुप्त घर में केवल दीक्षित ही प्रवेश कर सकते हैं। नेवारी धर्म के अनुसार साधारण आगम (घर या कोट) साधारण लोगों के लिए व विशिष्ट आगम विशिष्ट लोगों के लिए होते हैं। **कुब्जिकातन्त्र** के दो संस्करण नेपाल में सुरक्षित हैं। हालैण्ड में **कुब्जिकातन्त्र** की लगभग १०० पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं।

पश्चिम आम्नाय के बारे में पहले कुछ बताना आवश्यक है। काश्मीर में १०वीं-११वीं शती में अनेक पाण्डुलिपियाँ थीं जो संभवतया **अभिनवगुप्त** को उपलब्ध थीं। मुझे पश्चिम आम्नाय की कुछ पाण्डुलिपियाँ वहाँ मिलीं... **कुब्जिकातन्त्र अभिनवगुप्त** के समय में काश्मीर में प्रचलित था। मेरा दृष्टिकोण ऐतिहासिक है। **अभिनवगुप्त** के पूर्व व **अभिनवगुप्त** के काल में **कुब्जिकातन्त्र** की स्थिति क्या थी- यह जानने से विषय को समझने में सहायता मिलती है।

५वीं शती से १०वीं शती में एक ऐसी व्यवस्था बनी थो जिसने तन्त्र व धार्मिक साहित्य के लेखन में बहुत सहायता दी थी। जो बड़े राजा थे वेंकटा, पण्डा, चोला आदि उनका राज्य बड़ा-बड़ा था। वे सोचते थे कि हम आपस में न लड़ें। उस समय अनेक मठ या धार्मिक स्थान बने। उन मठों में ज्ञानी, संन्यासी आदि रहते थे जो अध्ययन करने के लिए स्वतन्त्र थे। उनमें देहाती लोग भी थे किन्तु साधुओं की संख्या अधिक थी। पश्चिम आम्नाय की रक्षा इन्हीं से हुई क्योंकि जीवित व्यक्ति यदि साधना में अपने आपको नहीं डालेंगे तो

उसकी परम्परा की रक्षा नहीं हो सकती। यह वाममार्ग से ऊपर है। पाँचवीं शताब्दी से ११वीं-१२वीं शती तक ये कारण हों या कोई और कारण हों जो आध्यात्मिक नहीं हैं, बाह्य हैं जैसे आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक। इनसे तन्त्रशास्त्र का तीव्र विकास हुआ।

कुब्जिकातन्त्र पश्चिम आम्नाय का ग्रन्थ है। इसका अर्थात् पश्चिम आम्नाय का साहित्य विशाल है। बड़े आश्चर्य की बात है कि **कुब्जिकातन्त्र** का साहित्य भी विशाल है जिसके बारे में लोगों को अभी ज्ञात नहीं था अथवा कम ज्ञात था। मैंने अपनी पुस्तक के परिशिष्ट में एक लम्बी सूची दी है। इसी के आधार पर हॉलैंड में एक दो पुस्तकों के संस्करण निकले हैं। इस तन्त्र को मूल तन्त्र कह सकते हैं। जैसे काल-चक्र के लिए, वज्र के लिए श्रीविद्या आदि। **कुब्जिकामत** में २५ अध्याय हैं। पाँच अध्याय **श्रीचक्रतन्त्र** से, **श्रीतन्त्रसद्भाव** से वैसा का वैसा ही लिया गया है। **श्रीतन्त्रसद्भाव** त्रिक शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसकी तीन पाण्डुलिपियाँ हैं। एक ११वीं शती की है। एक १२वीं शती की है। तीनों प्रतियाँ नेपाल से मिली हैं।

श्रीतन्त्रसद्भाव अभिनवगुप्त के लिए बहुत ही खास ग्रन्थ था। **शिवसूत्रविमर्शिनी** में एक स्थान पर कुण्डलिनी-जागरण का उल्लेख आता है "**निराचारे स्थित....**" यह **भुवनेश्वरीतन्त्र** का उद्धरण है या उससे लिया गया है। **तन्त्रालोक** के तीसरे आह्निक में जहाँ अम्बिका का विवरण आता है, वह **श्रीतन्त्रसद्भाव** से लिया गया है।

तन्त्रालोक के २९वें आह्निक में **श्रीतन्त्रसद्भाव** के अनुसार जो दीक्षाविधि है, वह कौल दीक्षा-विधि है। कुलप्रक्रिया में प्रवेश करने के लिए वह **श्रीतन्त्रसद्भाव** से लिया गया है। इसे त्रिक गुरु **शम्भुनाथ** से पाया। इसलिए स्पष्ट है कि **कुब्जिकातन्त्र** के २५ अध्यायों में से ५ अध्याय **श्रीतन्त्रसद्भाव** से लिये गये हैं। त्रिकशास्त्र पश्चिम आम्नाय पर अतिभास्वर हुआ। यह अपने आप में स्वतन्त्र व्याख्यान का विषय है। मन्त्र का प्रभाव, परा, यन्त्र आदि का पश्चिम आम्नाय में बड़ा महत्त्व है। मालिनी का क्रम न अक्षर से शुरु होता है स अन्त तक। **अभिनवगुप्त** में उसको खास माना जाता है। पश्चिम आम्नाय में भी इसका महत्त्व है। ५० मालिनी शक्तियों का जो विवरण है, इनका चित्र मैंने बनाया है। **मालिनिविजयोत्तरतन्त्र** प्रसिद्ध है। इसको पश्चिम-आम्नाय के बाद प्रमुख माना जाता है। इस प्रकार त्रिक का असर अनेक स्थानों (ग्रन्थों) पर दिखाई देता है।

इसका बड़ा असर पश्चिम आम्नाय पर है- कौल तन्त्रों का असर है। पश्चिम आम्नाय नाम तो केवल दिशा से सम्बन्ध रखता है। वास्तव में इसका नाम कौल आम्नाय है। **कुब्जिकामत** के १००-२०० साल बाद ऐसे ४ आम्नायों की विधि बनी। बाद में ५ व फिर ६ आम्नायों की विधि बनी। एक-एक आम्नायों में एक-एक जो कौल देवता है, जैसे ऊर्ध्वाम्नाय में श्री विद्या देवी रहती है, उत्तर आम्नाय में काली रहती है और दक्षिणाम्नाय में त्रिका देवी रहती है। इसी प्रकार अन्य सबकी सूचना पुस्तक में मिलेगी। **कुब्जिकामत** के दूसरे अध्याय में ५-६ आम्नायों की कोई सूचना नहीं है। **पूर्वाम्नाय** प्राचीन कौल आचार्यों का है। ४, ५, ६ आम्नायों की इसमें कोई सूचना नहीं है। किन्तु पूर्व व पश्चिम ये दो शब्द आते हैं। उसमें लिखा है कि पूर्वाम्नाय में ६ विभाग हैं- प्रभु अवलि, योगावलि आदि। विशेषज्ञ जानते हैं कि **मत्स्येन्द्रनाथ** ने ६ राजपुत्रों को स्थापित किया है। **अभिनवगुप्त** ने **तन्त्रालोक** के २९ वें आह्निक में इसका विवरण दिया है। ये छः राजपुत्र बड़े राजपुत्र थे, बड़े चेले थे। **कुब्जिका** में इन छः अवलियों का व राजपुत्रों का उल्लेख आता है। इसको **पूर्वाम्नाय** इसलिए कहते हैं कि यह प्राचीन है अर्थात् पहले हुआ। **कुब्जिका** को पश्चिमाम्नाय कह सकते हैं। यह व्यवस्थित व स्वतन्त्ररूप से लिखा गया है। **मत्स्येन्द्रनाथ** पूर्वाम्नाय के गुरु थे। उनका लेख है। **मत्स्येन्द्रनाथ** की रचनाओं में जो कुछ लिखा गया है उसका बहुत भाग पश्चिम आम्नाय में भी मिलता है। **कुलपञ्चाशिका** मुद्रित नहीं है किन्तु उसकी एक प्रति मेरे पास है। **कुब्जिका** को पश्चिमाम्नाय भी कह सकते हैं। पहला कौल सम्प्रदाय व्यवस्थित व स्वतन्त्र था। विशेषरूप से कौल ज्ञान निर्याय, **अपुलवीयतन्त्र।** इसका संस्करण **वक्षि** महोदय ने ६०-७० साल पहले किया। इनमें जो कुछ लिखा गया है उसका बहुत कुछ पश्चिमाम्नाय में भी बहुत विस्तृत रूप में मिलता है। **मत्स्येन्द्रनाथ** के ग्रन्थों में संक्षेप में दिया गया है। किन्तु वही विवरण पश्चिम आम्नाय में विस्तृतरूप में मिलता है। उसे उसके बीज के रूप में कह सकते हैं।

कौलज्ञाननिर्याय व **कुलपञ्चाशिका** की दो हस्तलिखित प्रतियाँ मेरे पास हैं। इसके उद्धरण **क्षेमराज** ने **नेत्रतन्त्रउद्योत** में प्रस्तुत किये हैं। **कुलपञ्चाशिका** भी इसी सम्प्रदाय का ग्रन्थ है। इसमें १०० श्लोक हैं। **पूर्वाम्नाय** का इतना व्यापक असर हुआ। कुब्जिका मत ३५०० श्लोक का है। **शतसाहस्त्रिका** में ६००० श्लोक हैं। इसकी एक संक्षिप्त किन्तु उपयोगी टीका है। मैंने इन ग्रन्थों का संस्करण एवं अनुवाद टिप्पणी के साथ किया है। **श्रीमतोत्तर** एक अन्य ग्रन्थ है जिसमें

६००० श्लोक हैं। **डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेयजी** ने भी इनके संस्करण किये हैं। **श्रीमतोत्तरग्रन्थ** का ही यह विकसित रूप है। उपर्युक्त तीनों पुस्तकें बहुत संश्लिष्ट हैं क्योंकि इनके कुछ अंश एक दूसरे में मिलते हैं। **शतसाहस्त्रिका संहिता** में ४३ अध्याय हैं। इसमें बताया गया है चक्र कैसे शरीर में बिखरे हुए हैं। **पूर्वाम्नाय** के जो ६ गुरु या अवलि हैं उनके एक-एक चक्र में है, आज्ञा चक्र हैं। जो प्रचलित कुण्डलिनी चक्र था उसका सिस्टम कुछ लगभग उसी तरह का है। इसके ऊपर तुरीयातीत चक्र है, उसे केशरी चक्र कहा जाता है। इसे गुरुमुख भी कहते हैं। मुद्रा व प्राण के संचार के लिए **पूर्वाम्नाय** का पूजन किया जाता है।

ऐतिहासिक सूचना संक्षेप में यह है कि **पूर्वाम्नाय** और **मत्स्येन्द्रनाथ** के साहित्य का प्रभाव पश्चिम आम्नाय पर रहा है। जो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ परा सम्प्रदाय का है वह **अघोर अघोराघोरेश्वर** है। **स्वच्छन्द** बहुत बड़ा देवता था जो ९वीं शती से लेकर १२वीं शती तक उत्तर-दक्षिण भारत में फैला था। दक्षिण भारत व नेपाल में भी उसका पूजा-विधान अभी तक प्रचलित है और इसी तरह **कुब्जिकातन्त्र** पर भी इसका असर है। **स्वच्छन्दतन्त्र** में **अघोरेभ्यो...** ऐसा मन्त्र आता है। जैसे कुब्जिका का मन्त्र ३२ अक्षरों का है इसी प्रकार **स्वच्छन्दतन्त्र** में भी ३२ अक्षर का मन्त्र है। स्वच्छन्द भैरव की विधि का असर हुआ। दीक्षा-विधि में भी प्रभाव हुआ। दीक्षाविधि को पश्चिम आम्नाय में षोडशाज्ञाभिषेक कहा जाता है। षोडशाज्ञाभिषेक में रीतिकला से लेकर शान्तातीत कला २२४ वर्ष है, ३६ तत्त्व हैं आदि। इन सब में गुरु-शिष्यों का न्यास किया जाता है और क्रमशः उसका शिवतत्त्व में नियोग करते हैं। स्पष्ट है कि यह निर्वाण-दीक्षा है जो शैवागम में मिलती है। निर्वाण-दीक्षा का यह जो विधि-विधान है पादाद्वय, का यह दो प्रकार का है...। एक पादाद्वय ८१ घोर सम्प्रदाय में ९४ पद हैं। उसका व्योमव्यापिनी मन्त्र है। एक दूसरा सम्प्रदाय जो उत्तर भारत में है। जो उत्तर-दक्षिण का विभाजन करता है, उसे मैं नहीं मानता फिर भी उसी दृष्टिकोण से कुछ बातें समझी जा सकती हैं। काश्मीरी पुस्तकों के अनुसार तन्त्रों में, **स्वच्छन्दतन्त्र** में प्रमुख रूप से, पदाध्व निबद्ध है। **स्वच्छन्दतन्त्र** में छठे अध्याय में इसका विवरण है। **क्षेमराज** ने **उद्योत** में बताया है वह चित्र भी है। इस **पदाध्वनि** का ४९ पदों में विभाजन किया गया है। इसका मूल है **ॐ** (इसे गिना नहीं जाता है) यह नवात्म मन्त्र के आधार पर विभाजन हुआ है। **हसक्षमलयुं** में ९ अक्षर हैं। पाँच बार ९, ९ मिलाकर ४५ और आखिरी ४ अक्षर मिलकर ४९ बनते हैं। पाँच कलाओं और २२४ भुवनों में इनका विभाजन किया जाता है।

पश्चिम आम्नाय में **स्वच्छन्दतन्त्र** कितना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है- इससे यह सिद्ध होता है। मेरी दृष्टि में ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि केवल पश्चिम आम्नाय में ही नहीं तन्त्रशास्त्र में भी कुछ बातें सामान्यरूप से है। यह दृष्टि पुस्तकों से बाहर की है। यह शिलालेख पर आधारित है।

पश्चिम आम्नाय या यह तन्त्र साहित्य किसने बनाया और कैसे इतने व्यापक क्षेत्र में फैला। इसका उत्तर कठिन है। किन्तु मैं इस पर संक्षेप में कुछ कहना चाहता हूँ। इसमें प्रमुख योगदान गृहत्यागियों का है। सिद्धान्त आगम हो या वैष्णव, पाञ्चरात्र हो, या पाशुपत मत हो वहाँ से लेकर इन सबका उत्तर **निःश्वासतन्त्रसंहिता** में मिलेगा। इसकी दो पाण्डुलिपियाँ नेपाल में हैं। इतिहास को जानने का यह बहुत बड़ा स्रोत है। उससे लेकर १२ तन्त्रों में जहाँ सिद्धान्त आगमों की तरह का विधि-विधान है, साथ-साथ में व्रताचार चलता है। व्रताचार में श्मशान-विधि है। साधक श्मशान में मन्त्रोच्चारण करते हैं। **भैरवतन्त्र** में भी देवियों का ज्ञान होता है और योगिनियों का भी इसमें बहुत अधिक पूजन होता है।

यह ग्रन्थ दाहिना हाथ है और पश्चिम आम्नाय बाँया हाथ। **अभिनवगुप्त** के सामने विशेषरूप से त्यागियों व संन्यासियों के उपदेश थे, **पश्चिम आम्नाय** में और तन्त्रों से जैसे **जयद्रथयामल, श्रीतन्त्रसद्भाव** इन सब पर नक्शे बनाये गये हैं। पचास योगिनियों के क्षेत्र **योगिनीहृदय** में बताये गये हैं जो पश्चिम आम्नाय से सीधे उतार लिये गये हैं। यह Domestication Process है। **ब्रह्मयामलों** में भी इसका विवरण मिलता है। ऐसे गृहत्याग करके कुछ दिन, महीने या साल इन क्षेत्रों का भ्रमण कर सकता है। इस चर्या को कर सकते हैं। इसी को व्रत कहते हैं। अघोरी लोग हाथ में पेशाब करके उसका स्वयं अभिषेक करते हैं। यह अभ्यास अभी भी होता है। **विशुद्धानन्द** एक व्यक्ति थे जिनके गुरु **अघोरातीत** थे। वे ६ महीना श्मशानों में रहते थे, ६ महीना जुआ खेलते थे, कार में चलते थे। इस प्रकार के व्यवहार की संस्तुति मैं नहीं करता किन्तु सूचना यह है कि आज भी यह प्रचलित है।

योगिनीहृदय में इस विषय को बहुत आगे बढ़ाया गया है। **अभिनवगुप्त** के **तन्त्रालोक** में यह पूर्ण रूप में है और पश्चिम आम्नाय में इसकी मध्य स्थिति है। **योगिनीहृदय** में शोधन न्यास में इसका उल्लेख है। यह विषय इतिहास का भी है और अभ्यास का भी। **योगिनीहृदय** में तीन विभाग में लिखा है, पूजा-

सङ्केत की शुरुआत में शोध-न्यास आता है। शोध-न्यास में **गणेश**, नक्षत्र, राशि, योगिनी-न्यास, पीत-न्यास आदि के बाद श्री विद्याचक्र का न्यास किया जाता है। इसी सन्दर्भ में पीत-न्यास आता है जिसमें ५० पीतें हैं। जो **योगिनीहृदय** नहीं जानते हैं, पश्चिम आम्नाय जानते हैं, उसमें ५० अक्षर हैं। इस न्यास के अलावा **योगिनीहृदय** में एक और शब्द है। इसमें ६००-७०० श्लोक हैं। पीतों को घुमाने के बारे में ये श्लोक उनके लिए हैं जिनके लिए पीत का जानना जरूरी नहीं है। **तन्त्रालोक** में बहुत-सी ऐसी बातें भी तन्त्र के बारे में हैं जो अन्यत्र नहीं मिलती हैं जैसे षट् कर्म। ऐसे विषयों पर **अभिनवगुप्त** ने विचार भी किया है। **तन्त्रालोक** के १५वें आह्निक में जहाँ पीठ-न्यास है उसमें ३८ पीठों का विवरण है। कुछ सिद्धि व कुछ प्रायश्चित के लिए है। काश्मीर शैव शास्त्र में मोक्ष तो परम सिद्धि है।

पश्चिम आम्नाय के बारे में कहानी यह है कि **बालोजी** हिमालय के आश्रमों में घूम रहे थे। **हिमवान्** ने उनकी बहुत बड़ी स्तुति की। स्तुति से खुश होने पर सन्त ने कहा कि मैं वरदान दूँगा। पाँच श्लोकों का स्तोत्र उच्चारण किया। लेकिन एक और वरदान भगवान् से माँगा कि जो मेरी बेटी **कालिका** है उसका आप पाणिग्रहण करें। देवी ने कहा कि मैं ऐसा देवता चाहती हूँ जिसका मैं आराधन कर सकूँ। उन्होंने आज्ञा दे दी। **आज्ञा** एक पारिभाषिक शब्द है (आज्ञा चक्र) आज्ञा पारद है या शुक्र है। देवी ने कहा मुझे जाना है। पूछा गया कहाँ और क्यों? इसका उत्तर भी अनेक श्लोकों में है। भगवान् ने कहा हम शब्दराशि व तुम मालिनी देवी। हम देखेंगे कि किसको किसकी अपेक्षा है। इस पर वह लुप्त हो गयी।

पुराणों में यह कहानी उलटी है। पुरुष स्त्री में कौन पहले है? क्या है? यह विस्तार से विचार का विषय है। देवताओं को आश्चर्य हुआ। **बालोजी** ढूँढ़ने लगे। एक स्थान पर चन्द्रद्वीप का उल्लेख है। जहाँ **मत्स्येन्द्रनाथ** ने कौल **तन्त्र** का अवतार किया। उसमें कोयल गाती है, **कामदेव** घूमते हैं। **तन्त्र** में जितना अधिक काम है उतनी ही शक्ति की तेजी है। देवी खुश थीं चन्द्रशील या मन्दिर की सुन्दरता देखकर। चन्द्रशील या चन्द्रदीप द्वादशान्त में है। इस सम्प्रदाय में सीधे शाम्भवावस्था आती है। षोडशान्त भी होता है। चन्द्रशील में देवी एक लिङ्ग में प्रवेश करती हैं। सारा विश्व उसमें लुप्त हो गया। देवी ने चन्द्रशील के आराधन में **मालिनीतन्त्र** का उच्चारण किया। जो बात **कुब्जिकातन्त्र** में आती है वही **मातङ्गतन्त्र** में आती है। देवी लिङ्ग में इतनी खुश थी कि फिर विस्फोट करके निकली है और उसके सामने प्रकट होती है। ऊर्ध्वकोशिका, श्यामरक्ता, अति गौरवर्णरूपा वह इधर-उधर देखने लगी।

मातङ्गतन्त्र और **कुब्जिकातन्त्र** में आता है- कौन हमारी दृष्टि व दृश्य को सह सकता है। उसने सिंहावलोकन किया। उनका पूर्णरूप से आज्ञाक्रमण हुआ दृष्टि से। हमारे दीक्षा-विधि-विधान में इसको शाम्भवी-दीक्षा कहते हैं। इसमें सभी (पुरुष-स्त्री) साक्षात् शाम्भव भाव में स्थित हो जाते हैं। पश्चिम आम्नाय की विशेषता है कि वह शीघ्र इस अवस्था में पहुँचा देती है– आज्ञा-संक्रमण से। **तन्त्रालोक** में भी मिलेगा कि यह भेद-दीक्षा होती है। कौल-दीक्षा के सन्दर्भ में एक पाशुवेद होता है उसमें भी यह प्रसङ्ग आता है। इसमें आचार्य इस तरह से शिष्य को देखता है कि उसमें शिष्य मर जाता है। **तन्त्रालोक** में भी कुछ मिलता है। लेकिन **अभिनवगुप्त** ने इसमें बहुत ज्यादा और नहीं दिया जैसे हमारे पश्चिम आम्नाय में आता है और कौल तन्त्र में भी आता है। हिन्दुस्तान में जो गुरुजन हैं वे शाम्भवी दीक्षा देते हैं। नासिक में मेरे मित्र ने यह दीक्षा एक बाबा से पायी है। वह कुण्डलिनीदीक्षा देते हैं और यह तो आपको आणवोपाय में मिलता है, **सिद्धदर्शनम्**।

भैरवजी और देवीजी के विवाह के सम्बन्ध में संवाद-

देवीजी का नाम **बिन्दु पुष्पा** है, वर्ण श्वेत है। देवी से शुक्र निकलता है। इसके **कुब्जा** नाम की सार्थकता इसी प्रसङ्ग में है। इसका विवरण **ललितासहस्त्रनाम-सूत्र** में मिलता है। अनेक पौराणिक कहानियों में ऐसा वर्णन मिलता है कि स्त्री पुरुष हो जाती है और पुरुष स्त्री हो जाता है। पश्चिम आम्नाय का विस्तार पीठों में और वहाँ की परम्पराओं में दिखाई देता है।

त्रिकोण में चन्द्रदीप आदि बताये गये हैं। देवी त्रिकोणरूपिणी, अधोमुखी है। प्रत्येक त्रिकोण में एक सिद्ध रहता है।

अभिनवगुप्त के **तन्त्रालोक** में एक भी देवता का, उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों का वर्णन नहीं है, देवता का रूप नहीं है।

पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती (अध्यक्षीय)

बाँग्ला भाषा में **कुब्जिकातन्त्र** पर एक ग्रन्थ प्रकाशित है उसमें गहराई नहीं है। **कविराज** ने भी अपनी एक पुस्तक के अन्त में कुब्जिकामन्त्र का उल्लेख किया है। प्राचीन परम्परा में चतुराम्नाय शब्द प्रचलित है। आगम-परम्परा में छः आम्नायों का वर्णन है। पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, पूर्व, ऊर्ध्व, अधः। पञ्चवक्त्र **शिव** से जो शास्त्रों का क्रम प्रचलित होता है **तन्त्रालोक** में इसका संक्षिप्त विवरण है। पश्चिमाम्नाय में कुब्जिकामत का उल्लेख है। **कविराजजी** ने एक लेख में

कहा है। **पूर्वाम्नाय** में भुवनेश्वरी, ललिता, विद्या, तारा, त्रिपुर-भैरवी, आदि देवियाँ हैं। दक्षिणाम्नाय में लक्ष्मी, सरस्वती, अन्नपूर्णा व परा देवियाँ हैं। दक्षिणाम्नाय में बगलामुखी, बालाभैरवी, छिन्नमस्ता, भद्रा, तारा, मातङ्गी आदि हैं। **पश्चिमाम्नाय** में कुब्जिका, कुलालिका, मातङ्गी और लक्ष्मी। **उत्तराम्नाय** में काली, तारा, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, मातङ्गी, प्रिय काली, धूमा, कुलालिका, मातङ्गी, अमृता, गुह्यकाली, ध्रूम्रा, महाकाली, महाश्मशानकाली, कपालिनी, कामकलाकाली। **उत्तराम्नाय** में काली, तारा, भैरवी, धूमावती, मातङ्गी, गुह्यकाली, कलाकाली, महाकाली, महाश्मशानकाली, कपालिनी आदि देवियाँ हैं। **ऊर्ध्वाम्नाय** में कालसङ्कर्षिणी, सरस्वती, छिन्ना, महाभीमा, सरस्वती, तारादि हैं। **अधः आम्नाय** में कामेश्वरी, षोडशी, सिद्धिभैरवी, सिद्धिलक्ष्मी आदि हैं। **ऊर्ध्वाम्नाय** में कामेश्वरी, ललितेश्वरी, भीमा, सरस्वती, सुन्दरी, तारादि हैं। **ऊर्ध्वाम्नाय** में त्रिपुरा भैरवी हैं। **अधःआम्नाय** में वज्रयोगिनी, पन्नगा, भीमा आदि हैं। इन देवियों से सम्बन्धित दशमहाविद्या व अष्टादशविद्या हैं। इन विद्याओं के साथ प्रत्येक आम्नाय का सम्बन्ध रहा है।

❖ ❖

अजपा गायत्री हंसु-हंसु जपिथ अहम् त्राविथ सुय अदु रठ
यम्य त्रोव अहं सुय रुदु पानय बोु ह नु आसुन छय व्वपदीश

(अजपा गायत्री मन्त्र 'हंस:' हर सांस में जपो! अहं छोड़ दो और उसमें खो जाओ। जिसने अहं को छोड़ा वह उसे पा गया। उससे अलग होने को मिटा दो, यही सीख है।)

अस प्वन्दे ज़्वसे ज़ामे न्यथ्य स्नानकरि तीर्थन
वहर्य वांहरस नो नुय आसे निशि छुय तु पजानतन

(वह हंसता है, छींकता है जंभाई लेता है तीर्थों में नित्य स्नान करता है वह सारे साल नंगा रहता है वह तुम्हारे पास है, उसे पहचानो?)

लल बो ह लूसस छाडान त गारान हाल म्य को रमस रसनिश तिय
वुछुन ह्यो तमस तार्य डींठिमस बरन म्यंति कल गनेयम ज़ि ज़ोगमस ततिय

(लल खोजती और बाट जोहती थक गई मैंने उसका पीछा किया धीरे-धीरे मैंने कोशिश की कि उसकी एक झलक मिल जाये पर देखा कि दरवाजे बन्द हैं मेरी चाह और गहरी हो गई और उसकी बाट में मैं अपने भीतर बैठ गई।)

योगीश्वरी के इन वचनों में शैवदर्शन के योग और भक्ति का स्वरूप एक स्वर में अभिव्यक्त हुआ है।

द्विवेदी, रामचन्द्र, **काश्मीरीय शैव परम्परा**, पृ. ६३-६५ से उद्धृत.

आह्निक - २५
काठमाण्डूघाटी में शैव-शाक्त धर्म का इतिहास

अध्यक्ष - पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी

डॉ. मार्क एस.जी. डाइकॉस्की (प्रधान वक्ता)

नेपाल के एक पुस्तकालय में तन्त्र के अनेक दुर्लभ ग्रन्थ हैं जो हस्तलिखित स्वरूप में हैं। इनका सम्बन्ध तन्त्रशास्त्र और बौद्ध मत से है।

कुब्जिका देवता का विशाल वाङ्मय है। यह लगभग पचास हज़ार श्लोकों का है। **कुब्जिका** देवी उन ब्राह्मणों की आराध्या है जो इस तन्त्र की दीक्षा लेते हैं।

मैं लगभग १५ वर्षों से इस शाखा के अध्ययन में लगा हूँ। काठमाण्डू के पुस्तकालय में कार्यरत एक राज्योपाध्याय से बातचीत के बाद इस विषय पर मेरी रुचि बढ़ी। नम्रतापूर्वक कहना चाहता हूँ कि मैं पहिला व्यक्ति रहा जो संस्कृत की जानकारी रखते हुए लोगों के साधना-क्षेत्र में गया। इस देवी की साधना और अभ्यास करने वाले लोग नेवारी व नेपाली भाषाएँ तो जानते हैं किन्तु संस्कृत नहीं जानते हैं।

कुब्जिका देवी की साधना करने वाले साधकों ने बताया कि इस साधना से सम्बन्धित सामग्री को ऐसे गोपनीय स्थान पर रखा जाता है जहाँ अन्य वस्तुओं और व्यक्तियों का प्रवेश नहीं होता है। फिर भी इन लोगों ने मेरी रुचि व महत्त्व को समझा क्योंकि इस तरह का दूसरा व्यक्ति उनके पास पहले कभी नहीं गया था। राजभण्डारी, ब्राह्मण, वैद्य आदि ने मुझ पर विश्वास करते हुए उनकी कुछ क्रियाओं के बारे में बताया। इन साधकों में तान्त्रिक रीति से दीक्षा का विधान नहीं है अथवा कह सकते हैं उनकी पद्धति तान्त्रिक दीक्षा की नहीं है। शैव तन्त्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ही दीक्षा ले सकते हैं क्योंकि वे जनेऊ धारण करते हैं। **कुब्जिका** के साधक अपने परिवार के पुरोहित से दीक्षा लेते हैं। अनेक परिवारों को मिलाकर सुकी (नेवारी भाषा का शब्द) बनता है। उन सबका एक कुल देवता रहता है। यह ऊँची जाति वालों का होता है। वे इस देवता का नाम भी गोपनीय रखते हैं और दीक्षित के अलावा किसी को नहीं बताते हैं। ये सभी कुल देवता देवीरूप हैं।

ऊँची-नीची जाति के सभी लोग **दिगुजे** होते हैं। दिगु अर्थात् परिवार, जे अर्थात् देवता। ये परिवार या कुल के देवता कहे जाते हैं। **दिगुजे** दो-तीन पत्थर हैं जिनकी पूजा पुरुष व स्त्री सभी लोग करते हैं। वहाँ चैत्र मास में वर्ष में एक बार **दिगुजे** की पूजा की जाती है। पूजा करने वाले घर से जब निकलते हैं तो अपने साथ टोकरी में एक मुकुट रखते हैं। अन्य सामग्री भी होती है। वे बकरे या भैंसे की बलि देकर उसकी आतें निकाल कर माला बनाते हैं जो **दिगुजे** को पहिनाई जाती है। वे मानसिक पूजा करते हैं। उसमें देवी का ध्यान करते हैं। मन्त्रों का उच्चारण करते हैं। शब्दों का बाह्य उच्चारण नहीं करते हैं। बाद में मांसादि का सभी भोजन करते हैं।

पूजा की विधि में पत्थर की मूर्ति को मुकुट पहनाया जाता है। इसे नगर के बाहर रखा जाता है। परिवार के सदस्य यदि बाहर रहते हैं तो उन्हें उसी कुल देवता के स्थान पर पूजा के अवसर पर जाना पड़ता है।

अब ये सब प्रक्रियाएँ लुप्त होती जा रही हैं। पूजा न करने पर कुल देवता बहुत हानि कर सकते हैं, विशेषरूप से दीक्षा लेने के बाद भी पूजा न करने पर। इसलिए नई पीढ़ी के लोग सरलता से दीक्षा लेना नहीं चाहते हैं। दीक्षा परिवार के सदस्यों को ही दी जाती है। मैं सुकी परिवार से नहीं हूँ, इसलिये मैंने दीक्षा नहीं ली।

प्राचीन काल में राजा उन व्यक्तियों को आर्थिक सहायता देते थे जो सदैव पूजा में लगे रहते थे। किन्तु अब ऐसा नहीं है। यह भी एक कारण है कि नवयुवक दीक्षा नहीं लेते हैं।

जहाँ-जहाँ बिन्दु है वहाँ-वहाँ **दिगुजे** हैं। **आगम चे** (गुप्त घर) यह आगम शब्द 'नेवारी' भाषा का है और इसका तन्त्रागम से कोई सम्बन्ध नहीं है। मैंने पूजा करने वाले कई लोगों के साक्षात्कार भी लिए हैं। आज अनेक आगम अच्छी स्थिति में नहीं हैं। पहले उनको राज्याश्रय मिलता था और ट्रस्ट बनाकर या आस-पास की खेती से उनकी व्यवस्था होती थी। यह **आगमी सिंह** का आगम था। (नेपाली मन्दिर बनाने की ऐसी ही प्रथा है)। सातवीं शती में वह मल्लाह प्रधानमंत्री थे। **आगमी सिंह** का इष्ट देवता **कुब्जिका** था। **दिगुजे** काठमाण्डू के बाहर है। सबसे श्रेष्ठ आगम राजाओं का माना जाता है। काठमाण्डू के महलों में और अन्य जगह के महलों में बड़े-बड़े आगम होते हैं। नेवारी भाषा में **तलेजु** जिसे कहते हैं वह **तलेजु** (जो ऊपर तल्ले में रहते हैं) तीन या पाँच मञ्जिल का जो भवन होता है उसमें सबसे ऊपर के तल में उसे रखा जाता है। तीन तलों का भी

विशेष अर्थ माना जाता है, जैसे शैव दर्शन के तीन तत्त्व। सबसे ऊपर अर्थात् **शिव**-तत्त्व में रखे जाते हैं। **टाकली** प्रधान पुजारी को कहते हैं। इस तलेजु का काश्मीर से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

मन्दिर में अन्दर जो देवता है उसका स्वरूप नागदेवता के समान भयानक है। पहले हर वर्ष नर-बलि दी जाती थी। आधुनिक युग में ऐसा नहीं है। **आगम चे** है गुप्त घर है। **आगम चे** में भी देवी रहती है। मातृका के भी दो रूप हैं। एक रूप पत्थर वाला है। शनिवार या सप्ताह में एक दिन उस पत्थर की मूर्ति को बाहर निकाला जाता है। पत्थर के रूप में मातृका देवी रहती है। इनका दुर्गापूजा का समय भारतीय मान्यता से भिन्न रहता है, यह चैत्र मास में होती है। कुछ पूजा सप्ताह में एक दिन होती है और कुछ वर्ष में एक बार लेकिन दोनों का आधार एक ही है। कुल देवता की मूर्ति होती है, **दिगुजे** की नहीं होती है। एक निराकार है, एक साकार। **कुब्जिका** की कोई मूर्ति नहीं है, यन्त्र है। ये राजाओं की देवी है। पुरोहितों की देवी कुछ और है। देवी के दो रूप अन्दर व बाहर वाले कौन हैं? यह जानना अत्यन्त आवश्यक है।

पत्थर को संस्कृत में पीठ कहते हैं। शहर में जितने पीठ या पत्थर रखे जाते हैं उनकी पूजा की जाती है। ऐसे पीठों की गणना ४०० से अधिक की गयी। कहीं घर के सामने देहली के पास हैं, कहीं घर के चौराहे पर हैं। इस तरह कई स्थानों पर वे स्थापित हैं। नेवारी में इनके नाम अलग हैं, संस्कृत में अलग हैं। पुरुषरूप जो लिङ्ग हैं वे **आजू** हैं। **आजू** का तात्पर्य है दादा। स्त्री का नाम है **आजिमा**। इसका अर्थ दादी है। **आजू** को नायो या नायक भी कहते हैं। मातृका के नाम जैसे ब्रह्माणी, ईश्वरी, कुमारी आदि हैं। पहले अलग धर्म था, बाद में शैव तन्त्र आया, फिर बौद्ध तन्त्र व धर्म आया, फिर इनका मिला-जुला रूप आया है। पूजा करने वाले जैसे-जैसे वृद्ध होते जाते हैं वे अच्छे और पूजनीय होते जाते हैं। मृत व्यक्ति भी देवता के रूप में मान्यता प्राप्त करता है। दक्षिण भारत में भी ऐसी परम्परा है कि मृत राजा की भी पूजा की जाती है। **दिगुजे** हमेशा पुरुष होता है। किन्तु मृत व्यक्ति की जो पूजा होती है उसमें पुरुष व स्त्री का भेद नहीं है। **दिगुजे** पुरुष व **कुब्जिका** देवी स्त्री। इसलिए **दिगुजे** का रूप पूजा के लिए बदलना पड़ता है। पूजा के समय वह स्त्रीरूप हो जाता है। मैंने जो ९०% लोगों को देखा उनमें सब पुरुष थे। **भैरवजी** के अनेक रूप हैं। दीवारों पर, मन्दिरों पर, भैरव-मूर्ति के अनेक रूप हैं। मूर्ति के नीचे या पीछे पत्थर है जो वह असली रूप है।

शिलालेख, वंशावली व पुस्तिका से इतिहास की कुछ बातें स्पष्ट होती हैं। लिच्छवी वंश (९वीं-१२वीं शती) और मल्लाह युग १३वीं-१४वीं शती है। पुस्तकों की हस्तलिखित प्रतिकृति होती थी और उनमें तत्कालीन राजा का भी उल्लेख होता थ। १२वीं-१४वीं शती तक के काल में नेवारी व मैथिली लिपि में बहुत समानता थी।

पं. परमहंस मिश्र (टिप्पणी व प्रश्न)

मैंने भी काठमाण्डू में जाकर मूर्तियों को देखा है। देवी-देवताओं की मूर्तियाँ अनेक हैं, विविध हैं किन्तु यन्त्ररूप **कुब्जिका** का स्वरूप इन सबसे भिन्न है। चित्र दीवारों पर हैं और भारत में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। तन्त्र प्रतीकशास्त्र है। उपर्युक्त तीनों देवियों की मान्यता में और कुल रीति व भारतीय तन्त्रशास्त्र की मान्यता में क्या अन्तर है? पूजा-विधि में क्या अन्तर है और भारतीय दर्शन शास्त्र की विधियों से क्या अन्तर है? इन विषयों में आपके तुलनात्मक अध्ययन के निष्कर्ष क्या हैं?

आपने सभी अन्य विषयों को बताया किन्तु **कुब्जिका** के विषय में कुछ भी नहीं बताया। भूमिका तो बतलानी चाहिए थी। आपने वहाँ के रीति रिवाज़, पूजा-विधि, **आगमचे,** पशुबलि आदि को बतलाया परन्तु **कुब्जिकातन्त्र** के बारे में साबित किया कि यह शारदा लिपि में है। इसका अर्थ यह नहीं है कि यह काश्मीर से लिए गये हैं। यह दक्षिण भारत से उत्तर भारत में आया। यह सब कार्य १००-२०० वर्षों के अन्दर हुआ। ११वीं शती की लिपि में नेपाल में यह हमें मिला है। उसमें लिखा है कि म्लेच्छ राज्य आया और उसने ब्राह्मण व क्षत्रियों का नाश किया। इसी समय नालन्दा विश्वविद्यालय के पुस्तकालय को जलाया गया जो छः महीने जलता रहा। उसी आग में तन्त्र के ग्रन्थ भी जल गये। अनेक ग्रन्थ नष्ट हो गये। कुछ नेपाल, तिब्बत आदि में थे वे बच गये। भय के कारण उन्हें किसी को नहीं दिया गया। फलस्वरूप हमारा ज्ञान और हमारी सूचनाएँ अधूरी रहीं। मातृकामण्डल में **गणेश** जी के साथ कुमारी है। यह काली-क्रम है।

❖ ❖

जिस प्रकार, भारत से तन्त्र या तान्त्रिक संस्कृति बाहर गई, उसी प्रकार बाहर से भी कोई-कोई तन्त्र भारत में आया है। इस सन्दर्भ में **कुब्जिकातन्त्र** का नाम याद हो आया है। **–पं. गोपीनाथ कविराज**

आह्निक - २६

म.म. पण्डित गोपीनाथ कविराज-स्मृति

अध्यक्ष - ज्ञानसिंहासनाधीश्वर डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य

डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास (संयोजक द्वारा पूर्वपीठिका)

कोई क्षण लौकिक होते हुए भी ऐसे पारलौकिक तत्त्व या ऐसी पारलौकिक प्रतिभा को उद्भूत कर जाता है जो काल की सीमाओं में रहते हुए भी कालातीत बन जाता है अर्थात् व्यावहारिक काल से ऊपर उठ जाता है। **महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराजजी** इस युग के ऐसे ही प्रधान सिद्ध पुरुष, विद्वान् और लोक-कल्याणकर्त्ता थे।

आज की यह तन्त्र-गोष्ठी उन्हीं के जन्म-दिवस की स्मृति को समर्पित है। उनका जन्म ७ सितम्बर, १८८७ को धमराई, ढाका (सम्प्रति बांग्लादेश) में हुआ था। १३ वर्ष की अवस्था में उनका विवाह हुआ। इण्टर तक की शिक्षा ढाका में प्राप्त करने के बाद वे जयपुर गये और १९१० में सर्वप्रथम वाराणसी आये। १९१३ में उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम.ए. (संस्कृत) की परीक्षा उत्तीर्ण की। १९१४ में संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में सरस्वती-भवन के पुस्तकालयाध्यक्ष बनाये गये। १९१७-१८ के मध्य **पं. परमहंस विशुद्धानन्द जी** से दीक्षा प्राप्त की। १९२४ में क्वींस कालेज, वाराणसी के प्राचार्य बने। १९२८ में **माता आनन्दमयी** से उनकी सर्वप्रथम भेंट हुई। १९३४ में उन्हें महामहोपाध्याय की उपाधि प्रदान की गयी। १९३७ में स्वैच्छिक सेवा-निवृत्ति प्राप्त करने वाले **कविराजजी** को १९६१ में कैंसर रोग की पीड़ा को भोगना पड़ा। १९६४ में उन्हें भारत सरकार की पद्मविभूषण की उपाधि प्रदान की गयी। १२ जून, १९७६ को माता आनन्दमयी अस्पताल, वाराणसी में उन्होंने भौतिक शरीर का त्याग किया।

आज की गोष्ठी में वयोवृद्ध विद्वान् **पं. श्रीपतिराम त्रिपाठी जी** उपस्थित हैं। आप **कविराजजी** के साथ वर्षों तक रहे हैं तथा साथ ही संस्कृत विश्वविद्यालय के उस योगतन्त्र-विभाग से भी सम्बद्ध रहे हैं जिसकी स्थापना होने पर **कविराजजी** को उसका सर्वप्रथम अध्यक्ष बनाया गया था। **कविराजजी** के ग्रन्थ, लेख आदि लिखने के प्रसङ्ग में भी इनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

इसी गोष्ठी में **कविराजजी** की सुयोग्य शिष्या **प्रेमलता जी** भी हमारे बीच उपस्थित हैं और **कविराजजी** की बांग्ला में जीवनी लिखने वाले **पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्तीजी** भी विराजमान हैं। इनके अतिरिक्त **कविराजजी** के गम्भीर शिष्यों में मान्य **पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी जी** यहाँ उपस्थित हैं। इस अवसर पर उनके संस्मरणों और विचारों से भी हम लाभान्वित होंगे।

डॉ. अनामिका सिंह (पूर्वपीठिका)

इस अवसर पर श्रद्धेय **कविराजजी** को श्रद्धासुमन अर्पित करते हुए मैं कुछ विद्वानों के प्रासङ्गिक विचारों का स्मरण करना चाहती हूँ।

पं. बलदेव उपाध्याय के अनुसार **कविराजजी** स्वयं उच्चकोटि के साधक थे। वे प्रति सप्ताह सोमवार और गुरुवार को मौन धारण करते थे। उनके यहाँ अध्यात्मतत्त्व के जिज्ञासुओं का ताँता बँधा रहता था जिसमें मैंने अनेक बार यूरोपियन और अमेरिकन लोगों को भी देखा था। **कविराजजी** को यह शिकायत रहती थी कि हम लोग केवल शास्त्र की ही बातें पूछते थे, साधना की बातें नहीं पूछते थे जिनको उन्होंने स्वानुभूत किया था। वे सस्ती प्रशंसा से सर्वदा हमें दूर रहने का उपदेश देते थे तथा किसी भी वस्तु के अन्तरङ्ग में प्रवेश करने की सदा शिक्षा देते थे। **तन्त्रसार** के ऊपर उनका अबाधित अधिकार आश्चर्य में डालने वाला था। बहुत से जानकारों की दृष्टि में वे तन्त्रशास्त्र के सर्वश्रेष्ठ अधिकारी विद्वान् थे। तन्त्र के साधनापक्ष की चर्चा वे कम करते थे क्योंकि उनके लिए अधिकारी पात्रों का अभाव मुख्य हेतु था।

पं. विद्यानिवास मिश्र लिखते हैं- वे मानवीय प्रज्ञा के सोपान पर सोपान चढ़ते गए। जिस शास्त्र को उन्होंने छुआ, उसे नया आलोक दिया, कभी ऐतिहासिक क्रम में स्थापित करके, या कभी शास्त्रान्तर से स्वरूपतः भिन्न देखते हुए भी तत्त्वतः अभिन्न रूप से दिखा करके, ज्ञान की अखण्डता उन्होंने स्थापित की।

प्रो. प्रेमलता शर्मा (व्याख्यान)

आज के विज्ञान और अध्यात्म की भित्ति पर खड़े विज्ञान की पद्धति, इन दोनों के अन्तर को कभी-कभी वे बड़े प्रखर शब्दों में व्यक्त करते थे। बात १९६१ की है। चाँद पर मानव के उतरने की घटना सर्वत्र अपनी चकाचौंध फैलाए हुए थी। एक दिन अचानक बोले कि- 'यह कौन-सी बड़ी बात है कि

इतना विपुल अर्थ व्यय करके मानव चाँद पर पहुँचा, चाँद पर योगबल से भी पहुँचा जा सकता है और वही वास्तविक मार्ग है।

दिव्य होते हुए भी पार्थिव, पूर्णतः अन्तर्मुखी होते हुए भी बहिर्मुखों के प्रति करुणापूर्ण, परम मौन के अभ्यासी होते हुए भी निरन्तर वाक्-प्रवाह से जिज्ञासुओं को सतत आप्यायित करने के धैर्य के धनी, स्वयं वीतराग होते हुए भी सामान्यजनों की शोक-विह्वलता के प्रति पूर्णतः सहानुभूतियुक्त, स्वयं अकाल होकर भी कालप्रवाह में आयी हुई घटनाओं के प्रति जागरूकता-क्या इन बातों से उनके अनुपम स्वरूप का कुछ वर्णन हो सकता है? शायद नहीं।

पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी (व्याख्यान)

श्रद्धेय **कविराजजी** के जीवन में क्रियापक्ष और भाव-पक्ष का अद्भुत समन्वय रहा है। धीरे-धीरे क्रियापक्ष शिथिल होता गया और भावपक्ष सबल। इनके इन दोनों स्वरूपों का दर्शन हम उनकी कृतियों में कर सकते हैं।

कविराजजी का यह निश्चित मत था कि परवर्ती अद्वैतवादी तान्त्रिक दर्शन ने शून्यवादी बौद्ध दर्शन और मायावादी शाङ्कर दर्शन की त्रुटियों का परिमार्जन कर भारतीय दर्शन को अलीकवाद से हटाकर यथार्थवाद के उच्च शिखर तक पहुँचाया था। **परमार्थमञ्जरी**कार **महेश्वरानन्द** ने अपने ही ग्रन्थ की **परिमल टीका** में इस विषय को अनेक मनोरञ्जक युक्तियों के सहारे प्रतिपादित किया है।

आगमिक तथा तान्त्रिक वाङ्मय का सांस्कृतिक एवं दार्शनिक विवेचन ही **कविराजजी** को प्रिय था। कर्मकाण्ड की चर्चा में उन्होंने कभी रस नहीं लिया। जहाँ तक योग का प्रश्न है, **व्यासभाष्य, विज्ञानभैरव** और **विरूपाक्षपञ्चाशिका** ये तीन ग्रन्थ उनको अत्यन्त प्रिय थे।

उनका अखण्ड महायोग इस मन्थन की चरम परिणति था। उनका यह निश्चित मत था कि यह अखण्ड महायोग ही विश्व में शान्ति और सौहार्द्र की प्रतिष्ठा कर सकेगा, पूरे विश्व में अखण्ड एकता स्थापित कर सकेगा।

श्रद्धेय **कविराजजी** की यह भविष्यवाणी अब सत्य सिद्ध हो रही है कि देश में ही नहीं विदेशों में भी तन्त्र-शास्त्र की विभिन्न शाखाओं पर पर्याप्त अध्ययन हो रहा है। वस्तुतः बौद्ध तन्त्रों और शैव-शाक्त तन्त्रों ने भारतीय जनमानस को एक समान भूमि पर लाकर बैठा दिया था जो कि सारी मानवता के लिए वरदानतुल्य था। कालचक्र की विपरीत गति के कारण निमीलित हुई उसी दृष्टि के उन्मीलन की आज आवश्यकता है, किन्तु दुःख

इस बात का है कि प्राच्य और पाश्चात्य दृष्टि से भारतीय दर्शनों का अध्ययन करने वाले कुछ तथाकथित दार्शनिक आज भी आगमिक दर्शन को, दर्शन की श्रेणी में बैठाने को तैयार नहीं है।

महायोग का अर्थ है- अनन्त प्रकार असंश्लिष्ट और विक्षिप्त भावों की एक सूत्र में संयोजना एवं उनकी तादात्म्य-रूपेण प्रतिष्ठा। **शिव** के साथ शक्ति का योग, आत्मा के साथ परमात्मा का योग, एक आत्मा के साथ दूसरी आत्मा का योग, लोक और लोकोत्तर का परस्पर योग, लोकों के साथ लोकातीत का योग आदि सभी महायोग के अन्तर्गत हैं।

कविराजजी का कहना है कि भारतीय साधना 'भारतीय' नाम से आख्यात होने पर भी विश्वमानव की साधना है।

पं. श्रीपतिराम त्रिपाठी (व्याख्यान)

गुरुकृपा के बिना कोई भी व्यक्ति जीवन में आगे नहीं बढ़ पाता है। यही भारतीय परम्परा की विशेषता है। **कविराजजी** भी ऐसे ही परम्परा-प्राप्त विद्वान् थे। **कविराजजी** अखण्ड महायोग की कल्पना के साक्षात् स्वरूप थे। उन्होंने अनेक सुशिष्यों को अपनी प्रेरणा से सहज ही ज्ञान, साधना और लेखन में समर्थ बनाया। उनकी साधना शिष्यों के लिए मौन व्याख्यान थी।

प्रो. राधेश्यामधर द्विवेदी (व्याख्यान)

मैं स्वयं को सौभाग्यशाली मानता हूँ कि मुझे एक वर्ष **कविराजजी** के साथ रहने का अवसर प्राप्त हुआ। इस अवधि में मेरे जीवन की गम्भीर गुत्थियों को उन्होंने सुलझाया। कुछ सामाजिक प्रश्न मुझे उद्वेलित करते थे जिनका उत्तर **कविराजजी** से मुझे प्राप्त हुआ।

मेरे गुरुवर **प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय** कहा करते थे कि **कविराजजी** केवल योगी ही नहीं हैं बल्कि एक अच्छे अध्ययनकर्त्ता भी हैं। भारतीय दर्शनों पर उनका बड़ा अधिकार है। **कविराजजी** भारतीय विचारधारा को व्यावहारिक जीवन से समन्वित करने का प्रयत्न करते थे।

कविराजजी ने मेरे प्रश्नों के उत्तर में जो कहा अथवा इसके माध्यम से उन्होंने जो अपने विचार रखे उसका सारांश यह है कि **ब्रह्म सत्यं जगन्नमिथ्या** कह देने से या मान लेने से कोई लाभ नहीं है। इस धारणा से वे सहमत नहीं थे। वे मानते थे कि यह भी सोचने का एक ढंग मात्र है। उनके विचार में भारत की आध्यात्मिक दृष्टि पूरे विश्व में अद्वितीय है। जिस देश, सम्प्रदाय, काल आदि में

हम रह रहे हैं उसी में सब कुछ विद्यमान है। इसी व्यावहारिकता में पारमार्थिकता भी है। आवश्यकता उस प्रकार की दृष्टि की है। आध्यात्मिकता कोई दूर की वस्तु नहीं है बल्कि हमारे अपने समाज और जीवन में जो करुणा, दया, सहयोग, त्याग, आस्तिक्य आदि गुण दिखाई देते हैं, वही आध्यात्मिकता है। इससे परे वह नहीं है।

पं. जगन्नाथ उपाध्याय जी कहा करते थे कि भारतीय चिन्तन में बौद्धों का क्षणभङ्गवाद, अनात्मवाद, अनीश्वरवाद और उसकी अवैदिकता, वैदिक विचारधारा और दर्शन के भिन्न ध्रुव पर खड़े हैं। हम जैसे ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने वाले किन्तु बौद्ध विद्या का अध्ययन करने वाले व्यक्तियों के लिए किताबों से हटकर व्यावहारिक जीवन में इनको स्वीकार करने पर अनेक संशय खड़े होते थे और मन में अन्तर्विरोधिता का भाव भी उठता था। इस प्रकार के प्रश्नों और समस्याओं को जब **कविराजजी** के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था तो वे उनका सटीक और सन्तोषप्रद समाधान करते थे।

❖ ❖

तान्त्रिक संस्कृति की उदात्त घोषणा यह है कि सोये रहने से मनुष्य का नहीं चलने का, उसे जागना होगा, **प्रबुद्धः सर्वदा तिष्ठेत्**। जिस पूर्णत्व को मानव-जीवन का लक्ष्य माना जाता है, उसकी उपलब्धि के लिए सबसे पहले आवश्यक है- निद्रा से जागरण अर्थात् प्रबोधन। -**पं. गोपीनाथ कविराज**

In this scientific, chemical and atomic age, Real Tantra system can become the world Religion, where faith and reason could be reconciled, so that it will naturally appeal to all the truth seekers who will have spontaneous inspiration in the end. The only condition will be, an open mind and a pure heart or a child-like nature with the acceptane of the existene of the Divine power here, within our heart and everywhere outside, working in the concealed form as Gunatit Swaroop in human form.

There have been continuous prejudices towards the Tantric system; there are reasons for it, Original books on Tantra have been written in Sanskrit, the manuscripts of which are very difficult to understand. Though the principles are noble and dynamic, yet the interpretations differ in each case and the emphasis also differ accordingly.

Patel, Dadubhai N., **The Real Essence of Tantra**, p. 207

आह्निक - २७

संवाद- पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती से

सूर्यप्रकाश व्यास

प्रश्न- तन्त्र के सम्प्रदायों में भेद का प्रधान आधार क्या है?

उत्तर-I. कोई एक सुनिश्चित कारण बताना संभव नहीं है। भेद के अनेक कारण हो सकते हैं जैसे तत्त्वभेद, साधना-भेद, प्रक्रिया-भेद, गुरु-परम्परा का भेद, ग्रन्थ-परम्परा का भेद आदि। एक कारण आगम-तन्त्रों का दृष्टि-भेद भी रहा है जैसे द्वैत दृष्टि और अद्वैत दृष्टि। सिद्धान्त शैव मत में द्वैत दृष्टि है और अद्वैत शैव मत में अद्वैत दृष्टि। इस प्रसङ्ग में उल्लेखनीय बात यह है कि **तत्त्वप्रकाश** नामक ग्रन्थ की दो टीकाएँ मिलती हैं एक द्वैत दृष्टि से की गई है और दूसरी अद्वैत दृष्टि से। यह इस बात का उदाहरण है कि ग्रन्थ एक होते हुए भी दो भिन्न-भिन्न दृष्टियों के कारण उसकी दो टीकाएँ की गईं जो दो सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

II. एक अन्य कल्पना की जा सकती है (यद्यपि प्रमाणों के बिना अभी यह कल्पना ही है) कि उपनिषद् से प्राप्त वेदान्तिक अद्वैतवाद का प्रभाव आगमों पर पड़ा होगा जिसके कारण इन आगमों की दृष्टि द्वैत से अद्वैत की ओर उन्मुख हुई।

III. **भर्तृहरि** के दर्शन विवर्तवाद या अद्वैतवाद का भी आगम-अद्वैत तन्त्रों पर प्रभाव पड़ना संभव है। विवर्तवाद के तीन प्रधान भेद माने जाते हैं- आरम्भवाद (न्याय-वैशेषिक), परिणामवाद (सांख्य) और विवर्तवाद (शाङ्कर वेदान्त)। इसका तात्पर्य यह है कि उद्‌गम से ही मूल भेद का प्रारम्भ हो गया था।

IV. एक कल्पना यह भी की जाती है कि आगम-तन्त्रों के सम्प्रदायों में वास्तव में कोई मूल या मौलिक भेद नहीं है। यह तो विशेष प्रयोजन से विदेशी विद्वानों द्वारा आरोपित भेद है जिसको हममें से कुछ लोगों ने मान लिया है या उसे महत्त्व देना शुरु कर दिया है।

अन्तिम स्मरणीय बात यह है कि तन्त्र के सम्प्रदायों में भेद का इतिहास जानना कठिन है।

प्रश्न- तन्त्र की गोपनीयता, गुरु-परम्परा, शास्त्र आदि की रक्षा एक पक्ष है और वर्तमान परिस्थितियाँ दूसरा। इनमें सामञ्जस्य कैसे संभव है?

उत्तर- यह सत्य है कि शास्त्रीय दृष्टि से तन्त्र के जिज्ञासु का दीक्षित होना आवश्यक है और आज दीक्षा लेने और देने वाले दोनों की स्वल्पता है। विश्वविद्यालयों के विभागों में जो छात्र इस विषय में प्रवेश लेते हैं, एक दृष्टि से प्राथमिक स्तर पर उन्हें दीक्षित अथवा विषय को बौद्धिक दृष्टि से पढ़ने का अधिकारी माना जा सकता है। श्रीनगर के **स्वामी लक्ष्मण जू** ने अप्रत्यक्ष दीक्षा की विधि अपनाई थी और इससे कुछ लाभ हुआ था, किन्तु व्यक्तिगतरूप से मैं शास्त्र की शुद्धि और मर्यादा का पक्षधर हूँ और इसलिए मानता हूँ कि विश्वविद्यालयों में तन्त्र-शिक्षण से शास्त्रीय प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है। हाँ, इतना अवश्य कहना चाहूँगा कि अधिकारी विद्वानों को इस विषय के सभी पक्षों पर विचार करके कोई मध्यम मार्ग निकालना चाहिये।

प्रश्न- अन्य शास्त्रों से तन्त्र का क्या वैलक्षण्य है?

उत्तर- वैसे तो सभी भारतीय शास्त्रों और विशेषरूप से अध्यात्मविज्ञान के शास्त्रों का प्रधान प्रयोजन उनके मर्म को जीवन में उतारना है, उस शास्त्र को अपनी जीवन-शैली का अङ्ग बनाना है, व्यवहार को उससे ओत-प्रोत करना है किन्तु तन्त्र पर तो यह कसौटी विशेषरूप से लागू होती है। इसी दृष्टि से यह स्वाध्याय और साधना का शास्त्र है। इसे नैयायिक दृष्टि से, मात्र तर्क-प्रमाणों के माध्यम से, नहीं समझा जा सकता।

प्रश्न- विदेशी विद्वानों और अनुसन्धाताओं की रुचि तन्त्र के प्रति बढ़ रही है। कभी-कभी लगता है, इस शास्त्र पर उनका लेखन-अनुसन्धान भारतीयों से अधिक है। ऐसे कुछ अनुसन्धाताओं ने तो दीक्षा भी ली है और साधना का अभ्यास भी वे करते हैं। अतः वैदेशिकों की इस प्रवृत्ति से स्वयम् उन्हें, तन्त्रशास्त्र को, तान्त्रिक साधना को या समाज को कोई विशेष लाभ हुआ है या आगे इसकी सम्भावना है?

उत्तर- मेरे पास भी विदेशी छात्र-छात्राएँ तन्त्र-ग्रन्थ पढ़ने आते हैं। मैं उन्हें पढ़ाता भी हूँ। कभी-कभी वरिष्ठ विदेशी अनुसन्धाता या विद्वान् भी अपनी जिज्ञासा या समस्या लेकर आते हैं। किन्तु मेरा अनुभव है कि यह सब उनकी नूतन की तलाश का परिणाम है और बौद्धिक स्तर तक सीमित है। इस प्रवृत्ति से तन्त्रशास्त्र

का अपना कोई लाभ या प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं। विदेशों में तन्त्र के तथाकथित बड़े, गम्भीर और परिश्रमपूर्वक अनुसन्धान-प्रकाशन में संलग्न विद्वानों से भी यह अपेक्षा व्यर्थ है कि वे इस शास्त्र को अपनी जीवन-शैली का अङ्ग बनाएँगे। आखिर तो वे व्यक्तिगत जीवन में दूसरे धर्म के अनुयायी हैं ही।

जहाँ तक मेरा अनुभव है, मैं इन जिज्ञासुओं को इसलिए भी पढ़ाता हूँ कि ये सुदूर से आकर मुझसे पूछते हैं, नियमितरूप से पढ़ते हैं और पढ़ने का यथोचित शुल्क देते हैं जिससे मेरी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। मुझे आज तक ऐसा कोई भारतीय जिज्ञासु नहीं मिला जो शिक्षक को धन देकर तन्त्र-ग्रन्थों का स्वाध्याय करने के लिए सन्नद्ध हो।

प्रश्न- शैव-तन्त्र और बौद्ध तन्त्र में मूलतः क्या भेद है और अध्ययन, अनुसन्धान तथा साधना के क्षेत्र में इनकी प्रगति पर तुलनात्मक दृष्टि से आप क्या टिप्पणी करना चाहेंगे?

उत्तर- मेरे मत में शैव और बौद्ध तन्त्र एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। इनमें उपासना-दृष्टि से भेद होने पर भी तत्त्वदृष्टि से भेद नहीं है। दश महाविद्या, काली, तारा दोनों में हैं।

शैव-बौद्ध तन्त्र में ऊपरी और बाह्य भेद दिखाई देते हैं। जैसे काली का वास्तविक स्वरूप लोग भूल गए और बाह्यरूप में जो प्रतीक दिखाया जाता है उसी को सर्वस्व मानने लग गए।

प्रश्न- शैव तन्त्र में अनुपाय की बहुत चर्चा है किन्तु सरल शब्दों में और व्यावहारिक दृष्टि से आखिर इसका भाव क्या है?

उत्तर- तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने दो शब्दों का उल्लेख किया है हठपाक और मधुरपाक। हठपाक का अर्थ है पूर्णस्वरूप का हठात् अनुभव हो जाए तथा मधुर पाक का अर्थ है क्रम से लक्ष्य की प्राप्ति हो और वह भी इस प्रकार कि सबको साथ लेते हुए हो। एक भी व्यक्ति या समाज का अङ्ग यदि पूर्णता के इस अनुभव से वञ्चित है तो साधक की पूर्णता में कमी है। यही पूर्णता का अर्थ है। ऐसा होने पर ही पूर्ण प्रकाश का प्रसार होगा और उसका अनुभव होगा। देहरी पर पहुँचने का अर्थ सम्पूर्ण मकान में पहुँचना नहीं है।

जहाँ तक हठपाक का प्रश्न है इसमें गुरु, ग्रन्थ आदि तो नाम मात्र के माध्यम होते हैं। गुरु या शास्त्र के एक शब्द से भी साधक में पूर्ण ज्ञान का प्रकाश फैल सकता है। इसीलिये नैयायिकों ने कहा **आत्मा गुरूणां गुरुः**। यही तन्त्र में स्वतः है। यही सांसिद्धिक गुरुता है। यही अनुपाय है।

प्रश्न- तन्त्र की एक शाखा को वाम मार्ग कहते हैं। इसका तात्पर्य क्या है?

उत्तर- वाम शब्द का साधारणतया विपरीत विरुद्ध या उल्टा अर्थ किया जाता है। इससे लोग यह समझते हैं कि वाममार्गी संसार के सरल, व्यावहारिक मार्ग से उल्टा चलते हैं, सब काम संसार के विपरीत करते हैं। इसीलिये वे दक्षिणमार्गियों की तरह आदरयोग्य नहीं हैं। कभी-कभी उन्हें हेय या त्याज्य भी मान लिया जाता है। किन्तु तन्त्र में, शास्त्रीय दृष्टि से बात ऐसी और इतनी नहीं है।

संसार स्वयं मोक्ष, निर्वाण, आध्यात्मिक ज्ञान आदि से विपरीत चलता है। इसलिए अध्यात्म की दृष्टि से संसार का मार्ग उल्टा है और इसके विपरीत चलने वालों का मार्ग सीधा और सही। वाम मार्ग ऐसा ही है। इसलिए वाम मार्ग में वाम शब्द को गम्भीरता से, सही परिप्रेक्ष्य में समझना आवश्यक है।

ब्रह्मचारी दो प्रकार के माने गए हैं नैष्ठिक और उपकुर्वाण। प्रथम प्रकार के ब्रह्मचारी आद्यन्त ब्रह्मचारी रहते हैं जबकि दूसरे प्रकार के ब्रह्मचारी प्रारम्भ में निश्चित अवधि तक इस व्रत का पालन करते हैं और फिर गृहस्थ जीवन अपना लेते हैं।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी का वीर्य और बिन्दु ऊर्ध्वगामी होता है किन्तु उपकुर्वाण का (जिसे बौद्ध ग्रन्थों में सम्प्रजन्य कहा गया है उसका) बिन्दु अधोगामी व क्षरणशील होता है। यह सब साधना की गूढ़ प्रक्रियाएँ हैं जिनकी ऊँचाई और गहराई तक लोक-बुद्धि से नहीं पहुँचा जा सकता। यज्ञोपवीत के वैदिक विधान में आचार्य बटुक के पीछे खड़े होकर उसकी नाभि से अपने हाथ का स्पर्श करके जो हाथ को ऊपर उठाने की प्रक्रिया पूरी करता है वह बाह्य नहीं है बल्कि प्रतीकात्मक है जो बटुक के अपरिपक्व वीर्य को ऊर्ध्वगामी बनाने के अभ्यास का सङ्केत देती है।

प्रश्न- तन्त्र का स्वर्णकाल किसे कहा जा सकता है? क्या ऐसा कोई समय रहा होगा? यदि रहा है तो उसके निर्णय का आधार क्या होगा?

उत्तर- मेरा मत है कि ऐसा काल था। किन्तु उसकी सही पहिचान करना कठिन है। हाँ, इस पहिचान और निर्णय का आधार मेरी दृष्टि में पीठ हैं अथवा पीठ हो सकते हैं। तन्त्र-दृष्टि से मूलतः चार पीठ हैं- कामरूप (आसाम), जालन्धर (पंजाब), पूर्णगिरि (बरेली के आगे तनकपुर, अल्मोड़ा मार्ग) और ओड्डियान

(बलूचिस्तान)। इन मूल चार पीठों से फिर ५० पीठों का विस्तार हुआ जिनका सम्बन्ध ५० मातृकाओं से भी माना जा सकता है।

पीठों के कई प्रकार बने बृहद् पीठ, उपपीठ, छन्दोह आदि।

(भारत का जो बृहत्तररूप था उनमें नेपाल और मानसरोवर आदि भी समाविष्ट थे।)

पीठ स्थानों के विकास में पञ्चमहाभूतों की दृष्टि भी रही है। माना जाता है कुछ पीठस्थान आकाशीय तत्त्व के प्राधान्य से बने (जैसे वाराणसी), कुछ अग्नि तत्त्व के प्राधान्य से बने (जैसे उज्जयिनी)।

प्रश्न- व्यक्तिगत अनुभव का कोई ऐसा बताने योग्य चमत्कारिक उदाहरण?

उत्तर- भिन्न-भिन्न काल में एक ही स्वप्न दो बार देखा। ज्ञानवापी (वाराणसी) में जिसे आज मस्ज़िद कहा जाता है, वहाँ पञ्चमुखरूप में शिव का साक्षात्कार किया।

प्रश्न- तन्त्रशास्त्र के अध्ययन, शिक्षण, स्वाध्याय और साधनापक्ष की जो वर्तमान स्थिति है उसमें सुधार की दिशा में, आपकी दृष्टि से क्या न्यूनतम किन्तु अनिवार्यतः करणीय है? इस शास्त्र की रक्षा कैसे होगी? उपलब्ध दुर्लभ विशेषज्ञों को भी एक दिन काल हमसे दूर कर देगा। तब क्या करें?

उत्तर- आज का परिवेश अध्यात्म के अधिक अनुकूल नहीं है। लोगों में अध्यात्म के प्रति प्रवृत्ति कम होती जा रही है। इसका प्रभाव तन्त्र सहित भारत के सभी अध्यात्म शास्त्रों पर पड़ा है। किन्तु सच यह है कि भारत का यदि कुछ स्थाई है तो वह अध्यात्म-चिन्तन ही है। इसकी रक्षा को पर्याप्त महत्त्व मिलना चाहिये।

तन्त्र के सन्दर्भ में आवश्यक है कि इसके शास्त्रों के परिज्ञान व प्रचार-प्रसार के लिए चुने हुए अधिकारी-विद्वानों के पास छात्र, शिक्षक, जिज्ञासु जाएँ और उनके ज्ञान व अनुभव का लाभ लें। गणेशपुरी (महाराष्ट्र) में ऐसे प्रयोग हो रहे हैं। आज विज्ञान ने काश्मीर-शैव दर्शन और शैव शाक्त तन्त्र के अनेक ग्रन्थों को Internet पर उपलब्ध करा दिया है किन्तु मात्र इससे वास्तविक लाभ नहीं होगा। आवश्यकता है सही विद्यार्थी, जिज्ञासु और साधक की तथा उन्हें ग्रन्थों

की सही व्याख्या करने वाले शिक्षकों व आचार्यों की। इस प्राथमिक चरण के बाद साधना का मार्ग प्रारम्भ होता है। किन्तु आज तो विद्यार्थी ही दुर्लभ हैं चाहे औपचारिक अर्थ में मानें या अनौपचारिक अर्थ में।

जहाँ तक समस्या के समाधान की या सुझाव की बात है आवश्यकता है कि तन्त्र के विशेषज्ञ ओर अनुरागी एकत्र बैठें और समस्या पर विचार कर समाधान सुझाएँ और उन्हें क्रियारूप में परिणत करने में सहयोग करें।

❖ ❖

For the modern world which is suffering from the various bodily and mental illness which are a result of unnatural and overstrained living, Tantra has a therapeutic effect and can alleviate the miseries of the sufferers.

Many of the complexes and fears that cause a great deal of mental aberration and lead to states similar to insanity, becaues false set of ideas govern their thoughts and actions. Real Tantra is a cleansing agent, for it instills in their minds a wholesome and corrective view of man's nature and his powers and will enable him to look upon all bodily and mental functions in their true light and not as sinful things.

To a world that is divided by dogmas, differences, Real Tantra offers a way of life that unites all mankind in one great family without distinctions of race or colour or sex and other discriminating factors.

Real Tantra enables man to develop his powers fully and harmoniously and use them for the good not cnly of himself but also of all humanity. All conflicts and all discords in life are resolved and man lives a life of peace and tranquillity and contributes to the furtherance of peace on earth.

Real Tantra is not just for the individual; it promotes healthy community life and social structure in free atmosphere and therefore much scope for peace brigades...

Patel, Dadubhai N., **The Real Essence of Tantra**, p. 211

परिशिष्ट - १

तन्त्रालोक के संस्करण, अनुवाद और अध्ययन

संस्करण

१९१८-३८	Tantraloka, with Viveka by Jayarath, Editors, M.R. Shastri, M.S. Kaul, 12 Volumes, Kashmir Sanskrit Text series.
१९८७, १९९४	The Tantraloka of Abhinavagupta Editors Prof. R.C. Dwivedi and Prof. Navjivan Rastogi.

अनुवाद-अध्ययन

१९७१	Bajpai, Ira, The Philosophy of the Tantraloka in the first three Ahnikas with translation into English, Lucknow University, (Unpublished Thesis).
१९७२	Gnoli, R. Luce delle Sacre Sceiccure (Tantraloka) di Abhinavagupta Torino : Union Tipografico Ecitrice Tarinese (Italian Tranaslation).
१९७६	द्विवेदी, कमला तन्त्रालोक (आह्निक ४-६) का अनुवाद एवम् आलोचनात्मक अध्ययन, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर, (अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध)
१९७९	Mishra, Kamlakar Philosophy of Abhinavagupta with special reference to Tantraloka (Thesis)
१९८७	Rastogi, Navjivan Introduction to the Tantraloka, Motilal Banarasi dass, Delhi.
१९९६	अग्रवाल, बीना व्यास, सूर्यप्रकाश (सम्पादक), प्रशान्त प्रकाशन, वाराणसी, तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड.
१९९२-९९	मिश्र, परमहंस तन्त्रालोक, (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
२००२	चतुर्वेदी, राधेश्याम तन्त्रालोक का विवेक सहित अनुवाद ५ भाग, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, उ.प्र. संस्कृत संस्थान से पुरस्कृत

व्याख्यानकर्ताओं का संक्षिप्त परिचय

पं. बटुकनाथशास्त्री खिस्ते

पितृनाम	-	म.म. पण्डित नारायण शास्त्री खिस्ते
गुरुनाम	-	भास्करराय भारती दीक्षित
प्रादुर्भाव-तिरोभाव-तिथि	-	३० दिसम्बर, १९१८ २९ जनवरी, २०००
जन्मस्थान	-	काशी
शिक्षास्थान	-	काशी
विशेषज्ञता	-	संस्कृत-विद्या, धर्म, दर्शन, साहित्यशास्त्र, तन्त्रशास्त्र के उच्चकोटि के साधक और विद्वान् तथा कवि।
पद	-	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में साहित्य विभाग के पूर्व आचार्य और अध्यक्ष।
कृतित्व/योगदान	-	प्रमुख ग्रन्थ- कल्लोलिनी; भास्करराय भारतीदीक्षित : व्यक्तित्व और कृतित्व; गणेश-सहस्रनाम; भास्करराय-ग्रन्थावली आदि।
पुरस्कार/सम्मान	-	राष्ट्रपति-सम्मान, उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी, भारतीय भाषा परिषद् कलकत्ता, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा अभिनन्दित।

●

पं. विद्यानिवास मिश्र

पितृनाम	-	पं. प्रसिद्ध नारायण मिश्र
गुरुनाम	-	पं. क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय पं. राहुल सांस्कृत्यायन पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी
जन्मस्थान	-	पकड़डीहा, गोरखपुर, उ.प्र.
प्रादुर्भाव-तिरोभाव-तिथि	-	१४ जनवरी, १९२६ (मकरसंक्रान्ति) १४ फरवरी, २००५

शिक्षास्थान - प्रयाग, गोरखपुर

पद - विन्ध्य तथा उत्तर प्रदेश के सूचना-विभाग में उच्चाधिकारी; संस्कृत विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय में प्रवक्ता; निदेशक, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी विद्यापीठ, आगरा; म. गान्धी काशी विद्यापीठ, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में कुलपति; नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली में प्रधान सम्पादक। केलिफ़ोर्निया, वाशिंगटन में अतिथि प्राचार्य; सदस्य, प्रसार भारती, राज्यसभा।

कृतित्व - ५० से अधिक पुस्तकों का लेखन-सम्पादन; १४ निबन्ध-संग्रह, १० निबन्ध, कविता-संग्रह; ३ अनुवाद ग्रन्थ आदि।

साहित्य की चेतना, महाभारत का काव्यार्थ, तुलसीमञ्जरी, परम्परा बन्धन नहीं, भावपुरुष श्रीकृष्ण, देश, धर्म और साहित्य, उत्तरगीत गोविन्द, साहित्य का खुला आकाश आदि।

पुरस्कार/सम्मान - पद्मश्री, पद्मविभूषण, साहित्य अकादमी, मूर्ति देवी, विश्वभारती. व्यास-सम्मान, शङ्कर-सम्मान आदि।

●

प्रो. प्रेमलता शर्मा

सेयं गोपालिका धन्या प्रेमवल्ली स्वयंप्रभा।
गोलोकवसतिं प्राप्ता गोविन्दद्रुममाश्रिता।।

पितृनाम - पं. लालचन्द शर्मा

मातृनाम - श्रीमती माया देवी शर्मा

गुरुनाम - डॉ. पं. परशुराम लक्ष्मण वैद्य (संस्कृत)
म.म. पं. गोपीनाथ कविराज (अध्यात्म)
म. पुरीदास (गौडीय वैष्णव दीक्षा)
पं. ओङ्कारनाथ ठाकुर (सङ्गीत)

जन्म	-	१० मई, १९२७ वै.शु. नवमी उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र, सं. १९८४
अवसान-	-	५ दिसम्बर, १९९८ मार्गशीर्ष कृ. द्वितीया सं. २०५५
जन्मस्थान	-	नकोदर, ज़िला जालन्धर, पंजाब
शिक्षास्थान	-	दिल्ली, मथुरा, वाराणसी
स्थाई पता	-	आम्नाय, धर्मजित नगर, २०९/१ करौंदी, पोस्ट- काहिविवि, वाराणसी-२२१००५
विशेषज्ञता	-	संस्कृत-हिन्दी-साहित्य, सङ्गीत (शास्त्र तथा प्रयोग) नाट्य (शास्त्र तथा प्रयोग) कला-दर्शन-संस्कृति अंग्रेज़ी, बंगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी, फ़ारसी, उर्दू आदि भाषाओं में प्रभुत्व।
प्रमुख पद	-	१. सङ्काय-प्रमुख, सङ्गीत एवं ललित कला संकाय, का.हि.वि.वि., वाराणसी, १९५५-१९८५. २. कुलपति- इन्दिरा कला सङ्गीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़, म.प्र., १९८५-१९८८. ३. अध्यक्ष, सङ्गीत नाटक अकादमी, उ.प्र. (१९८३-८९). ४. उपाध्यक्ष- केन्द्रीय सङ्गीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली (१९९४-९८).
कृतित्व एवं योगदान	-	१. केन्द्रीय संस्कृत नाटक अकादमी के तत्त्वावधान में चार अखिल भारतीय ध्रुपद मेलों का आयोजन, १९७९-९२ तक २. 'अभिनय भारती' नाम से विद्वान् कलाकार विद्यार्थिवृन्द (सम्पुट) का संग्रथन करके भरत नाट्यशास्त्रनिष्ठ सम्पूर्ण सङ्गीतयुक्त नाट्यरङ्गमण्डप का पुनरुज्जीवन; शास्त्रनिष्ठ अनेक गीत-नृत्य-नाट्य-प्रयोग; पूर्वरङ्ग के सभी अङ्गों का तथा 'ध्रुवा' गान का पुनरुद्धार (१९७३-८५).

३. विश्वसंस्कृतपरिषद् (अन्तर्राष्ट्रिय) १९८१ में सम्पूर्ण सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन।

४. कविभारती- वाराणसेय संस्कृतकाव्यरचनादल की सक्रिय सदस्यता

५. सङ्गीतनाटक अकादमी (केन्द्रीय) के अन्तर्गत प्रमुख चार अन्तर्राष्ट्रिय विचार-गोष्ठियों, शास्त्रीय सङ्गीत-नृत्य प्रयोगों का आयोजन-सञ्चालन; शार्ङ्गदेव समारोह, १९९२; मतङ्ग-बृहद्देशी, १९९५; रसविचार, १९९८; ठाकुर जयदेव सिंह शताब्दी समारोह, १९९४.

६. भरतनिधि द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण आयोजन, १९९१-९७.

७. इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय कला केन्द्र, नई दिल्ली के सहयोग से 'सहृदय', 'उर्वशी' माणिक्यम्मा के अध्यात्मरामायण का Documentation.

८. पं. ओङ्कारनाथ ठाकुर शताब्दी के उपलक्ष में भारत सरकार से विशेष बड़ा डाक टिकट निकलवाना तथा उसके लोकार्पण समारोह का आयोजन, १९९७.

९. पं. ओङ्कार नाथ ठाकुर- विषयक अन्तर्राष्ट्रीय विचारगोष्ठी एवं सङ्गीत उत्सव का आयोजन।

विशिष्ट कार्य

१०. सङ्गीतप्रस्तुतियाँ, अतिकठिन लयकारी युक्त ध्रुपद धमार गायन, कलकत्ता, १९५८; वाराणसी १९६०; सितारवादन, भोपाल, १९५७.

११. वाग्गेयकारिता (सङ्गीतरचना) जैनधर्मगाथाएँ १९६४, संस्कृत ध्रुपद निर्गीत पाटाक्षरादि-ध्रुवादि १९६५-९८ तक।

१२. श्रीमद्भागवत के प्रमुख गीतों तथा गोविन्दविरुदावली आदि १९९४-९७; नवरस (आकाशवाणी के लिए) १९९८.

विशिष्ट प्रकाशन - रस विलास, १९५२; सङ्गीतराज १९६३; Vedic Mathematics १९६५; सहसरस, १९७२; एकलिङ्गमाहात्म्यम् १९७६; कौतुकचित्रकाव्य, १९६५; स्तोत्रभारती कण्ठहारः (दो भाग) १९६८-९६; बृहद्देशी (दो भाग) १९९२-९४; श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु १९९८; नाट्यकल्पद्रुम १९९८; जपसूत्रम्, १९६६, १९९२; ध्रुपदवार्षिकी (दस अङ्क) १९८६-९५; अमरवाणी १९७२; साधुदर्शनसत्रसङ्ग १९७३; नादरूप १९६०; गवेषणा १९९६; Indian Music Journal १९६४-८२ (सहसम्पादन).

विशिष्ट पुरस्कार एवं सम्मान - रत्नसदस्यता, केन्द्रीय संस्कृत नाटक अकादमी, नई दिल्ली, १९९२.

- गुरु जानकी प्रसाद कथक केन्द्र, नई दिल्ली द्वारा **नाट्यमुनि** उपाधि।
- फ़ुल ब्राइट फ़ेलो १९७८ के संस्कृत नाट्य अकादमी के प्रकाशन पुरस्कार.
- एमेरिटस प्रोफ़ेसर, का.हि.वि.वि., १९८३ से आजीवन पर्यन्त.
- माणिक्यम्मा के 'अध्यात्मरामायणम् का साभिनयगायन तथा नटराज रामकृष्ण की सोदाहरण नृत्य-व्याख्याओं का Documentation (वृत्तचित्रीकरण)।

●

पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती

पितृनाम - पं. तारकनाथ वैद्य

गुरुनाम - पं. विभूतिभूषण भट्टाचार्य - न्यायदर्शन
पं. गोपीनाथ कविराज - शैवशास्त्र

जन्मतिथि - १९१८

जन्मस्थान - पूर्व बंगाल

शिक्षा-स्थान - बंगाल, काशी, कलकत्ता

स्थाई पता - २०, विजयानगरम्, भेलूपुर, वाराणसी
फ़ोन - ३९५०४५९

विशेषज्ञता - न्याय दर्शन, तन्त्र एवं शैव-शाक्त दर्शन

पद - बंगाली टोला वाराणसी में अंग्रेजी के पूर्व अध्यापक, इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय कला केन्द्र आदि संस्थाओं से सम्बद्धता।

कृतित्व/योगदान - १. नारदीय पुराण (१७वें खण्ड) का अंग्रेजी अनुवाद.

२. कविराजजी के अनेक लेखों के संग्रहों का अंग्रेजी अनुवाद (भारत-मनीषा जरनल में कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित)

३. अनेक लेखों का संग्रह

४. अमेरिकन इन्साइक्लोपीडिया में तन्त्र पर प्रचुर सामग्री।

५. शून्य की अवधारणा तन्त्रागम दृष्टि में (लेख)।

६. पं. कविराजजी की जीवनी

७. अनेक सम्मेलनों, सङ्गोष्ठियों में प्रतिभागिता।

पुरस्कार/सम्मान - शास्त्र चूड़ामणि सम्मान

●

आचार्य पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी

पितृनाम - पं. गोपीवल्लभ द्विवेदी

गुरुनाम - पं. रघुनाथ शर्मा, पं. ढुण्ढिराज शास्त्री, म.म. गोपीनाथ कविराज

जन्मतिथि - ३० जुलाई, १९२१

जन्मस्थान - शाहपुरा, राजस्थान

शिक्षा-स्थान - वाराणसी, आगरा, प्रयाग

स्थाई पता - एम.एम. ३, फेज़-२, प्रेमचन्द नगर कालोनी, पाण्डेयपुर, वाराणसी- २२१००२
दूरभाष- (०५४२) २५८६०१२

पद
१. निदेशक, शैव भारती शोध प्रतिष्ठान, जंगमबाड़ी मठ, वाराणसी।
२. सदस्य, कार्य परिषद्, गुरुसिद्धपीठ, गणेशपुरी, थाणे, मुम्बई।
३. संरक्षक, सार संस्थान, वाराणसी।
४. पूर्व सहायक सम्पादक, सारस्वती सुषमा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी.
५. पूर्व प्रकाशनाधिकारी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी.
६. पूर्व प्राध्यापक, योगतन्त्र विभाग, पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, सांख्य-योग-तन्त्रागम विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी.
७. पूर्व सम्पादक, गाण्डीवम्, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी.
८. पूर्व उपनिदेशक, दुर्लभ ग्रन्थ शोध-योजना, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षण संस्थान, सारनाथ, वाराणसी.
९. पूर्व सम्पादक, धी: (शोधपत्रिका), केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षण संस्थान, सारनाथ, वाराणसी.

कृतित्व/योगदान - १०५ पुस्तकों का लेखन, सम्पादन व अनुवाद, ३०० से अधिक लेख.

प्रधान पुस्तकें - नित्याषोडशिकार्णव,
-१. निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्
-२. विज्ञानभैरव
-३. तन्त्रागमीय धर्मदर्शन (दो खण्ड)
-४. भारतीय संस्कृति के नये आयाम
-५. वेदार्थ पारिजात शुक्लयजुर्वेद (हिन्दी अनुवाद)
-६. सात्वतसंहिता (संस्कृत)

पुरस्कार/सम्मान - १. कालिदास पुरस्कार, १९७०, उ.प्र. संस्कृत अकादमी, लखनऊ.

२. संस्कृत साहित्य पुरस्कार, कृति "विज्ञानभैरव" पर १९७८, उ.प्र. संस्कृत अकादमी, लखनऊ।

३. विशेष पुरस्कार, कृति "तन्त्रयात्रा" पर १९८२, उ.प्र. संस्कृत अकादमी, लखनऊ.

४. विशेष पुरस्कार, कृति "लुप्तागमसंग्रह, भाग-२" १९८३, उ.प्र. संस्कृत अकादमी, लखनऊ.

५. विशिष्ट संस्कृत साहित्य पुरस्कार, १९८६, उ.प्र. संस्कृत अकादमी, लखनऊ.

६. राज्यस्तरीय संस्कृत साहित्य पुरस्कार १९८७, राजस्थान सरकार, जयपुर.

७. राष्ट्रपति पुरस्कार (राष्ट्रिय-पंडित), महामहिम राष्ट्रपति शंकरदयाल शर्मा द्वारा प्रदत्त, १९८३.

८. हारीतऋषि सम्मान, महाराणा मेवाड़ फाउण्डेशन, उदयपुर द्वारा प्रदत्त १९९५.

९. मीमांसाकेसरी पुरस्कार सम्मान, वैदिक संस्कृत प्रचार संघ, जयपुर द्वारा प्रदत्त १९९६.

१०. श्री जगद्गुरु विश्वभारती पुरस्कार, महाशिवरात्रि, संवत् २०५४ (२५-२-१९९८)।

११. सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा संस्कृत वर्ष (२००० ई.) में सम्मानित।

●

पं. परमहंस मिश्र

पितृनाम - श्री फौजदार मिश्र

गुरुनाम - दीक्षागुरु- स्वामी लक्ष्मण जू

जन्मतिथि - १ नवम्बर, १९१९

जन्मस्थान - बलिया, उत्तर प्रदेश

स्थाई पता - ए-३६, बादशाह बाग, वाराणसी
दूरभाष- ३०९१७०४, २४१७०३८

पद - पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष, आर्य महिला महाविद्यालय, वाराणसी।

कृतित्व/योगदान - स्वतन्त्रता सेनानी, संस्कृत कवि

भाष्य - १. तन्त्रालोक पर हिन्दी में नीरक्षीर विवेक (८ भाग).
२. तन्त्रसार (दो खण्ड).
३. मन्त्रयोगसंहिता आदि बीस ग्रन्थों पर

पुरस्कार/सम्मान - १. स्वातन्त्र्यवीर सम्मान (१९७२), पूर्व प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी के द्वारा।
२. विश्वभारती सम्मान, फरवरी २००५, शैव भारती शोध-प्रतिष्ठान, जङ्गमबाड़ी मठ द्वारा।
३. महामहोपाध्याय, शैवदर्शनाचार्य, तन्त्र- वाचस्पति आदि अनेक सम्मानोपाधियाँ।
४. उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थानम् द्वारा विशिष्ट पुरस्कार।

●

प्रो. कमलाकर मिश्र

पितृनाम - (स्व.) श्री शिवकुमार मिश्र

गुरुनाम - पं. गोपीनाथ कविराज, स्वामी लक्ष्मण जू, प्रो. टी.आर.वी मूर्ति, प्रो. आर.के. त्रिपाठी और प्रो. जे.एल. मेहता.

जन्मतिथि - ६ मई, १९३७

जन्मस्थान - क्योंतलिया, ज़िला सीवान, बिहार

शिक्षास्थान - वाराणसी

स्थाई पता - २७, दीनदयाल नगर, नवाबगंज, वाराणसी
दूरभाष- ०५४२-२३११६२६

पद/संस्था - पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन-धर्म-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

कृतित्व - पुस्तकें- Significance of the Tantric Tradition, Varanasi, 1981; Kashmir Saivism : The Central Philosophy of Tantricism, U.S.A., 1993, (Indian Edition by Sadguru Publications, Delhi) आदि; अनेक लेख; अमरीका, कनाडा, यूरोपीय देशों सहित भारत में अनेक व्याख्यान।

वर्तमान में प्रो. मिश्र अनेक कार्ययोजनाओं पर कार्यरत हैं जैसे-'The Tantric theory of Consciousness : A Phenomenological and Critical Study'; ' Indian Value-system and Value-education'; 'Spiritual Foundations of Sex-education'; 'Principles of Mental Health : the Indian Approach'; 'Chief Currents of Indian Yoga'; 'Dimensions and Development of the Indiand Religion' and ' Applied Indian Philosophy : Individual and Socio-Cultural Dimensions'.

Actually, Prof. Mishra is working on the Applied Indian Philosophy, what he calls 'the Technology of Indian Philosophy'. He is working on the line that Indian Philosophy is of great pragmatic value, that it needs to be re-understood and re-interpreted and that it can be successfully applied into the realm of socio-cultural life in order to solve the problems of the modern age. He is working on finding out ways and means of practical application of the theoretical philosophy, with a view to the betterment of the society.

Apart from being an academic scholar, Prof. Mishara is also doing practical work in the field of Value-education, in collaboration with some professors, giving work-shops on Value-education and trying to create value-consciousness among students and others through personal contact. He is also making experiments in Value-based Yoga-practice.

●

डॉ. कमलेश झा

पितृनाम - पं. श्री भवनाथ झा

गुरुनाम - १. महामहोपाध्याय स्व. आचार्य रामेश्वर झा
२. प्रोफेसर रामसेवक झा
३. पं. रामप्रसाद त्रिपाठी
४. स्व. देवस्वरूप मिश्र

जन्मतिथि - ४ जून, १९६०.

जन्मस्थान - ग्राम-पटसा, वाया- हसनपुर रोड, ज़िला-समस्तीपुर, बिहार.

शिक्षास्थान - मिथिला एवं वाराणसी.

स्थाई पता - बी. ३४/१४०, ३-ए-३, गायत्री नगर, शुकुलपुरा, सरायनन्दन, वाराणसी।
दूरभाष- ०५४२ - २३१५१४८.

विशेषज्ञता - आगम/तन्त्र, व्याकरण, न्याय, वेदान्त आदि सर्वदर्शन।

पद/संस्था - रीडर एवं अध्यक्ष, धर्मागम विभाग, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

कृतित्व/योगदान - हिन्दी अनुवाद- पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, संवित्स्वातन्त्र्यम्, चिद्विमर्श, शिवतत्त्वविमर्श, श्रीगुरुस्तुति, श्री काशी दर्पण और आचार्य रामकरण शर्माभिनन्दनग्रन्थ।
- अन्य ग्रन्थ- श्री काशी दर्पण।

पुरस्कार/सम्मान - १. शलाका परीक्षा, कामेश्वर सिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभङ्गा.

२. नवोदित प्रतिभा समागम, सागर विश्वविद्यालय, मध्य प्रदेश.

३. अखिल भारतीय शास्त्रार्थ पुरस्कार (अनेक)।

●

डॉ. मार्क. एस.जी. डाइकॉस्की

गुरुनाम - पं. अम्बिकादत्त उपाध्याय (संस्कृत); पं. हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती, प्रो. रेमण्ड पनिक्कर, प्रो. बी.पी. त्रिपाठी (तन्त्र); डॉ. गंगराडे, उस्ताद इमरान खाँ और बुद्धादित्य मुखर्जी (सङ्गीत)।

जन्मतिथि - २९ अगस्त, १९५१.

जन्मस्थान - लन्दन, इंग्लैण्ड.

शिक्षास्थान - ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय, लन्दन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी.

विशेषज्ञता - तन्त्र, भारतीय विद्या.

कृतित्व -१. The Doctrine of Vibration (न्यूयार्क, १९८७)

-२. The Cannon of the Saivagama and the Kubjikatantra of the western tradition (न्यूयार्क, १९८७)

-३. The Samvit Prakash by Vamanadatta (१९९०, रत्ना प्रकाशन).

-४. The Spandpradipika (स्पन्दकारिका पर भगवद् उत्पलाचार्य की टीका, १९९०).

-५. The stanzas on vibration (न्यूयार्क, १९९२).

-६. The Aphorish of Śiva (न्यूयार्क, १९९२)

-७. तन्त्रालोक एवं अन्य तन्त्रग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवाद (प्रकाशनाधीन).

❖❖

तन्त्रागमोल्लासः

डॉ. शिवदत्तशर्माचतुर्वेदः

श्रीमान् सूर्यप्रकाशो व्यासः काश्यां सुरम्यतरतन्त्रे।
ग्रन्थं विस्तारयतीत्याख्यानं सुप्रसादमयम्।।१।।

श्रीरामचन्द्रविदुषो द्विवेदि-वर्यस्य सच्छिष्यः।
सूर्य इव दीप्यमानो स्वीयगुरुं संस्मरति नित्यम्।।२।।

एतादृशशिष्याणां गुरवस्तिष्ठन्ति निर्निमेषेण।
इष्टफल-साधनेष्वथ ते जायन्ते प्रतीक्षायाम्।।३।।

प्राचीनेयं गाथा वैदिककाले सुविख्याता।
गुरुकुलसंस्था यत्र त्वाश्रमशालासु संचलिता।।४।।

वेदव्यास-सुशिष्याः वेदव्यासस्य सत्कार्यम्।
संसार-तारणार्थं लोके विस्तारयामासुः ।।५।।

श्रीरामकृष्णनामा परमो हंसो नरेन्द्रं तम्।
महति विवेकानन्दे सम्यक् परिवर्तयामास।।६।।

श्रीगोपालो कृष्णः गोखलेति प्रसिद्धिमापन्नः।
मोहनदासं गान्धिं स्वशिष्यमास्थाय विख्यातः।।७।।

इत्थमेव विख्यातः श्रीरामचन्द्रो द्विवेदि-मूर्धन्यः।
सूर्यप्रकाशं व्यासं शिष्यं सम्प्राप्य मोदमानोऽस्ति।।८।।

स्वर्याताय च गुरवे स्मृत्यर्थं ये समर्पयन्ति सच्छिष्याः।
विद्या-तर्पण-कार्ये ते संलग्ना विभासन्ते।।९।।

अधुना काले चलिता तन्त्रे दीप्तिर्विशालेयम्।
पूर्ण-वर्ष-पर्यन्तं सभासु या चर्चिता जाता।।१०।।

काश्यां स्थानत्रियते व्यास-निवासे च इन्दिरा प्रथिते।
गंगातट-संस्थित-सत्स्थाने संगोष्ठ्यः साधु संपन्नाः।।११।।

वाराणस्यामस्यां विख्याता ये मनीषिमूर्धन्याः।
तन्त्र-वाङ्मये ख्यातास्तेषां सम्भाषणानि जातानि।।१२।।

अन्येभ्यो भिन्नेभ्यो नगरेभ्यश्चात्र संगतास्तेते।
विद्वांसः समवेता भाषण-मालां विभावयामासुः।।१३।।

सर्वापीयं तेषां तेषां विदुषां प्रदत्तवाणीनाम्।
महता श्रमेण लिखनं तेषां मुद्रणमिदं च ग्रन्थेऽस्मिन्।।१४।।

कियत्कठिनतरकार्यं सम्पूर्णं श्रम-समयमादाय।
संकल्पितं वरेण्यैः सूर्यप्रकाशैः स्वयं व्यासैः।।१५।।

श्रीरामचन्द्र-मुख्य-द्विवेदि-वर्यान् स्मृतौ नेतुम्।
ग्रन्थानां मालेयं प्रवर्तिता व्यासवर्यैः सा।।१६।।

स्वीयगुरूणां संस्मृति-संस्थापन-सत्प्रयत्नसंलग्नाः।
सूर्यप्रकाशसदृशा अङ्गुलिगण्याश्च वन्दितास्तेते।।१७।।

तन्त्रस्य वाङ्मयं तत् सुविशालं भारते देशे।
सर्वेषां शास्त्राणां मुख्यतमं वा विलोक्यते निखिलम्।।१८।।

आधुनिके विज्ञाने यन्त्राणां या स्थितिर्जाता।
पूर्वस्मिन्नथ काले सा स्थितिरासीत्तु तन्त्राणाम्।।१९।।

वैज्ञानिकसिद्धान्ता यन्त्राऽभावे तथाविधा न स्युः।
लोक-प्रसाधनार्थं यथाऽद्य ते सम्प्रजायन्ते।।२०।।

दर्शन-सिद्धान्तानामेषां सैव स्थितिर्जाता।
तन्त्रेणैव च ते ते सिद्धान्ता जीवने याताः।।२१।।

सर्वेषां तु मतानां सिद्धान्तानां च तन्त्रमयी।
पद्धतिरप्यत्राऽस्ते तस्मान्नाना विधानि तन्त्राणि।।२२।।

वैदिक-मन्त्राऽऽधारित-सिद्धान्तानां स्फुटीकारे।
यज्ञाऽनुष्ठानानां तन्त्रत्वं स्पष्टमेवाऽसीत्।।२३।।

दर्शन-सिद्धान्तानां व्यवहारे योजनायैव।
योग-रूप-सत्तन्त्रं पतञ्जलि-प्रोक्तमायातम्।।२४।।

तर्काः सर्वे तावसिद्धान्तानां तु पूर्वरूपाणि।
उत्तररूपं तन्त्रं सर्वत्रोद्घोषितं जातम्।।२५।।

विद्या चतुर्विधैस्तु प्रकारजातैः समुपयुक्ता।
प्रथमं प्रवचन-कालश्चोत्तरमभ्यासकालोऽयम्।।२६।।

अभ्यासमेव तन्त्रं नानाविधताऽपि तत्राऽस्ते।
तेनैव तत्स्वरूपं विपुलं संजायते नाम।।२७।।

विज्ञानं पश्यन्तस्तत्र च यन्त्राणि पश्यन्तः।
जानीमस्तन्त्राणां विपुलत्वं प्रक्रियोद्योगे।।२८।।

पूर्वमेव सन्दर्शितविधया यन्त्राणि यदि न स्युः।
विज्ञानं नामेदं विषयत्वेनैककोणे स्यात्।।२९।।

यन्त्राण्येवैतान्यथ विशाल-कायानि संस्थाप्य।
लक्षकोटिवस्तूनामुपकारैः साधितो मार्गः।।३०।।

तन्त्रे तथा च यन्त्रे भेदोऽयं कल्पनीयः स्यात्।
वैयक्तिकं तु तन्त्रं यन्त्रं सामाजिकं जातम्।।३१।।

साधक-व्यक्ति-विशेषे तन्त्रं तां तां विशेषतां कुरुते।
तन्त्राणां फलमेतत्समाज- मध्ये समायाति।।३२।।

तन्त्रे गोपनमास्ते सार्वजनीनं न रमणीयम्।
तद्वै तन्त्रं यत्र तु रहस्य-मयता परिस्फुरति।।३३।।

अत एव तद् रहस्यं कथितं सर्वासु विद्यासु।
सोऽयं रहस्यवादस्तन्त्राणां मुख्यरूपं स्यात्।।३४।।

गुरुप्रवर-संरक्षा सततं संसाधिता तन्त्रे।
पदे पदे ते गुरवः क्रियासु रक्षन्ति शिष्यं स्वम्।।३५।।

आयुर्वेद-विधाने धनुषां विद्याप्रदानेषु।
तन्त्राणां बाहुल्यं गुर्वायत्तं सदैवाऽसीत्।।३६।।

यन्त्रोद्दीपित-विश्वे परमाणवस्त्रादितन्त्रशालासु।
वैज्ञानिकगुरुवर्याः क्षणशः क्षणशो विलोकयन्तः स्युः।।३७।।

तन्त्रस्यापरिपूर्णं ज्ञानं युद्धे गृहीत्वाऽपि।
अभिमन्युः संयातो मृत्युं प्राप्तो विलोकनीयः स्यात्।।३८।।

गुरुं क्रोधितं कृत्वा कर्णः कीदृग्दशां यातः।
तन्त्रे गुरुप्रसादो मुख्यतमं रूपमाधत्ते।।३९।।

अक्षर-मात्र-ज्ञाने नतमां तन्त्रस्य संस्फुरणम्।
क्रिया-कलापे तेषां फलितं रूपं विजानन्ति।।४०।।

यद्यपि तु तन्त्रशब्दो विद्यासामान्यसुप्रयुक्तोऽयम्।
पुनरपि काश्मीरेषु प्रकामभूयस्त्वमायातः।।४१।।

अभिनवगुप्ताचार्यः काश्मीरीयोऽपि विश्ववन्द्योऽसौ।
भारतीय-विद्यानां मूर्ते रूपे प्रकाशितो जातः।।४२।।

तन्त्रालोकं ग्रन्थं तन्त्ररहस्यं च विरचय्य।
श्रीमानभिनवगुप्ताचार्यः सर्वं प्रकाशयाञ्चक्रे।।४३।।

काचन-संज्ञा जाता काश्मीरे प्रत्यभिज्ञेति।
दर्शन-सन्देशानां प्रविस्तृताभूरियं-जाता।।४४।।

शैवाऽख्य-दर्शनं तत् काश्मीरेषु प्रभावमातेने।
तत्रैवागम-तन्त्रं सुविस्तृतं ख्यातमेवाऽस्ते।।४५।।

प्रत्येकस्यां दर्शन-सरणौ सेयं तन्त्रात्मिका धारा।
प्रायोगिक-स्वरूपे नूनं नित्यं प्रकाशमाधत्ते।।४६।।

आगम-निगम-विभेदैराराधित-सत्क्रियायोगैः।
वैदिकधारा-सर्वाऽप्यथ सा पारंपरिकधारा।।४७।।

शिव-मुख-कमलाद्या वै विनिःसृता पार्वतीहृदये।
संयाता ज्ञानस्य तु सा धाराऽऽगममयी प्रोक्ता।।४८।।

विपुल-तरं साहित्यं तत्रोभय-धारया प्रथितम्।
लुप्तं सुप्तं पुनरपि यल्लब्धं तद्विपुलमेव।।४९।।

तन्त्रे क्रिया-प्रधाना सन्दृश्या कापि परिपाटी।
शब्द-प्रधानतायां निगमा एवाऽत्र निर्णीताः।।५०।।

वाराणस्यामस्यामद्यात्वे तन्त्राशास्त्रस्य।
निष्णाता विद्वांसो द्वित्रा एवाथ राजन्ते।।५१।।

परमहंस-मिश्रास्ते व्रजवल्लभसद्द्विवेदिनो धन्याः।
बङ्गीया विद्वांसः सततं ते तेऽपि संध्येयाः।।५२।।

महामहोपाध्यायो गोपीनाथः कवीराजः।
चरमो विद्वान् काश्यां संजातो यः स्वयं दीप्तः।।५३।।

तदनन्तरं च रामेश्वरझा नामा महाभागः।
तन्त्राशास्त्र-निष्णातो मूर्तिर्वा तन्त्रविद्यायाः।।५४।।

सर्वाऽराधित-कायोऽनन्तश्रीभिर्विभूषितः काश्याम्।
श्रीकरपात्रस्वामी सञ्जातस्तन्त्रामूर्धन्यः।।५५।।

महामहोपाध्यायो गिरिधरशर्माचतुर्वेदः।
तन्त्राऽगममर्मज्ञो व्याख्यानेषु प्रकामसन्दीप्तः।।५६।।

पुनरपि वाराणस्यां प्रायोगिकरूपमास्थाय।
गणनायोग्या अपि ते विद्वांसो वा सुदुर्लभा एवा।।५७।।

मध्यप्रदेशसंस्थे दतियानगरेऽथ स्वामिसच्चरणाः।
राष्ट्रगुरुरित्युपाधिं नाम्ना संधारयामासुः।।५८।।

तन्त्राणां यद् रूपं निखिलं ते वै प्रसन्नाऽस्याः।
दतियानगरे स्थित्वा नूनं संसाधयामासुः।।५९।।

पीताम्बराऽख्य-पीठं दिव्यं कंचित्समास्थाप्य।
तन्त्राणां प्रायोगिकरूपं साक्षात्कृतं तैर्हि।।६०।।

वैदेशिकी च विदुषी महिला काचन समागत्य।
तेषां सविधे दीक्षां समीक्षितामादधाति स्म।।६१।।

सा पृष्टा कथितवती वाराणस्यां तु विद्वांसः।
ग्रन्थानां पाण्डित्यं नूनं सन्धारयन्त्याहो।।६२।।

किन्तु प्रयोग-योगैस्सहसा विज्ञान-धारेयम्।
राष्ट्रगुरूणां सविधेऽद्यत्वे केवलमिहाऽध्येया।।६३।।

तन्त्राऽगम-संस्कारैः संस्कृतमेतच्छरीरं हि।
दिव्या प्रयोग-शाला सर्वां संसिद्धिमानयति।।६४।।

काऽपि दुर्दशा जाता सर्वेषामुच्चभावानाम्।
निम्नीकरणं जातं तमोगुणेन स्वयं लिप्तम्।।६५।।

तान्त्रिक इति संज्ञेयं तथाविधैवाऽद्यतनकाले।
संजाता या किञ्चित् कुत्सितभावं समानयति।।६६।।

येऽभिचार-संयोगे-याज्ञे कालेऽथ प्रत्यवायानाम्।
उपशमनायादिष्टाऽस्ते सर्वे साध्यतां याताः।।६७।।

मारण-मोहन-कर्मण्युच्चाटनमार्गगामित्वे।
तान्त्रिकेति संज्ञेयं प्रथिताऽद्यत्वे निखिले देशे।।६८।।

मद्य-प्रयोग-योगा मांसादीनामबाध-संचाराः।
तान्त्रिक-लोके नितरां समदृताः सन्ति विख्याताः।।६९।।

मध्यकालसंचारे तान्त्रिक-पद्धतिरियं दिव्या।
तामसिकरूपतायामासादितवत्यखिलसंचारम्।।७०।।

तेजोहानिरियं सा संजाता निखिल-देशस्य।
येन ख्यातिं याता दिव्या विद्याऽपि लुप्ताऽभूता।।७१।।

तन्त्र-संज्ञया यद्यपि नाना शास्त्राणि कथितानि।
सर्वतन्त्र-निष्णातोपाधिर्विदुषां सुविख्यातः।।७२।।

निष्णाता विद्वांसो ये शास्त्रेषु प्रगल्भतां याताः।
तन्त्रास्वतन्त्राताऽऽसीत्तेषां सदुपाधिसंयुक्ता।।७३।।

विस्तारार्थे सोऽयं तनुधातुस्तन्त्रशब्देऽस्मिन्।
मूलं रूपं धत्ते विस्तारेषु प्रदीप्तोऽभूत्।।७४।।

विस्तारेष्वपि या सा रक्षणसापेक्षिता शक्तिः।
त्राणे कर्मणि तन्त्रे शब्दे सोऽप्युत्तरो भागः।।७५।।

त्राणे शब्दाः केवलमेते ज्ञानं प्रदाय चात्मीयम्।
नैव समर्था अग्रे तस्माद् गुरुरत्र रक्षको जातः।।७६।।

तन्त्रे वा गुरुरूपे साक्षात्परमेश्वरस्य सद्रूपम्।
दिव्य-शरीरं धृत्वा शिष्य-त्राणाय-संयाति।।७७।।

तस्माद् गुरुरेष महान् तन्त्रे सर्वोच्चसंस्थानम्।
स्वयमेव सुप्रगल्भं रूपं धृत्वा समीक्षयति।।७८।।

दीक्षादाने पूर्वं गुरुः समक्षे स्थितो भूत्वा।
शिष्यस्य रक्षणार्थं स्वात्मीयां संस्थितिं लभते।।७९।।

निस्सीम-वैभावानां स्वामिन एते च सद्गुरवः।
अणुतमरूपं शब्दे मन्त्रे वा सम्प्रयच्छन्ति।।८०।।

गुरूपदिष्ट-मन्त्राणां पुरश्चरणसाधने लग्नाः।
शिष्यगणा मन्त्राक्षरसंजागरणे कृताऽयासाः।।८१।।

पूर्वं तावन्निजमिदमखिलं कायं विशोधयित्वा ते।
निखिलं निजमलजातं बहिः प्रकुर्युः प्रकर्षणे सिद्धाः।।८२।।

निर्मलभावं स्वीयं संसाध्यैवं समाधिपर्यन्तम्।
यात्रायां निखिलायां गुरुं समानं निषेवन्ते।।८३।।

अस्या एव सरण्या वेदे यज्ञेषु संचाराः।
ज्ञाने तेषां जाता योगाख्या दिव्य-संज्ञेयम्।।८४।।

ये चाऽगमाः समस्तास्तेषां या प्रक्रियाधारा।
सा तन्त्रनाम धृत्वा ख्यातिं परमां गता नित्यम्।।८५।।

तन्त्रे निष्णातानां निखिलं करतलाऽमलकभूतम्।
भूतं भवद् भविष्यत् कालो वा कालजातं वा।।८६।।

ऋषयो मुनयः सिद्धाः स्वामिन एते च तांत्रिका वाऽपि।
देशिकाऽदि संज्ञाभिर्नानाशब्दैः प्रपूज्यन्ते।।८७।।

तन्त्राणामेतेषां शब्दावल्यप्यनन्तैव।
परिभाषा-परिवेशे ते ते शब्दाः समकलिताः।।८८।।

व्याकरण-मात्र-शरणानां गतिरत्राऽस्ति कुंठिता काले।
योगे धातु-प्रत्यय-मात्रेणायं न भाव्यते मार्गः।।८९।।

परिभाषा तत्रत्या शब्दे शब्दे परिस्फुरिता।
तां विशदयितुं त्वेते नाना सद्ग्रन्थविस्ताराः।।९०।।

वेदाऽधारोपासन-पद्धत्यां पञ्चदेवानाम्।
शिव-विष्णु-शक्ति-गणपति-सूर्योपासनमिहाध्यातम्।।९१।।

तेनैव तन्त्रवाङ्मयमपि पञ्चसु तेषु रूपेषु।
विस्तीर्णं निर्णीतं तत्रैकैकस्य विस्तृतिः प्रथिता।।९२।।

इतोऽभ्यधिकजैनानां बौद्धानां सिक्खपद्धतीनां च।
यीशोर्मुहम्मदीया अपि तन्त्रे पद्धतिः सर्वा।।९३।।

गोरक्षनाथनिर्मितनाथानां तन्त्रपद्धतिर्दिव्या।
भास्कररायप्रथिता विस्तारे पद्धतिः सर्वा।।९४।।

अमृतवाग्भवाऽचार्यः काश्मीरीयां तु पद्धतिं निखिलाम्।
श्रीमान् बलजिन्नाथः प्रवर्तति तत्र तच्छिष्यः।।९५।।

अन्येषामथदेवानां तेषां तन्त्रपद्धतयः।
तत्तद्देश-विशेष-प्रथिता तत्र प्रयोगयोग्याः स्युः।।९६।।

इत्थं निखिलं विश्वं तन्त्राणां परिकरे लग्नम्।
वैज्ञानिक-मूर्धन्यैरपि कथिता पद्धतिः स्वीया।।९७।।

न केवलं ये चास्तिकतायां सम्पूर्णविश्वस्ताः।
नास्तिकविचारपद्धतिरपि तन्त्रे निखिलमानार्हा।।९८।।

अत्र तु काचिन्नवताव्याख्यानेषु प्रगल्भिता विद्भिः।
एकस्मिन्नस्मिन्नथ सद्ग्रन्थे साधु संसेव्या।।९९।।

श्रीमन्तस्ते व्यासाः सूर्यवदिवोद्यत्प्रकाशसंवलिताः।
अन्वर्थ-नामधेया दिव्ये कार्येऽथ धन्यवादार्हाः।।१००।।

❖❖

आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी ग्रन्थमाला

१२८, बालाजी कॉलोनी, लंका, वाराणसी - २२१ ००५ (उ.प्र.)
दूरभाष : ०५४२-२३६६०६६

१.	कालिदास के काव्य में सादृश्येतर अलंकार लेखक : डॉ० विष्णुराम नागर, सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	१५०.००
२.	तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड लेखिका : डॉ० बीना अग्रवाल, सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	३००.००
३.	सांख्य एवं काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि लेखक : डॉ० विजयशंकर द्विवेदी, सम्पादक : डॉ० कृष्णकान्त शर्मा	१७५.००
४.	उन्मीलनम् (पं. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते अभिनन्दन ग्रन्थ) सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	५००.००
५.	बौद्धाचार्य वसुबन्धु लेखक : डॉ० मुनिराम तिवारी, सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	२००.००
६.	मेदपाट-मण्डन पं. गिरिधरलाल शास्त्री लेखक : डॉ० यशवन्त कुमार जोशी, सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	४००.००
७.	दर्शन-कणिका डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	१५०.००
८.	बौद्ध सुभाषित डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	२५०.००
९.	बौद्ध शैक्षिक मूल्य लेखिका : डॉ० मीना शर्मा, सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	१५०.००
१०.	वेदान्त में बौद्ध सन्दर्भ लेखिका : डॉ० अनामिका सिंह, सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	४००.००
११.	अभ्युदय (लाल राजेन्द्र बहादुर सिंह अभिनन्दन ग्रन्थ) सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	४००.००
१२.	बौद्धाचार्यवसुबन्धुप्रणीते पञ्चस्कन्धप्रकरणं त्रिस्वभावनिर्देशश्च अनुवादिका : डॉ० अनामिका सिंह, सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास	१००.००
१३.	तन्त्र-विमर्श (प्रथम खण्ड) सम्पादक : डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास	४००.००
१४.	दर्शन-मञ्जूषा लेखिका : डॉ. अनामिका सिंह, सम्पादक : डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास	२०.०००
१५.	तन्त्र-विमर्श (द्वितीय खण्ड) सम्पादक : डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास	--